पुराणों में जैन धर्म

- साध्वी डॉ. चरणप्रभा

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
चन्दा-मीना व्यवस्थापिका समिति, तांदली

है, उससे किस प्रकार पौराणिक मान्यताएं भी मेल खाती हैं, अपरिग्रह, सत्य, तप, दान आदि सामान्य आचारों की मान्यताएँ किस प्रकार दोनों में समान हैं (यह सामान्य आचार वाले अध्याय में बतलाया गया है), श्रमणों में श्रावकों और संन्यासियों के जो विशिष्ट आचार वर्णित हैं, उसी प्रकार के आचार पुराणों में भी गृहस्थों, योगियों, संन्यासियों आदि के लिए किस रूप में पाए जाते हैं, (यह विशेष आचार वाले अध्याय में बताया गया है), पुराणों का भुवनकोश और जैन भुवनकोश किस प्रकार समान है, ईश्वर की अवधारणा दोनों धाराओं में किस-किस रूप में रही है और किस प्रकार उनमें समान सूत्र खोजे जा सके हैं — यह सब विभिन्न अध्यायों में सप्रमाण और सुबोध शैली में विवेचत है।

– पुरोवाक् से

प्रधान सम्पादक
साहित्य वाचस्पति म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प
१३६

पुराणों में जैनधर्म

(जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा
पी एच. डी. के लिए स्वीकृत शोध ग्रन्थ)

अनुसंधानकर्त्री
डॉ. चरणप्रभा साध्वी
एम.ए. (संस्कृत), शास्त्री (जैनदर्शन)

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
चन्दा-मीना व्यवस्थापिका समिति, तांदली

प्रकाशक :
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर
जयपुर-३०२०१७ (राज.)
दूरभाष-५२४८२७, ५२४८२८

चंदा-मीना व्यवस्थापिका समिति, तांदली
द्वारा जैन साड़ी सेन्टर, मेन रोड़, पौ. वाडेगांव
जिला-अकोला (महाराष्ट्र) दूरभाष : ०७२५७-२७१२३, २७१८५

प्रथम संस्करण : २०००

मूल्य : २५०.०० रुपये

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

लेजरटाईपसेटिंग :
कम्प्यू प्रिण्ट्स
जयपुर-३०२००३
दूरभाष: ३२३४९६

मुद्रक :
मरु प्रिन्ट-ओ-ग्राफिक्स,
सुभाष चौक, जयपुर
दूरभाष: ६३५८३६

PURANON MEIN JAIN DHARMA

by

Dr. Charan Prabha Sadhvi

First Edition, 2000

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति समन्वय की वह उर्वरा भूमि है, जहाँ कोई भी विचारधारा अपना बीज बो सकती है, वह नष्ट नहीं होगा, अवश्य पल्लवित होगा, किन्तु वृक्ष, पत्ते, फूल और फल का जो रूप होगा वह अनूठा होगा। वह अपनी स्वतन्त्र इयत्ता बनाये रखने पर भी अन्य विचार–धाराओं से इतना कुछ लेन–देन कर चुका होगा कि उसमें सभी की छाया झलकेगी। साथ ही उसकी छाया भी सभी विचारधाराओं में झलकने लगेगी।

समन्वय और सह–अस्तित्व की यह धारा संभवतः अनादिकाल से चली आ रही है। जैसा कि प्रकृति का नियम है–प्रत्येक वस्तु विकास–ह्रास की निरन्तर प्रवाहमय शृंखला में डूबती उतराती है। हमारी संस्कृति ने भी अंधकार और निराशा के ऐसे कालखण्ड देखे हैं जहाँ परस्पर विरोध, वितण्डा, संघर्ष आदि हुए हैं और पतन भी। पर हर बार अन्ततः समन्वय और सहनशीलता कंचन बन निखरे हैं।

आज भी हम एक संक्रमण युग में जी रहे हैं। सांस्कृतिक व सामाजिक उथल–पुथल, विरोध–संघर्ष आदि दैनन्दिन बातें हो गई हैं, किन्तु फिर भी किन्हीं वातायनों में समन्वय की समीर बह रही है। इस विश्वास के साथ कि यह संघर्ष भी क्षण स्थायी है। इस प्रदूषण को सहअस्तित्व और सहनशीलता की बयार धीरे–धीरे बहा ले जाएगी।

समन्वय की इस पताका को उठाये रखने वालों में वे लोग भी हैं जो भारतीय संस्कृति के उन अंगों पर शोधरत हैं, जहाँ समन्वय के साक्ष्य जुटाये जा सकते हैं और नई पीढ़ी को उस प्रक्रिया से अवगत कराया जा सकता है, जो बौद्धिक और आध्यात्मिक आदान–प्रदान के द्वारा सामाजिक शान्ति की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती है।

इसी विद्या का शोध प्रबन्ध **डॉ. साध्वी चरणप्रभाश्रीजी** का **पुराणों में जैन धर्म**। इसका महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि लेखिका कोई विश्वविद्यालयी तथाकथित तटस्थ विद्वान नहीं है अपितु एक सम्प्रदाय विशेष में साधनारत विद्वान है। ऐसा होने पर भी उन्होंने साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त हो विशुद्ध ऐतिहासिक व पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर दो स्वतन्त्र

किन्तु सहयोगी संस्कृतियों में समन्वय के पक्ष को उजागर करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

साध्वी चरणप्रभाजी स्थानकवासी आम्नाय के आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी म.सा. की परम्परा की विदुषी साध्वीरत्न श्री शीलप्रभाश्रीजी म.सा. की शिष्या हैं। आपकी शोधपरक दृष्टि व अध्ययन में रुचि देखते हुए लगता है कि भविष्य में इसी प्रकार की अन्य योजनाएं भी हाथ में लेंगी। यह एक सुखद बात है कि जैन समाज का साध्वी वर्ग अध्ययन व शोध कार्यों में पिछले दशक से विशेष रुचि ले रहा हैं

प्राकृत भारती की शोध प्रबन्धों के प्रकाशन क्रम की एक और कड़ी के रूप में यह प्रेरणास्पद शोध प्रबन्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। पुस्तक के दस अध्यायों में लेखिका ने भारत की दो प्राचीनतम स्वतन्त्र विचारधाराओं–सनातन तथा जैन–के सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक व आध्यात्मिक सभी पहलुओं को समेटा है। सामान्य पाठक के लिए जहाँ यह रोचक सामग्री सिद्ध होगी, वहीं शोधार्थियों के लिए प्रेरणादायक तथा संदर्भ की दृष्टि से बहुउपयोगी।

देवर्षि कलानाथजी शास्त्री, जो भाषा व संस्कृति के मूर्धन्य विद्वान हैं, ने पुस्तक की विषय वस्तु व भावना के अनुरूप विद्वत्तापूर्ण तथा प्रेरणादायक भूमिका लिखी है जो आज के कुंठाग्रस्त एवं संकीर्ण वातावरण को उद्वेलित कर उदारता का मार्ग प्रशस्त करती है। प्राकृत भारती दोनों विद्वज्जनों के प्रति आभार प्रकट करती है। साध्वीजी की प्रेरणा से चन्दा–मीना व्यवस्थापिका समिति, तांदली (महाराष्ट्र) ने संयुक्त प्रकाशक के रूप में जो सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए भी हम उनका आभार प्रकट करते हैं।

हमें आशा है कि यह पुस्तक सामान्य पाठक तथा मनीषीगण समान रूप से सराहेंगे।

महोपाध्याय विनयसागर
निदेशक
प्राकृत भारती अकादमी

प्राक्कथन

व्यक्ति के पुरुषार्थ का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन परम आवश्यक है। मनुष्य एक प्रज्ञासम्पन्न प्राणी है। प्रज्ञा के विकसिततम रूप को वह अपने अन्दर जागृत कर सकता है। प्रज्ञा के आलोक में ही यथार्थ का दर्शन सम्भव है।

जैसे दर्शन प्रज्ञा पर निर्भर है वैसे ही धर्म श्रद्धा/आस्था पर निर्भर है। वर्तमान में दार्शनिक तथा धार्मिक परिवेश के विभिन्न आयाम दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें पर्याप्त भिन्नताएँ हैं; परन्तु उन भिन्न एवं परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों वाले दर्शनों में अथवा धर्मों में साम्य किस प्रकार से उपलब्ध होता है—इसका प्रस्तुत विषय **"पुराणों में जैनधर्म"** भी एक उदाहरण बन सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैं जो इस अध्ययन के योग्य हुई, उसका सारा श्रेय मेरे परम आराध्य पूज्य गुरुदेव स्व. आचार्यप्रवर श्री लालचन्द्रजी म.सा. के आशीर्वाद एवं प्रेरणा तथा स्व. पण्डित मुनि श्री नूतनचन्द्रजी म.सा. के प्रयास को ही जाता है। उन्हीं के आदेशों एवं निर्देशों से प्रारम्भिक काल से ही अध्ययन की नींव मजबूत हो सकी। अतः मैं उनकी अविद्यमान अवस्था में उनके उपकारों एवं गुणों के प्रति नतमस्तक हूँ।

मेरे संसारपक्ष के पिता एवं वर्तमान में पूज्य श्री ऋषभचरण मुनिजी म.सा. तथा संसारपक्ष की माता एवं वर्तमान में गुरुवर्या महासतीजी श्री शीलप्रभाजी म.सा. के प्रतिसमय मिलने वाले परम वात्सल्यमय आशीर्वाद तथा प्रेरणा के प्रति मैं हृदय से नतमस्तक एवं कृतकृत्य हूँ।

मेरी दोनों अनुजा साध्वियों चन्दनप्रभा तथा नियमप्रभा का सस्नेह सहयोग भी मैं इस अवसर पर नहीं भूल सकती, क्योंकि उनके कारण ही सुविधाओं की प्राप्ति हो सकी।

मेरे शोध निर्देशक डॉ. शिवनारायण जोशी का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ? उनके सुसंस्कृत व परिष्कृत दृष्टिकोण एवं स्नेहपूर्ण तथा निःस्पृह मार्गदर्शन में ही कार्य सम्पन्नता को प्राप्त हुआ है।

सत्प्रवृत्तियों में सहयोग देने वाले मलकापुर निवासी श्रीमान् कन्हैयालालजी श्रीश्रीमाल एवं वाडेगाँव निवासी श्रीमान् किशोरचन्द्रजी बोथरा का भी इस शोधकार्य के टंकण आदि कार्य में विशेष सहयोग रहा।

मेरे हस्तलेखन की अव्यवस्था के बावजूद श्री प्रेमसा अग्रवाल ने बड़े मनोयोग से इस प्रबन्ध का टंकण कार्य सम्पन्न किया है।

अन्त में मैं उन सभी व्यक्तियों की हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य को सम्पन्न कराने में सहयोग दिया एवं मेरे आत्मबल की अभिवृद्धि करने में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

—चरणप्रभा साध्वी

विषयानुक्रमणिका

क्रम	अध्याय	पृष्ठ संख्या
	विषय प्रवेश	१-६
१.	जैनधर्म का इतिहास	१०-३६
२.	पुराण-परिचय	३७-५३
३.	द्रव्य-विचार	५४-६५
४.	आत्मतत्व-चिंतन	६६-८५
५.	कर्मवाद	८६-११७
६.	आचार सिद्धान्त : सामान्य आचार	११८-१८०
७.	आचार सिद्धान्त : विशेष आचार	१८१-२१६
८.	जगत्-विचार	२२०-२४५
६.	ईश्वर की अवधारणा	२४६-२६४
१०.	उपसंहार	२६५-२७४
	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	२७५-२८५

पुरोवाक्

भारतीय पुराण वाङ्मय में जैन धर्म के मूल्य, आचार, सांस्कृतिक इतिहास और मान्यताएँ किस प्रकार प्रतिफलित देखे जा सकते हैं, इसका शोधात्मक और विशद अध्ययन प्रस्तुत करने वाला डॉ. चरणप्रभा साध्वी जी का शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है, यह बहुत हर्षप्रद है। सनातन संस्कृति और श्रमण संस्कृति के पारस्परिक प्रभावों, प्रत्यक्ष या परोक्ष अन्तः क्रियाओं आदि के अध्ययन के साथ-साथ इनके मूल्यों पर समन्वयात्मक दृष्टिपात करने की जो सत्प्रवृत्ति पिछले कुछ दशकों से पनपी है यह मेरे विनीत मत में स्वागत योग्य है। यह वदान्य शोध दृष्टि निष्पक्ष और तथ्यहितैषी अध्ययनों के लिए अनिवार्य है। दुर्भाग्य से हमने अनेक शताब्दियाँ ऐसी देखी हैं जिनमें "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" की मान्यता को इतने कट्टर निर्वचन के साथ लागू किया गया कि इस देश के विभिन्न पन्थों के विद्वान एक-दूसरे के पक्ष का खंडन करने तथा एक-दूसरे को नीचा दिखाने में अपनी समस्त बहुमूल्य प्रतिभा, विपुल ऊर्जा तथा प्रभूत श्रम को झोंकने में ही वैदुष्य की चरम परिणति समझते थे। इस प्रकार के खंडन-मंडनों में बहुधा तथ्यान्वेषी दृष्टि ओझल हो जाती थी, पारस्परिक राग-द्वेषों का ही ताण्डव होता रहता था। इससे जो अन्य दुष्परिणाम, कलह, रक्तपातादि होते थे वे अलग। न केवल वैदिक और श्रमण धाराओं के विद्वानों की बहुधा यह दृष्टि बनी, बल्कि शैवों और वैष्णवों की, सनातनियों और आर्य-समाजियों की पारस्परिक झड़पें, शास्त्रार्थों के दृश्य कई बार व्यक्तिगत आक्षेपों तक में परिणत हो जाते थे, यह पिछली पीढ़ी ने खेदपूर्वक देखा ही था।

पिछले कुछ वर्षों से यह एहसास पनपा है कि इसी एक धरती पर सहस्राब्दियों से सहअस्तित्व में रही इन दो धाराओं में क्या इतने युगों से कभी पारस्परिक समन्वय नहीं हुआ होगा? एक-दूसरे का पारस्परिक प्रभाव, अन्योन्य-संप्रेषणात्मक संवाद—कभी तो हुए होंगे? यदि हाँ तो उनका स्वरूप क्या है? इस मानवीय महासागर को

जिसकी कवीन्द्र रवीन्द्र ने बड़ी ही रोमाँचक और महनीय शैली में अभिवन्दना की है—"हेथाय आर्य, हेथा अनार्य हेथाय द्राविड चीन—शक हुन दल पाठान मोगल एक देहे हलो लीन" इस प्रकार की सांस्कृतिक सरिताओं को, जो समय-समय पर आकर इसमें मिलती रही हैं, आत्मसात् करते कितनी सहस्राब्दियाँ बीत गई हैं, कौन जानता है ?

हमारा सांस्कृतिक इतिहास—

भारत की चिरंतन संस्कृति सहस्राब्दियों से एक अजस्र और अविच्छिन्न किन्तु वैविध्यपूर्ण एवं संमिश्र महाधारा के रूप में इस देश में प्रवाहित हो रही है। इसका धर्म, दर्शन, साहित्य तथा अन्य ज्ञान शाखाओं का वाङ्मय अनन्त है और इसका इतिहास भी विराट् एवं अपरिमेय है। इस विराट समुद्र की थाह पाने का प्रयत्न समय-समय पर मनीषी करते रहते हैं। आज के जिज्ञासुओं को भारतीय संस्कृति का इतिहास बतलाने के लिए जितने प्रयत्न हुए हैं, उन्हें प्रारंभिक प्रयास कहना ही उचित होगा। उनके फलस्वरूप हमारी सांस्कृतिक धारा का एक सामान्य आकलन पिछली सदी से अवश्य सामने आया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस दिशा में बहुत श्रम किया है। उन्हीं की सरणि पर चलते हुए आज हम छात्रों को पढ़ाते हैं कि किस प्रकार इस भू-भाग में ईसा से कुछ हजार वर्ष पूर्व सिंधु घाटी की सभ्यता पनपी, किस प्रकार उनकी नगर-संस्कृति बहुत विकसित थी, किस प्रकार आर्य भारत आए और उन्होंने कृषि प्रधान संस्कृति का प्रारम्भ किया, वैदिक कर्मकांड के साथ-साथ किस प्रकार उपनिषदों का दर्शन विकसित हुआ और किस प्रकार वैदिक कर्मकांड की रूढ़िवादिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप जैन और बौद्ध दर्शनों का उदय हुआ। किस प्रकार शैव, वैष्णव, शाक्त आदि आचार पनपे और किस प्रकार वेदांत की विभिन्न शाखाओं का चिन्तन प्रारम्भ हुआ। किस प्रकार शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि की दर्शन शाखाएँ और उनके साथ भक्ति मार्ग की धाराएँ फूट निकलीं। धार्मिक जड़वाद के विरोध में किस प्रकार कबीर, नानक आदि संतों ने आत्मा और परमात्मा का तात्विक चिन्तन फैलाया। किस प्रकार विवेकानन्द, दयानन्द आदि ने भी इसी सांस्कृतिक परंपरा को नये स्वर दिये और किस प्रकार उसमें भारतीयता की भावना आ जुड़ी। इस इतिहास के ताने-बाने का गहन विश्लेषण पूरा नहीं हुआ है।

इस सांस्कृतिक इतिहास की निरन्तर प्रवहमान धारा में जो विभिन्न अन्तर्धाराएँ हैं, उन सबका अपना विशिष्ट महत्त्व है और उनका हमारी समूची सांस्कृतिक निधि के निर्माण में जो योगदान रहा है वह अत्यन्त बहुमूल्य है। आज हम इन संस्कृतियों

को वैदिक संस्कृति, श्रमण संस्कृति, संत संस्कृति, भक्ति मार्ग, निर्गुण या सगुण संत परंपरा, सनातन या वर्णाश्रम धर्म, वैष्णव भावना आदि अभिधान देकर समझाने के लिए उसकी पहचान अलग से बतलाते हैं किन्तु हैं वे एक ही धारा के अंग। उन्हें चाहे हिन्दुत्व के विभिन्न आयाम कह दें या भारतीय संस्कृति के पड़ाव कह दें, उन्हें धर्म या दर्शन की दृष्टि से आस्तिक, नास्तिक, सगुण, निर्गुण, जैन, बौद्ध, सनातनी, आर्य समाजी, सूफी, साधु-संन्यासी, फकीर, संत या लोक देवताओं द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय कह दें, सभी इस धरती की देन हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी पूर्वापरता कुछ भी रही हो हमारे यहाँ के मनीषी, शास्त्रकारों और पुराणवक्ता इतिहासकारों का सदा यह प्रयत्न रहा कि इन सबको एक ही उपवन के विभिन्न वृक्षों के रूप में महकते दिखाया जाये। इस प्रकार एक तो यह धारा चली कि इस धरती पर पैदा हुए विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को तथा विभिन्न महापुरुषों और युगप्रवर्तकों को समान रूप से श्रद्धा भाजन मानते हुए उन्हें एक सूत्र में पिरो कर इतिहास की थाती बना दिया जाये। इसी धारा के कुछ उदाहरण इस बात से समझे जा सकते हैं कि वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अपना पृथक् धर्म-प्रवर्तन करने वाले बुद्ध को भी पुराणकारों ने विष्णु के दस अवतारों में स्थान देकर एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोया। जयदेव ने लिखा **निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्** अर्थात् यज्ञ के निन्दक के रूप में बुद्ध की पहचान की किन्तु उन्हें विष्णु का अवतार बतलाकर पूज्य मान लिया। बुद्ध को दशावतारों में एक मानने से ही पुराणकार संतुष्ट नहीं हुए, श्रीमद्भागवत में जैनों के आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को भी अपना बनाने की दृष्टि से अपनी ओर से चौबीस अवतारों में मानकर उन्हें वंदनीय और युगप्रवर्तक बताया गया। जिन्हें घोर नास्तिक दर्शन कहा जाता है उनके चिन्तन को भी महत्त्वपूर्ण दर्शन शाखा माना गया। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या कांड में राम के पास जब भरत मिलने आते हैं और ऋषियों का विचार-विमर्श होता है तो जाबालि ऋषि को घिसे-पिटे कर्मकांड के विरुद्ध कटु शब्दों में रुढ़ियों की आलोचना करते हुए बताया जाता है। उनका समस्त विवेचन पूर्णतः चार्वाक दर्शन का प्रतीक है किन्तु उन्हें अन्य ऋषियों की तरह पूर्ण सम्मान का पात्र माना जाता है। दर्शनों के इतिहास लिखने वाले प्राचीन दार्शनिक भी चार्वाक दर्शन का सम्मान से उल्लेख करते हैं। यही स्थिति जैन और बौद्ध दर्शनों की भी रही है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शन संग्रह में इन्हें सर्वप्रथम स्थान देते हैं।

तुलनात्मक आकलन—इस प्रकार पारस्परिक सम्मान और समन्वय की एक धारा चली तो दूसरी ओर विभेद और विघटन के भी प्रयत्न हुए। संप्रदायों में परस्पर निन्दा और विद्वेष की जो बातें सुनने को मिलती हैं या अपनी सनातन धारा के विरुद्ध बोलने वाले सम्प्रदायों को हेय मानने के प्रयासों के छुटपुट उदाहरण मिलते हैं, वे इसी दूसरी धारा के प्रतीक हैं। **व्रात्य** या **देवानां प्रिय** शब्द को पतित या मूर्ख का पयार्यवाची मानना, '**हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्।**' आदि लिखना उसी धारा के कुछ उदाहरण हैं। यह स्पष्ट है कि हमारी चिरंतन सांस्कृतिक धारा वही समन्वय और पारस्परिक सम्मान वाली धारा रही है, विघटन के प्रयासों को तात्कालिक उग्रवादी प्रयास ही माना जाता रहा है। यही कारण है कि भारतीय इतिहास में प्रत्येक सम्राट और राजा प्रत्येक धर्म और दर्शन शाखाओं के विद्वानों और चिन्तकों को सम्मान देता रहा है। हर धर्म के ऋषि-मुनियों को, यतियों, साधुओं को दान देता रहा है और प्रत्येक दर्शन शाखा को पूर्ण विकास के अवसर देता रहा है। अधिकांशतः इन सभी सांस्कृतिक धाराओं के मनीषियों ने अपने आपको एक ही विशाल सांस्कृतिक सौध के विभिन्न स्तंभों के रूप में देखा है। पार्थक्य या विघटित होने में गौरव नहीं माना, एक महावंश से जुड़े रहना स्वीकार किया। सनातनियों के मत में भी जैनों के प्रायः सभी तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश के राजा रहे (सुव्रत और नेमि को छोड़कर)। वैदिक संस्कृति के इन्द्र आदि देवता, ओंकार आदि अक्षर तथा अन्य सांस्कृतिक प्रतीक इन सभी की मान्यताओं और कथाओं में रचे बसे हैं।

ज्ञातृपुत्र वर्धमान के पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) वही हैं जिन्हें मनु सामासिक धर्म कहते हैं।

ऐसे प्रयत्न तो स्वाभाविक ही है कि कोई शाखा या कोई भाषा अपने विशिष्ट महत्त्व को रेखांकित करने के लिए कभी अपने आपको सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करे और कभी अपने सिद्धान्तों को ही सर्वोत्कृष्ट बताने का। तमिल अथवा पंजाबी भाषा यदि अपने व्याकरण या लिपि को वैदिक या संस्कृति से भी पुरानी सिद्ध करने का प्रयत्न करे या विभिन्न धर्मों अथवा दर्शनों के अनुयायी अपनी शाखा को प्राचीनतम सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो इस ललक को स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति मानकर सम्मान ही देना चाहिए। हमारे यहाँ तो इस प्रकार के शास्त्रार्थों, खंडन-मंडनों और पक्ष-प्रतिपक्षों की अविच्छिन्न परंपरा रही है और सभी सिद्धान्तों

को स्वच्छंद प्रतिपादन का अवसर देने का हमारा यह आदर्श ही हमारी चिरंतनता का रहस्य रहा है।

जैसा ऊपर संकेतित है वैदिक और पौराणिक संस्कृति की भांति जैन और बौद्ध संस्कृति भी हमारी सांस्कृतिक निधि के अत्यन्त मूल्यवान आयाम हैं। न केवल पाश्चात्य विमर्शकों ने बल्कि भारतीय इतिहासकारों ने भी इन दोनों की अलग पहचान के लिए इन्हें श्रमण संस्कृति का नाम दिया था। सनातन संस्कृति (आर्य संस्कृति) और जैन व बौद्ध संस्कृति में विभेद स्पष्ट करने के लिए कहा जाने लगा कि एक आर्ष संस्कृति थी, एक श्रमण संस्कृति। एक ऋषियों की थी, दूसरी मुनियों की। ये दोनों कब-कब, कहाँ-कहाँ पनपी, इस पर भी बहुत लिखा गया है। वैसे तो जैन धर्म को अनादि और अनन्त माना गया है और पारंपरिक मान्यता के अनुसार समय-समय पर जो तीर्थंकर होते रहे हैं, उनका भी क्रम अनादि अनन्त है। अभी तो अवसर्पिणी काल के तीर्थंकर हुए हैं फिर उत्सर्पिणी काल के होंगे। इसी प्रकार बौद्ध धर्म भी अनादि अनन्त परम्परा की मान्यता रखता है किन्तु इतिहास दृष्टि से भी इनके काल निर्धारण का प्रयत्न हुआ है। जिस काल से इनका वाङ्मय उपलब्ध हुआ है, उस काल से इनके विकास का आकलन किया जाना स्वाभाविक है। यह बात अलग है कि वेदों में वातरशन मुनियों के उल्लेख या श्रमण शब्द को लेकर कभी इस संस्कृति को प्राग्वैदिक बताने का प्रयास भी किया जाता है और कभी वैदिक और पौराणिक वाङ्मय में श्रमण संस्कृति के प्रभाव का आकलन किया जाता है। हो सकता है इस तत्त्व-चिन्तन के उत्स बहुत पहले से विद्यमान रहे हों। यह तो निर्विवाद है कि वैदिक और श्रमण दोनों सांस्कृतिक धाराओं का परस्पर समन्वय या आदान-प्रदान अवश्य रहा है। न केवल हमारे दर्शन में बल्कि आचार और परंपराओं में भी इस भाव को सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा खोजा जा सकता है। मैं तो अपने बाल्यकाल से ऐसा अनुभव करता रहा हूँ कि कुछ सनातन परंपराओं में श्रमण परंपराओं का परोक्ष प्रभाव अवश्य रहा होगा। जब-जब पुराणों को पढ़ता था तो यह पाता था कि उन सबमें जिस प्रकार वीणा बजाते नारद जी को देवलोक में और भू लोक में हर जगह कहीं भी प्रकट होने वाला बतलाया जाता है उसी प्रकार चार मुनियों को (सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार) श्वेत वस्त्र पहने सदा पाँच वर्ष के बालक जैसे तथा निर्द्वंद्व बतलाया जाता था, साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाता था कि किसी भी लोक में किसी भी देवता के यहाँ उन्हें कभी नहीं रोका जाता था, वे बेरोकटोक प्रवेश कर सकते थे और सर्वोच्च सम्मान पाते थे। तब यह लगता था कि ये चार मुनि अवश्य ही किसी

अलौकिक और विभिन्न परंपरा के प्रतीक हैं क्योंकि किसी ऋषिवंश से ये जुड़े नहीं पाये गये, अतः इन्हें पुराणों ने ब्रह्मा के मानस पुत्र बताया। आज श्रमण संस्कृति के मूर्धन्य विचारक यदि इन्हें श्रमण परंपरा के प्रतिनिधि मानने लगे हैं तो बात समझ में आती सी लगती है। इसी प्रकार जब भाद्रपद मास में अपने परिवार में अनन्त चतुर्दशी का व्रत विधि विधान से किये जाते देखता था और उसमें वर्णित विष्णु को अनन्त या निर्गुण निराकार वर्णित देखता था तो उससे लगता था कि भाद्रपद मास में जो जैनाचार वैपुल्य के साथ प्रचलित है उन्हीं के अनुरूप वैष्णव आचार में भी एक अनन्त और अक्षय निराकार आराध्य की पूजा की परंपरा स्थापित की गई होगी। इस प्रकार के सांस्कृतिक प्रभावों का आकलन सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को दिशा दे सकता है। क्या इस प्रकार के परस्पर प्रभावों का क्रम पुराण काल में चला या वेदकाल से ही था? ऐसे अध्ययनों की प्रासंगिकता स्पष्ट है। ऐसे आकलन, तत्सम्बन्धी विद्वद्गोष्ठियाँ होने भी लगी हैं किन्तु इन प्रयासों का सातत्य अब वांछनीय है।

वस्तुनिष्ठ अनुसन्धान—

इस सारे विवरण का आशय यही है कि इस महादेश की सामासिक संस्कृति के विराट् फलक के उद्विकास में जिन विभिन्न रंगरेखाओं की भूमिका या सहकार रहा है, उनका अध्ययन बहुत मूल्यवान् भी होगा, रोचक भी। लगता है अपने-अपने धर्मों की गरिमा का उत्कर्ष सिद्ध करने में ही अपने अस्तित्व का औचित्य मानने वाले विभिन्न चिन्तकों ने ऐतिहासिक तथ्यपरकता या बौद्धिक निष्पक्षता या सत्यान्वेषण दृष्टि की सर्वोपरिता पर उतना ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि ऐसे तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुए। जो कुछ हुए, उनमें अपनी मान्यता और अपनी परम्परा के पक्ष में कुछ रुझान (जिसे अंग्रेजी में बायस कहते हैं) या झुकाव सा दिखाई देता था। कुछ को पढ़ने से ऐसा लगने लगा कि वह एक न्यायाधीश की दृष्टि की बजाय एक वकील की दृष्टि से किया गया अनुसन्धान या शोधग्रन्थ है।

जब से विश्वविद्यालयीय, पूर्वाग्रह मुक्त, तथ्यपरक अनुसंधान की सार्थकता बुद्धिजीवियों की समझ में आई, तब से ऐसे तथ्यात्मक और शुद्धतः शोधपरक अध्ययन होने लगे। इसके बावजूद विभिन्न धर्मगुरुओं या सक्रिय धार्मिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा किये गये अनुसन्धानों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा निजी पूर्वाग्रह झलक ही जाता है, ऐसी धारणा भी कुछ विद्वानों की रही। जो अनुसन्धाता किसी धार्मिक मान्यता से वृत्तिक या सक्रिय रूप से नहीं जुड़े हों, उन्हीं के अध्ययन पूर्णतः निष्पक्ष और

पूर्वाग्रहमुक्त होंगे, यह माना जाता रहा। तभी तो विदेशियों के अध्ययनों, शोधलेखों और ग्रन्थों को बहुधा निष्पक्षता के नाम पर तरजीह दी जाती रही।

साध्वी चरणप्रभा जी का यह शोधग्रन्थ विश्वविद्यालय की शोधोपाधि के लिए स्वीकृत है। अतः निश्चित ही इसमें तथ्यपरकता और वस्तुनिष्ठता होगी, यह मानकर चला जा सकता है। हमने ऊपर जो धारणा व्यक्त की है कि विभिन्न चिन्तन धाराओं में परस्पर अन्तःक्रिया (इंटरएक्शन) आदान-प्रदान और प्रभावों का ग्रहण-प्रतिग्रहण अवश्य होता रहा होगा, उसी की पुष्टि विदुषी लेखिका ने उपसंहार (पृ. २६३) में स्पष्ट रूप से की है।

पुराण-परम्परा—

यह भी अत्यन्त सन्तोष का विषय है कि सनातन पुराणों का तथा उनके विवेचक ग्रन्थों का गहन अनुशीलन कर लेखिका ने उनकी दार्शनिक मान्यताओं, आचार देशनाओं और भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों की जैनागम की मान्यताओं, जैन भुवनकोश की धारणाओं तथा आचार संहिताओं के साथ एक-एक करके बहुत तथ्यपूर्ण तुलना की है। सनातन पुराण वाङ्मय जितना विस्तृत है, उतना ही वैविध्यपूर्ण हैं उसके बारे में विद्वानों की मान्यताएँ और धारणाएँ। विदुषी लेखिका ने सामान्य ऐतिहासिक आकलन करते हुए उन्हें वैद्रिक संस्कृति की मुख्य धारा का अंग माना है जो ठीक भी है क्योंकि आर्य संस्कृति और श्रमण संस्कृति की दो धाराओं में वाङ्मय का द्विभाजन करें तो यही वर्गीकरण सार्थक होगा, किन्तु कुछ विद्वान् आर्य संस्कृति के वैदिक, औपनिषद, सूत्र और स्मृति वाङ्मय को एक परम्परा का प्रतिनिधि मानते हैं, जो शास्त्रीय परंपरा कही जा सकती है और पुराणों को दूसरी परम्परा का, जिसे लोक-परम्परा कहा जा सकता है, जो इस उद्देश्य से पनपी थी कि जिन वर्गों को या जिन व्यक्तियों को (जैसे महिलाएँ, कामगार आदि) श्रुति के अध्ययन की सुविधा नहीं थीं, उन्हें वाचिक परम्परा से हमारी विद्याओं का, इतिहास का, आख्यानों का, उपाख्यानों का ज्ञान सरलता से दिया जा सके। तभी तो वैदिक परम्परा के प्रवक्ता ऋषि रहे और पौराणिक परम्परा के प्रवक्ता 'सूत' लोग। यह एक मान्यता मात्र है जिस पर पिछले दिनों बहुत कुछ लिखा गया है। केवल सूचना की दृष्टि से, जानकारी के लिए यह उल्लेख हमने यहाँ किया है। इस संकेत मात्र से प्रबुद्ध पाठक हमारा मन्तव्य समझ जाएँगे।

पुराण परंपरा भी सुदीर्घ एवं विशाल है। अनेक सहस्राब्दियों से फैली इस परंपरा को कुछ लोग तो वेद से भी पुरानी मानते हैं क्योंकि जो भी कुछ सृष्टि में घटित हो रहा है, उसके इतिहास को अभिलिखित करने की परम्परा तो सृष्टि के प्रारंभ के साथ शुरू हुई और आगे भी चलती ही रही होनी चाहिए। तभी मत्स्य पुराण और वायु पुराण के इस कथन को—

पुराणं सर्वशास्त्राणं प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।

(अर्थात् ब्रह्मा ने प्रथम शास्त्र, पुराण, का प्रारंभ पहले किया, फिर उनके मुँह से वेद निकले) उद्धृत करते हुए यह कहा जा सकता है कि पुराण प्रवक्ताओं की वाचिक परंपरा वेद से भी पुरानी है। अस्तु, यह तो इस बात के प्रमाण के रूप में समझा जा सकता है कि इतिहास और पुराण के अभिलेख रखने की हमारी दृष्टि बहुत पुरानी है, पाश्चात्यों ने आकर हमें इतिहास लिखना सिखाया हो, सो बात नहीं है।

यह भी प्रसिद्ध है कि पुराणों का उद्देश्य सृष्टि, उसका विस्तार, राजवंश, मन्वन्तरों का इतिहास और ऐतिहासिक परम्परा को आज तक लाकर छोड़ना—इन सबके अभिलेख के रूप में ज्ञानकोष का निर्माण ही रहा था। यह उक्ति प्रसिद्ध है—**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।** पुराणों के ये पाँच लक्षण सहस्राब्दियों तक चलते रहे तो शायद इस एकरसता को तोड़ने के लिए इन्हें बढ़ाकर दुगुना करके दशलक्षण पुराण की अवधारणा भी इस प्रकार व्यक्त की गई—

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित्पंचविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया॥

भागवत १२/७/९-१०.

प्रस्तुत ग्रन्थ—

पुराणों का विवेचन करते समय विदुषी लेखिका ने पुराणों के पाँच लक्षणों का विवरण दिया है और बड़े सारगर्भित ढंग से उनमें वर्णित विषयों का एक-एक करके जैन आगमों, सूत्रग्रन्थों, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित विषयों से तत्त्वग्राही

तुलनात्मक अध्ययन किया है। लेखिका का निष्कर्ष है कि पुराण जैनधर्म के सिद्धान्तों से अवगत हैं और 'आर्हत् धर्म' आदि संदर्भों से उनका परिचय प्रमाणित करते हैं। पुराणों ने आत्मतत्त्व का जो विवेचन किया है, उसमें जैन सिद्धान्तों की मान्यता से क्या समानता है, कर्म सिद्धान्त की जिस प्रकार जैनागमों में व्याख्या है उससे किस प्रकार पौराणिक मान्यताएँ भी मेल खाती हैं, अपरिग्रह, सत्य, तप, दान आदि सामान्य आचारों की मान्यताएँ किस प्रकार दोनों में समान हैं (यह सामान्य आचार वाले अध्याय में बतलाया गया है), श्रमणों में श्रावकों और संन्यासियों के जो विशिष्ट आचार वर्णित हैं, उसी प्रकार के आचार पुराणों में भी गृहस्थों, योगियों, संन्यासियों आदि के लिए किस रूप में पाए जाते हैं, (यह विशेष आचार वाले अध्याय में बताया गया है), पुराणों का भुवनकोश और जैन भुवनकोश किस प्रकार समान है, ईश्वर की अवधारणा दोनों धाराओं में किस-किस रूप में रही है और किस प्रकार उनमें समान सूत्र खोजे जा सकते हैं—यह सब विभिन्न अध्यायों में सप्रमाण और सुबोध शैली में विवेचित है जो निश्चित ही अध्येताओं को नवीन दिशा बोध देगा।

ऐसे अध्ययनों में जो विषयिनिष्ठ या वैयक्तिक पूर्वाग्रहजन्य रुझान कभी-कभी दृष्टिगोचर हो जाते हैं, उनका प्रमुख कारण होता है लेखक का यह सिद्ध करने का प्रयास कि अमुक सिद्धान्त में जो समानता है, उसका कारण है अमुक धर्म पर अमुक धर्म का प्रभाव। विदुषी लेखिका इस प्रकार की स्थापनाओं से यथाशक्य बचकर इन दो धाराओं में समान सूत्र खोजने पर ही प्रमुखतः अपनी शोध दृष्टि रखती है, यह हर्षप्रद है। ऐतिहासिक कालक्रम के संकेत देते समय भी उनका अभिगम कुछ इस प्रकार का प्रतीत होता है कि वैदिक वाङ्मय के काल में जिस प्रकार की मान्यताएँ थीं, उनका प्रतिफलन जैन मान्यताओं में किस प्रकार हुआ और पुराणों में वे मान्यताएँ किस प्रकार प्रतिबिम्बित मिलती हैं। कालक्रम से यही पौर्वापर्य मोटे रूप में वे मानकर चलती हैं। इसमें किसी को आपत्ति भी नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह स्वाभाविक है कि आप जब दर्पण में देखकर अपने आप से और किसी की तुलना करते हैं तो यही कहेंगे कि अमुक व्यक्ति भी मेरे जैसा ही लगता है, उसकी नाक या आँख भी मेरी जैसी है बजाय यह कहने के कि मैं उस जैसा लगता हूँ, मेरी नाक या आँख उस जैसी है।

अब तक हुए शोध—ऐसा कहीं-कहीं ही हुआ है कि यह स्थापित करने का प्रयास दिखलाई दे कि वैदिक साहित्य बाद में बना, श्रमण परंपरा पहले थी। 'उपसंहार'

में पृष्ठ २६३ पर डॉ. दयानन्द भार्गव के उद्धरण से अवश्य ही यह बात प्रतीत सी होती है—"श्रमण परम्परा के जिन मूल्यों को वैदिक साहित्य में स्थान मिला, उन्हें वैदिक समाज ने यथावत् ग्रहण नहीं किया बल्कि अपनी तरह से ढालकर आत्मसात् किया।" यह जो सामान्य धारणा है कि वैदिक कर्मकांड और आकारी धर्माचारों की प्रतिक्रिया के रूप में श्रमण संस्कृति पनपी, इसका तो लेखिका ने खण्डन किया है किन्तु अपनी ओर से श्रमण वाङ्मय को वैदिक वाङ्मय से प्राचीन सिद्ध करने का प्रसंगागत प्रयास किया हो, ऐसा कहीं नहीं है। यह ठीक भी है क्योंकि ऐतिहासिक कालक्रम के निर्धारण के ऐसे प्रयास कभी अन्तिमतः निर्णायक सिद्ध नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, अब तक भारत में अंग्रेजी माध्यम से जो इतिहास विद्यालयों में पढ़ाया जाता रहा है, उसमें यह बताया जाता है कि भारत का इतिहास सिन्धु घाटी सभ्यता से शुरू होता है, जिसके प्रमाण खुदाई में मोहनजोदड़ो आदि में मिले हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता पर आर्यों ने आक्रमण करके उसे नष्ट किया और तब वैदिक आर्यों की संस्कृति उपजी और फैली। इस आधार पर सिन्धु घाटी (जिसे अनार्य सभ्यता का स्वरूप माना गया।) का काल पहले आता है, फिर वेद काल। इसे ज्यों की त्यों सभी विद्वान् पढ़ते रहे। वैसे भी पुरानी या कालक्रम से पहले होने के कारण कोई सभ्यता उत्कृष्ट हो जाती हो और परवर्ती होने के कारण निकृष्ट हो जाती हो, ऐसी कोई बात नहीं है। कालिदास ने कहा ही है "**पुराणमित्येव न साधु सर्वम्**।" अतः सिंधु घाटी काल पूर्ववर्ती और वेदकाल परवर्ती माना जाता रहा, यद्यपि ऋग्वेद को मानवीय पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक माना जाता रहा।

जिस प्रकार मोहनजोदड़ो आदि के उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं और बर्तनों के आधार पर किये काल-निर्धारण के फलस्वरूप इतिहास का पौर्वापर्य उस समय निर्धारित हुआ था, उसी प्रकार पिछले दशकों में सरस्वती घाटी सभ्यता (अर्थात् सरस्वती नामक विलुप्त याने अन्तःसलिला नदी के तत्कालीन संभावित प्रवाहक्रम और भूगोल) के अनुसन्धानार्थ ज़ो उपग्रह सर्वेक्षण (सैटेलाइट सर्वे), खोजबीन और शोध हुए हैं, साथ ही फ्रांसीसियों ने पाकिस्तान-अफगानिस्तान अंचल में बोलन दर्रे के पास मेहरगढ़ आदि स्थानों पर जो खुदाई की है, अवशेष प्राप्त किये हैं, जिनका काल ईसा से लगभग सात हजार वर्ष पूर्व माना गया है, उससे इतिहास का पौर्वापर्य अब तदनुसार संशोधित परिवर्तित या निर्धारित होना चाहिए, ऐसा उन विद्वानों का मत है जो किसी पूर्वग्रह से नहीं जुड़े हैं। एस. आर. राव, नवरत्न राजाराम, सुभाष काक, जेम्स शेफर, मार्क केनोयर, भगवानसिंह, जी. पी. सिद्धार्थ, के. डी. सेठना, के. डी. अभ्यंकर, पी. डी.

पाठक, श्रीकान्त तलगेरी, एस. कल्याणरामन्, बी. बी. चक्रवर्ती, जार्ज फ्यूअरस्टीन आदि विद्वान् तो यह लिखते ही रहे हैं कि वेदकालीन सरस्वती घाटी सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता से पहले भी थी, दोनों में कोई संघर्ष या ध्वंस नहीं हुआ, नदियों का प्राकृतिक मार्ग बदलने से परिवर्तन हुए आदि, किन्तु न्यू मैक्सिको (अमेरिका) के डेविड फ्रावले ने सप्रमाण कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं **(द मिथ आफ आर्यन इनवेज़न ऑफ इंडिया, १९९५)** जिनमें यह स्पष्ट किया है कि नवीनतम शोधों के अनुसार जो सारस्वत वेद सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता से प्राचीन सिद्ध हुई है, उसके आधार पर छात्रों को पढ़ाये जाने वाले इतिहास में यह उल्लेख होना अब वांछनीय हो गया है। इस प्रकार नये शोधों तथा स्थापनाओं के फलस्वरूप काल निर्धारण बदल भी सकते हैं। शोध विद्वानों के अन्तिम निर्णय के बाद ही उसे तत्त्वतः स्वीकृत किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि कालक्रम की पूर्वापरता इतिहास के शोध का विषय ही रहना चाहिए, पूर्वग्रहों पर आधारित नहीं होनी चाहिए। यही वस्तुनिष्ठ शोध दृष्टि का प्रमाण होता है। हर्ष की बात है कि इस ग्रन्थ में विदुषी लेखिका ने शोधपरक दृष्टि रखी है तथा व्यापक फलक पर पुराणों, जैन ग्रन्थों, अभिनन्दन ग्रन्थों तथा शोध लेख संकलनों से संदर्भ और उद्धरण देते हुए अपनी स्थापनाओं के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। कालक्रम पर कुछ अभिकथन प्रथम अध्याय (जैन धर्म का इतिहास) और उपसंहार में अवश्य मिलते हैं जिनमें लेखिका ने कुछ ऐसे सन्दर्भ दिये हैं कि ऋषभदेव का उल्लेख वेदों में भी है। "वातरशना मुनयः" आदि उक्तियों से वेदों में श्रमण संस्कृति के संकेत मिलने की बात बहुधा कही भी जाती है। राजस्थान संस्कृत अकादमी द्वारा (जिसका मैं भी कुछ समय तक अध्यक्ष रहा) जयपुर में १९-२० मार्च, १९९१ को श्रमण संस्कृति पर यहाँ के उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान संस्थान के तत्त्वावधान में विद्वानों की एक संगोष्ठी आयोजित की गई थी, जिसमें श्रमण संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर तो गहन विमर्श और शोधपत्र पठन हुए ही, वैदिक और जैन संस्कृतियों के पारस्परिक संवाद सूत्रों पर भी अधिकारी विद्वानों ने लिखा। स्व. डॉ. सुधीर कुमार गुप्त (वेदमनीषी) का अभिमत तो यह था कि वेदकाल में श्रमण संस्कृति के तत्त्व अपरिज्ञात थे, जबकि डॉ. प्रेमचन्द जैन ने 'मुनयो वातरशनाः' आदि उद्धृत कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि ये श्रमणों के वर्णन हैं।

इस देश में विद्वानों को अपने-अपने मत निर्बाध रूप से रखने की सदा स्वतन्त्रता रही है। यह कहते हुए मैंने तथा अन्य अनेक विद्वानों ने यह निर्विवाद रूप

से माना कि किसी न किसी रूप में इन दोनों धाराओं में पारस्परिक संवाद, समन्वय प्रत्येक युग में होता रहा है। इस संगोष्ठी के शोध लेख **'श्रमण संस्कृति'** शीर्षक से ग्रन्थाकार में संस्कृत अकादमी से प्रकाशित हुए हैं, जिनमें मेरी भूमिका भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अकादमी ने **"सनातन एवं जैन पुराणों में मानव कल्याण की दृष्टि"** विषय पर भी एक विद्वत्संगम आयोजित किया (जिसके शोध लेख भी मेरे अध्यक्षता काल में इसी शीर्षक से १९९६ में एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुए), जिसमें यह तथ्य उभरकर आया कि दोनों संस्कृतियों के चिरन्तन सह अस्तित्व के फलस्वरूप इस देश के मानव समुदाय का जो हित हुआ है, वही इन दोनों संस्कृतियों का वास्तविक उद्देश्य था और है।

शुभाशंसा—इन दोनों संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभावों, अन्तः क्रियाओं, सिद्धान्तों की समानताओं तथा संवादों एवं समन्वयों का आकलन करने का कालोचित सत्कार्य करने वाला यह ग्रन्थ इसी प्रकार के अध्ययनों की एक बहुमूल्य कड़ी है, अतः इसका स्वागत सभी प्रकार के प्रबुद्ध पाठकों और जिज्ञासुओं, विद्वानों और विद्यार्थियों—सभी में होगा, इसमें सन्देह नहीं है। व्यापक अध्ययन और अथक मीमाँसा दृष्टि के साथ इस शोध ग्रन्थ के प्रणयन के लिए विदुषी **डॉ. चरणप्रभा साध्वी** प्रभूत बधाइयों की पात्र हैं तथा उत्तमोत्तम ग्रन्थ रत्नों के प्रकाशन द्वारा सुदीर्घ काल से समाज को अमूल्य वाङ्मय प्रदान कर अपना चिरस्मरणीय स्थान बनाने वाली संस्था **प्राकृत भारती अकादमी,** उसके यशस्वी अध्यक्ष **श्री देवेन्द्र राज मेहता** और कर्मठ निदेशक **महोपाध्याय श्री विनयसागर** भी शतशः साधुवादों के पात्र हैं कि उनकी पारखी दृष्टि ने इस शोधग्रन्थ को प्रकाशन के लिए चुना और वाङ्मय जगत् में प्रस्तुत किया। इस प्रकार के अनुसन्धानात्मक स्तरीय ग्रन्थों का प्रसार ऐसे अनेक अन्य विमर्शों और ग्रन्थों के प्रादुर्भाव को प्रेरित करता है जो हमारी सांस्कृतिक निधि का विवेचन अगली पीढ़ी के हितार्थ प्रस्तुत कर सकें, इसलिए भी यह प्रकाशन सर्वथा स्वागतार्थ है।

देवर्षि कलानाथ शास्त्री
(राष्ट्रपति सम्मानित संस्कृत विद्वान्)
भूतपूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी
तथा निदेशक, संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग,
राजस्थान सरकार

मञ्जुनाथ स्मृति संस्थान,
सी/८ पृथ्वीराज रोड,
जयपुर

विषय प्रवेश

भारतीय वाङ्मय में अनेक प्रकार के साहित्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें दर्शन साहित्य का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। दर्शन-साहित्य अति विस्तृत है जिसकी कई शाखाएँ एवं प्रतिशाखाएँ हैं। प्रमुख भारतीय दर्शन अग्रलिखित हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त।

हमारे शोधकार्य का विषय है **"पुराणों में जैनधर्म"**। यह दो दर्शनों से सम्बन्धित है—वैदिक दर्शन तथा जैन दर्शन। पुराण वैदिकदर्शन से सम्बद्ध हैं, वैदिक संस्कृति के प्रमुख ग्रन्थ हैं; फिर भी उनमें जैनदर्शन सम्बन्धित विषय वस्तु तथा जैनधर्म सम्मत सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। जैनदर्शन सम्मत सिद्धान्त पुराणों में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। उनका सुव्यवस्थित रूप से अध्ययन अभी तक किसी ने नहीं किया है। यह विषय अभी तक अछूता ही है।

पुराण एवं जैनदर्शन के सिद्धान्तों में पर्याप्त मात्रा में भिन्नता होते हुए भी कई स्थानों पर समानता परिलक्षित होती है। ऐसे कई स्थल वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं जिनमें जैनधर्म का उल्लेख तथा तत्सम्मत सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यद्यपि दोनों की मूलभूत विशेषताओं में पर्याप्त अंतर है; तथापि पुराणों में जैनदर्शन सम्बन्धित प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। यही नहीं कई स्थलों पर जैन मूल्यों की वैदिक व्याख्या भी की गई है।

चिन्तन की उदारता के कारण प्रवृत्तिवादी होते हुए भी पुराणों में निवृत्तिवादी श्रमण-परम्परा का उल्लेख स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत शोधकार्य में इस चिन्तन की उदारता का तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के सुन्दर सुमेल का भी दर्शन होगा।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से सम्बद्ध होते हुए भी इन दोनों में अनेक समानताएँ हैं। जैनदर्शन में अनेकान्तवाद एक ऐसा प्रमुख सिद्धान्त है कि जिससे प्रत्येक तत्व का अनेक दृष्टियों से सर्वांगीण चिन्तन किया जा सकता है। लगभग हर दर्शन में ऐसे कई सिद्धान्त हैं जो किसी न किसी दृष्टि से जैनदर्शन से समता रखते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि जैनसम्मत सिद्धान्तों का अन्य दर्शनों में उल्लेख ही नहीं, समर्थन भी है। किसी न किसी रूप में पूर्वोक्त सिद्धान्तों की झलक जैनेतर दर्शनों में मिल ही जाती है।

जैनधर्म की प्राचीनता अनेक विद्वानों के वक्तव्यों से व्यक्त होती है तथा साथ ही प्राचीन अवशेषों तथा ग्रन्थों के द्वारा भी व्यक्त होती है, क्योंकि जैन धर्म का किसी न किसी रूप में प्राचीन जैनेतर साहित्यों में उल्लेख हुआ है।

जैनधर्म की प्रमुख विशेषताओं के अन्तर्गत हम अहिंसा, अनेकान्त, द्रव्य सम्बन्धी विशिष्ट चिन्तन एवं साधना मार्ग इत्यादि देख सकते हैं। जैनधर्म में अहिंसा का सर्वाधिक महत्व है। समस्त आचारों का केन्द्रबिन्दु अहिंसा है एवं अन्य सभी आचार इसी के परिपोषक हैं।

अनेकान्त भी अहिंसा से ही सम्बन्धित है। यह एक प्रकार की वैचारिक अहिंसा है। कहीं हम सत्य के एक पक्ष को ही लेकर न बैठ जायें तथा सत्य के अन्य पक्ष का हनन न कर दें, इसके लिए अनेकान्तवाद का सिद्धान्त बताया गया है। यह विशेषतः व्यक्ति के बौद्धिक पक्ष से सम्बद्ध है।

अनेकान्त पर जैन तात्विक चिन्तन अवधारित है। द्रव्य का स्वरूप जैन दृष्टि से एकान्ततः नित्य अथवा एकान्ततः अनित्य न होकर कथंचित् नित्य एवं कथंचित् अनित्य है अर्थात् नित्यानित्य है। जैन आगमों के अनुसार द्रव्य के छः प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय।

द्रव्य के समान ही साधना मार्ग भी अनेकान्तात्मक है। मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप में जैन परम्परा में एकान्ततः ज्ञान या दर्शन अथवा चारित्र को कारण न मानते हुए तीनों के समन्वित रूप को ही श्रेयस्कर माना गया है।

साधना के क्षेत्र में मुख्यतः समत्व प्राप्ति ही ध्येय है क्योंकि समत्व के अभाव में निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है, इसीलिए समत्व का विशेष महत्व जैनदर्शन में है। मन के ही नहीं, दृष्टि के (प्रज्ञा के) समत्व पर भी जैनदर्शन में बल दिया गया है। अपने अनेकान्तवादी उदार दृष्टिकोण से समन्वित जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने तो यहाँ तक कह दिया कि कोई भी व्यक्ति हो, चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो या कोई अन्य हो, जिसकी भी आत्मा समभाव युक्त हो, वह निर्वाण के परम सौख्य को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यही है कि साधना के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के पन्थ, जाति आदि के प्रतिबन्ध नहीं हैं।

जैन धर्म की उपर्युक्त विशेषताओं का पुराणों से तुलनात्मक विश्लेषण करने से यह अवगत होता है कि पुराणों में भी जैनधर्म सम्मत मन्तव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। पुराणों में न केवल जैनसम्मत मत ही दृष्टिगत होते हैं अपितु नामशः भी जैनधर्म उल्लिखित है।

पुराणों का वैदिक संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। पुराणों को वेदमूलक भी कहा है। पुराणों में अनेक विषय वर्णित हैं। सभी पुराण एक साथ निर्मित न होकर विभिन्न समयों में निर्मित हुए हैं, अतः उनमें उन-उन समयों में प्रचलित अनेक मत-मतान्तर समाविष्ट होते रहे हैं।

पुराण प्रमुखतः अठारह हैं। जिनमें अधिकतर ये पाँच विषय विवेचित हैं—सर्ग (सृष्टिक्रम), प्रतिसर्ग (प्रलय), मन्वन्तर और देव, ऋषि, राजवंश और राजाओं का इतिहास। इनके अलावा आचार, आत्मा, कर्म आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का भी यथास्थल उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों में जैनसम्मत सिद्धान्त भी दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतया हम पद्मपुराण में प्राप्त आर्हतधर्म सम्बन्धित विश्लेषण देख सकते हैं जिसमें श्रावक, चौबीस तीर्थंकर, व्रत आदि वर्णित हैं। इसी में यज्ञ और दया का तुलनात्मक विश्लेषण है। पुण्य स्नान, भाव शौच इत्यादि अनेक प्रसंग भी अंकित हैं। "अहिंसा परमो धर्मः" इत्यादि सिद्धान्त भी विशिष्ट तौर पर लिखित हैं। यही नहीं, निवृत्ति का भी वर्णन विशेष रूप से किया गया है। यथा मुमुक्षु को निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने हेतु प्रेरित करते हुए हरिवंश पुराण का स्पष्ट कथन है— "जो योगी कर्मबंध से मुक्त होकर इन्द्रिय बंधनों को भी काट फैंकते हैं, वे ही उस परम पद तक पहुँचने में समर्थ होते हैं, पर जो यज्ञ-अग्निहोत्रादि में लगे रहते हैं, वे वहाँ नहीं पहुँच सकते।" (पृ. 207)

ठीक इसी प्रकार का मन्तव्य जैनदर्शन का भी है। ऐसे बहुत-से समान मत पुराण तथा जैनधर्म में उपलब्ध होते हैं, उनका विशिष्ट रूप से इस शोधकार्य में यथाप्रसंग प्रतिपादन किया गया है।

इस शोधकार्य से "जैनधर्म कितना प्राचीन है।" यह ऐतिहासिक बिन्दु भी प्रकाशित होगा। पुराणों में जैनधर्म का उल्लेख किस प्रकार से हुआ—यह देखना भी इस शोध का ध्येय है।

वैदिक संस्कृति की प्रतिपादन शैली कुछ इस प्रकार की है कि उसका प्रत्येक साहित्य परस्पर थोड़ा-बहुत वैभिन्न्य तो रखता ही है। वेदों में जिस प्रकार से स्तुतियाँ एवं कर्मकाण्ड हैं, उपनिषदों में वह नहीं है। बहुत ज्यादा परिवर्तन एवं भिन्न चिन्तन भी उपनिषदों से मुखर होता है। इससे आगे पुराणों में भी भिन्नता के स्वर प्रस्फुटित होते हैं अर्थात् प्रारम्भिक वैदिक साहित्य वेदों में कर्मकाण्ड का प्रामुख्य है। परवर्ती उपनिषदादि में ज्ञानमार्ग का, तो पुराणों में मुख्यस्वर भक्ति का, एवं भगवद्गीता में तीनों का समन्वय किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन पुराणों का पर्याप्त महत्व है क्योंकि इनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिवेशों का विवेचन विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।

पुराणों में यद्यपि जैनधर्म से अनेक वैमत्य भी दृष्टिगोचर होते हैं, उनका विशेष रूप से विवेचन न करते हुए यहाँ मुख्यतः साम्य ही विवेचित है।

जैनदर्शन की भाँति ही पुराणों में सत् के नित्य परिणामी स्वरूप को स्वीकार किया गया है। सत् में होने वाला परिवर्तन उसकी नित्यता को प्रभावित नहीं करता।

जिसप्रकार से जैनदर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विवेचन करते हुए सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण युक्त बताया है, उसीप्रकार पुराणों में भी सत् की यही व्याख्या है। उनमें सत् के नित्यत्व का निरूपण करते हुए उसके तिरोभाव अर्थात् जन्म-नाश भी निरूपण है।

द्रव्य के दो रूपों का उल्लेख जैनदर्शन के समान पुराणों में भी है, क्योंकि जड़ एवं चेतन दोनों ही तत्वों का विवेचन करते हुए उनका स्वरूप बताया गया है। जड़ के रूप में प्रकृति (अचेतन) का तथा प्रकृति के विकारों का विशद् विश्लेषण पुराणों में है तथा चैतन्य के रूप में पुरुषत्व विवेचित है।

जैनधर्म में वर्णित द्रव्य के छः प्रकारों में से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का नामशः एवं तथ्यतः विशेष उल्लेख तो पुराणों में नहीं है, फिर भी पुराणों में वर्णित सृष्टि को गति प्रदान करने वाले रजस्‌गुण तथा अवरोधक (प्रतिरोधक) के रूप में तमस्‌गुण वर्णित हैं, जो कुछ अंशों में उपर्युक्त द्रव्यों से साम्य रखते हैं; यद्यपि ये उसप्रकार से उदासीन रूप से कार्य नहीं करते। आकाश को पुराणों में भी जैन दर्शन के समान अनन्त एवं सर्वत्र व्याप्त कहा है एवं काल का भी परिवर्तन के प्रमुख कारण के रूप में निरूपण है। पुद्गलद्रव्य की नित्यानित्य एवं जीवद्रव्य के विश्लेषण के सन्दर्भ में अनेक तथ्य तुलनीय हैं।

जीवद्रव्य के विशेष विश्लेषण के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप आदि का प्रतिपादन किया गया है। चैतन्यस्वरूप आत्मा को समस्त जड़ (पौद्गलिक) से भिन्न प्रदर्शित किया है।

आत्मतत्व के नित्यत्व की मूल अवधारणा पुराण तथा जैनदर्शन में समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। आत्मतत्व का स्वरूप निर्धारण करते हुए जैनधर्म में आत्मा को चैतन्यमय बताया है—जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है वैसे ही ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। पुराणों में भी इसी प्रकार से आत्मा को चैतन्ययुक्त बताया है तथा जैनदर्शन के तुल्य ही संसारी आत्मा (जीव) को अनादिकालीन कर्मबद्ध माना है। उसी को शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता कहा है एवं भोक्ता भी। इसी कारण जन्म- मरण का चक्र चलता रहता है। इतना होते हुए भी जिस प्रकार से जैनदर्शन में उस आत्मा को परमात्मा के समान बताते हुए अन्तर मात्र कर्मों के कारण माना है; उसी प्रकार

पुराणों में भी आत्मा में परमात्मा की सत्ता स्वीकृत है, मात्र अशुद्धि के ही कारण उनमें भेद है। जिस प्रकार से मलादि से मिश्रित स्वर्ण, अशुद्धियों के हट जाने पर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही निर्मल (निरावरण) हो जाने पर आत्मा साक्षात् परमात्मा हो जाता है। साथ ही आत्मा का अनेकत्व भी प्रदर्शित है।

इससे आत्म-स्वातन्त्र्य भी स्पष्ट होता है। जीव स्वयं ही अपने उत्थान या पतन का उत्तरदायी है। बंधन और मुक्ति उसी के आश्रित हैं।

कर्मबंधन एवं मुक्ति की व्याख्या भी पुराणों में जैनमन्तव्य के समान ही है।

जैनदर्शन में कषाययुक्त अर्थात् रागद्वेष जनित (मानसिक आवेगों से युक्त) प्रवृत्ति द्वारा कर्मबंध होता है। यही आशय पुराणों का भी है। पुराणों के अनुसार भी आन्तरिक राग-द्वेष अथवा आसक्ति के द्वारा कर्मबंध होता है और जब वह आसक्ति हट जाती है तो वह कर्मबद्ध नहीं होता। मुक्ति के सम्बन्ध में भी यही मन्तव्य है कि शुभाशुभ समस्त कर्मों को नष्ट कर देने के बाद आत्मा मुक्त होता है।

यहाँ दृष्टव्य है कि जैनदर्शन की तरह आत्मा को अनादिकालीन कर्मबद्ध स्वीकार किया गया है। कर्म को पुराणों में सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध माना है जो जैनदर्शन के कार्मण शरीर से पर्याप्त समानता रखता है। कर्म के अस्तित्वकाल पर विचार करते हुए यही निष्कर्ष निकाला गया है कि आत्मा के साथ कर्म अनादिकाल से है, क्योंकि कोई ऐसा काल नहीं था तब वह मुक्त था एवं सर्वथा मुक्त आत्मा के कर्म सम्पृक्त न होने से यह अनादित्व बताया गया है। जगत् के विभिन्न परिवर्तनों का कारण कर्म ही है जो अपने सहकारी कारणों से युक्त हो फल प्रदान करता है।

कर्म के विषय में जैनधर्म के समान ही पुराणों में भी यही प्रतिपादित है कि व्यक्ति स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है। किसी दूसरे के कर्म का फल कोई अन्य नहीं प्राप्त करता। व्यक्ति जैसी-जैसी शुभ या अशुभ प्रवृत्तियाँ करता है वैसे ही कर्मों का बंधन होता जाता है जो कि परिपाक काल (उदयकाल) में सुख या दुख के रूप में अपना परिणाम बता देता है। उन परिणामों को अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मों के परिणामस्वरूप वह अनुकूलताएँ तथा प्रतिकूलता प्राप्त करता है। यद्यपि ये कर्म अनादि हैं परन्तु अन्त सहित हैं। आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा उन्हें आत्मा से पृथक् किया जा सकता है।

कर्म के विभिन्न प्रकार हैं, जिन्हें मुख्यतः शुभ या अशुभ (पुण्य, पाप) दो कोटियों में त्रिभाजित किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक ऐसी भी अवस्था पुराणों में बताई गई है, जो जैनदर्शन के ऐर्यापिथिक कर्म के तुल्य है। उस अवस्था में योगी

कर्म करते हुए भी शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से निर्लिप्त रहता है और अन्ततः समस्त कर्मों का निर्मूलन करके मुक्त हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का भविष्य स्व पर निर्भर होता है। वर्तमान-कालीन पुरुषार्थ ही भविष्य में भाग्य के रूप में उभरता है। अतः व्यक्ति जैसी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति या आचरण करता है वैसा ही कर्मबंधन उसे प्राप्त होता है। जीवन में होने वाली उन प्रवृत्तियों का संस्कारित रूप ही सदाचार है।

अपने आचरण के आधार पर व्यक्ति कर्मबद्ध होता है एवं कर्मों से मुक्त होता है। दुराचरण के द्वारा होने वाले अधःपतन से बचने के लिए मनीषियों ने सदाचार के रूप में विभिन्न आचार-व्यवस्थाएँ बनाई हैं। सदाचार के रूप में कुछ आचार ऐसे हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए मूलगुणों के रूप में आवश्यक हैं, उनको सामान्य आचार कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। ये सभी वर्णों तथा आश्रमों के लिये सामान्य (अनिवार्य) हैं।

पुराणों में भी जैनदर्शनवत् ही अहिंसा को जीवन में धारण करने योग्य प्रमुख व्रत बताया गया है। न केवल कायिक अर्थात् दिखाई देने वाली हिंसा को ही हिंसा कहा है अपितु मानसिक हिंसा भी त्याज्य बताई गई है। हिंसा के कटुक परिणाम होते हैं। समस्त सद्गुण अहिंसा में समाहित हो जाते हैं। अहिंसा के अभाव में कोई भी गुण सद्गुण नहीं हो सकता।

सत्य की विशेष व्याख्या करते हुए इसे आधारस्वरूप कहा गया है। सत्य का पालना बहुत दुर्लभ है। जीवन के प्रत्येक व्यवहार व आचार में ही सत्यता के वास्तविक दर्शन होते हैं। वाचिक सत्य की बात अपनी जगह अलग है।

सत्य के समान ही अस्तेय अर्थात् अचौर्यव्रत को भी महत्वपूर्ण बताया है तथा ब्रह्मचर्य को महान् गुण प्रतिपादित करते हुए अब्रह्म सेवन त्याज्य बताया है। पंचेन्द्रिय संयम का निर्देश देते हुए लोभ-लालसा-कामना इत्यादि आसक्तियाँ परिहरण योग्य बताई गई हैं क्योंकि आन्तरिक लालसा के कारण व्यक्ति परिग्रह जुटाता है तथा अन्त में वही परिग्रह उसके लिए दुःखदायक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त पाँचों को जैनधर्म में पंच अणुव्रत तथा महाव्रत के रूप में महत्व दिया है तथा पुराणों में भी इन्हें पंच यम के रूप में सर्वप्रथम अंगीकरणीय बताया गया है।

इनके अतिरिक्त क्षमा, तप, सत्संगति, सेवा, शौच आदि सद्गुणों का महत्व भी जैनधर्म के सदृश ही पुराणों में मिलता है।

क्षमा को साधक का आभूषण स्वरूप कहा है। जैनदर्शन में तप का विशेष महत्व है। पुराणों में भी तप को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में अपने उत्कर्ष के

लिये महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि तप के द्वारा आन्तरिक अशुद्धियाँ नष्ट होती हैं। सत्संगति का भी महत्व कम नहीं है क्योंकि संग व्यक्ति के उन्नति एवं अवनति का एक प्रमुख कारण है। सेवाधर्म बहुत गहन है, क्योंकि सेवा के नाना रूप होते हैं; यथा भगवद्-सेवा जिसे आम भाषा में भक्ति कहा जा सकता है। इसीप्रकार बड़ों की सेवा को विनय अथवा सत्कार-सम्मान कहा जा सकता है, प्राणिमात्र की सेवा को परोपकार की संज्ञा दे सकते हैं। सेवा के अतिरिक्त शौच (पवित्रता) का भी जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अपवित्र (गन्दे) पात्र में अच्छी से अच्छी वस्तु भी विकृत हो जाती है, इसलिये उपर्युक्त उत्तम गुणों को धारण करने से पहले व्यक्ति को अपना हृदयरूपी पात्र सर्वदा स्वच्छ रखना चाहिए।

इन सामान्य धर्माचारों के अतिरिक्त विशेष आचारों के अन्तर्गत गृहस्थ एवं साधु धर्म विवेचित है। इसके अनुसार पौराणिक तथा जैन श्रमण की जीवनचर्या में कई महत्वपूर्ण समानताएँ हैं, यथा उसकी आन्तरिक वृत्ति समत्वप्रधान होती है, वह आन्तरिक राग-द्वेष को दूर रखते हुए सत्य को ही ग्रहण करता है। उसके लिये अहिंसादिव्रत पूर्ण रूप से पालनीय हैं। बाह्य जीवन भी मर्यादित होता है। आहार, प्रवास-निवास आदि के सम्बन्ध में भी कई मर्यादाएँ निर्धारित की गई हैं। योगी के योगाचार के अन्तर्गत अष्टांग योग निरूपित हैं।

गृहस्थधर्म के धारक गृहस्थ का जीवन भी अनेक मर्यादाओं से सुसम्पन्न होता है, परन्तु वे मर्यादाएँ मर्यादित होती हैं। आंशिक निवृत्ति का गृहस्थ के लिये निर्धारण है, जिससे उसके आवश्यक कार्यों में बाधा नहीं आये तथा उसकी जीवनचर्या तथा दायित्व निर्बाध गति से पूर्ण हो सके।

आत्मकल्याण के क्षेत्र में अथवा सदाचार के पालन में वर्णादि सम्बन्धित प्रतिबंध आवश्यक नहीं हैं। प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः आत्मिक उन्नति किसी भी प्रकार के उम्र, वर्ण अथवा स्त्री-पुरुष आदि भेदों पर निर्भर नहीं है। उच्चता या निम्नता जन्मना प्राप्त न होकर कर्मणा ही प्राप्त होती है।

आचार पालन में विवेक की परम आवश्यकता है एवं साथ ही अनासक्ति भी अनिवार्य है। जगत् के समस्त पदार्थों के प्रति आसक्ति होने से व्यक्ति अपने को संयमित (मर्यादित) नहीं कर सकता। अपनी यथार्थता एवं जगत् की यथार्थता को समझते हुए व्यक्ति उनसे निवृत्त हो सकता है। अतः जगत् की अनित्यता एवं जागतिक पदार्थों की नश्वरता को देखते हुए उसके प्रति वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है।

जैनदर्शन की भाँति जगत् की अनित्यता का निरूपण पुराणों में भी है, परन्तु साथ ही साथ जैनोक्त जगत्-स्वरूप के तुल्य उसकी नित्यता भी प्रतिपादित है। जगत् या लोक वस्तुतः जीव तथा अजीव का सम्मिश्रण है। जगत् के सम्बन्ध में यह कथन सत्य नहीं है कि वह कभी उत्पन्न हुआ एवं यह मत भी अनुचित है कि उसमें किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं आता। जगत् सदा बना रहता है, न कभी उत्पन्न होता है और न ही कभी उसका पूर्ण विनाश होता है। इसमें परिस्थितियों के परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। कभी उसकी ह्रासावस्था होती है तो कभी विकासावस्था; ह्रास के बाद विकास और विकास के बाद ह्रास का चक्र अनवरत घूमता रहता है। समय के साथ परिवर्तन भी होता रहता है।

जगत् की नित्यता के साथ ही ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व का भी निरसन हो जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में पुराणों का यद्यपि जैनदर्शन से मतवैभिन्न्य है, परन्तु पुराणों में वर्णित मुक्त आत्माओं का जैनधर्म में वर्णित ईश्वर-स्वरूप से पर्याप्त साम्य है। वैदिक संस्कृति के अवतारवाद से भिन्न जैनदर्शन में आत्मा से परमात्मा बनने की अवधारणा है, जिसका पुराणों में पर्याप्त समर्थन है। पुराणों में भी "आत्मा से परमात्मा", "सगुण से निर्गुण" (साकार से निराकार) बनने का स्पष्टतः उल्लेख है। मुक्तात्मा निर्गुण अर्थात् मुक्त होने के पश्चात् पुनः सगुण नहीं होता। यहाँ समस्त द्वन्द्वों से परे, शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को परमात्मा कहा गया है।

वह परमात्मा पुनः साकार नहीं होता, जबकि वैदिक परम्परा में इसके विपरीत ईश्वर के निराकार से साकार होने के वर्णन मिलते हैं। यही नहीं, ईश्वर को एक तथा सर्वव्यापक बताया है, जबकि जैनधर्म में ईश्वर एकमात्र नहीं है। एक व्यक्ति विशेष को ईश्वर न मानते हुए समस्त मुक्तात्माओं को ईश्वर की संज्ञा दी है। पुराणों में भी यद्यपि ईश्वर का कर्तारूप, एकत्व तथा सर्वव्यापकत्व उल्लिखित है किन्तु इसके अतिरिक्त जहाँ साधना द्वारा मुक्त आत्माओं का वर्णन है, वहाँ उनके अनेकत्व एवं प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार से पुराणों के अनेक मन्तव्य जैनधर्म के समान है। उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त आर्हतधर्म के रूप में नामशः भी पद्म, विष्णु आदि पुराणों में जैनधर्म का उल्लेख है। पुराण पर्याप्त प्राचीन हैं। वस्तुतः जैनधर्म प्राचीनतम है। यह अलग बात है कि जैनसाहित्य २००० वर्ष से पहले का उपलब्ध नहीं है; फिर भी जैनेतर ग्रंथों में जैनधर्म की समकालीन वास्तविक स्थिति का सुन्दर चित्रण है।

यद्यपि यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि वर्तमान में उपलब्ध पुराणों का जो स्वरूप है वह बहुत प्राचीन है, क्योंकि उनमें भी अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, किंन्तु फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि महावीर से पूर्व भी वैदिक संस्कृति प्रचलित थी। वेद, पुराण आदि किसी न किसी रूप में थे, अतः उनमें भी जैनधर्म का उल्लेख प्राप्त होने से जैनधर्म की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

निष्कर्षतः श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति ये दोनों ही प्रमुख एवं प्राचीन गंगा-यमुना दो सांस्कृतिक धाराएँ रही हैं। जैनधर्म प्राचीन श्रमण संस्कृति का ही एक रूप है। पुराणों में श्रमण संस्कृति की धारा का उपलब्ध होना उनके पारस्परिक प्रभाव को अभिव्यक्त करता है। पुराणों में जैनधर्म की उपलब्धि को दृष्टि-सम्मुख रखते हुए श्रीमती वीणापाणि का यह मत है कि वस्तुतः पुराण जैनधर्म से परिचित हैं। जैनधर्म के प्रचार-काल में पुराण भी उनके प्रभाव से स्वयं को वंचित न रख सके। यही कारण है कि पद्म, विष्णु आदि विभिन्न पुराण जैनधर्म सम्बन्धित विषय-वस्तु को विशद् रूप से अभिव्यक्त करते हैं।

□ □ □

१

जैन धर्म का इतिहास

विश्व में अनेक धर्म, दर्शन, संस्कृतियाँ प्रचलित हैं। इन विभिन्न संस्कृतियों को हम एक संस्कृति 'मानव संस्कृति' में समाविष्ट कर सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से विभाजन करने पर इसके कई नाम प्रचलित हो गए। जैसे—जैन, बौद्ध, वैदिक इत्यादि।

संस्कृति

'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से संस्कृति शब्द बना है, जिसका अर्थ है— "वह क्रिया, जिसके द्वारा मन को मांजा जाता है, जीवन को परिष्कृत किया जाता है, मानवता को निखारा जाता है और विचारों को संस्कारित किया जाता है।"[१] संस्कृति का तात्पर्य डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार "विवेक बुद्धि के द्वारा जीवन को भली प्रकार से जान लेना है।"[२]

"वस्तुतः संस्कृति ही मानव की प्रतिष्ठापिका है। यही असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, और अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसर करती है। मानव-हृदय से अहर्निश सम्पन्न होने वाले देवासुर संग्राम के मध्य आसुरी वृत्तियों को दबाकर दैवी वृत्तियों का उद्बोधन संस्कृति की सहायता से होता है। संस्कृति मानवता को परिष्कृत कर सुविचारों के अंकुर उत्पन्न करती है और यही अंकुर कालान्तर में कल्पपादप बनकर सुस्वादु फलों को प्रदान करता है। अतएव भोजन-पान, आहार-विहार, वस्त्राभूषण, क्रिया-कलाप आदि को सुसंस्कृत कर जीवनयापन करना सांस्कृतिक प्रेरणा का प्रतिफल है। मानवता अपनी आन्तरिक भावनाओं से ही निर्मल होती है और इन भावतत्वों का विकास मनुष्य की मूलभूत चेष्टाओं द्वारा होता है।"[३]

जैन संस्कृति की प्राचीनता

जैन संस्कृति इन अनेक संस्कृतियों में एक प्रधान संस्कृति है। प्राचीन काल से चली आ रही दो प्रमुख भारतीय संस्कृतियाँ मानी गई हैं—वैदिक संस्कृति तथा श्रमण संस्कृति। जैन एवं बौद्ध संस्कृति श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत आती है तथा अन्य (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त) वैदिक संस्कृति में गिनी जाती है।

श्रमण संस्कृतियों में से जैन संस्कृति बौद्ध संस्कृति से प्राचीन है। जैकोबी ने बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म की प्राचीनता एवं बौद्ध धर्म से पृथकत्व को बहुत से प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है।[४] हॉपकिन्स[५] तथा कोलब्रुक का भी यही मत है कि जैनधर्म दोनों में से अधिक प्राचीन है क्योंकि यह अध्यात्मवाद में विश्वास करता हुआ यह मानता है कि हर एक पदार्थ में जीवन है।[६] अतः यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनतर श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति है।

पुरातत्व-ध्वंसावशेषों द्वारा प्राचीनता

पुरातत्व की दृष्टि से हड़प्पा तथा मोहन-जोदड़ो की सभ्यता के अवशेषों से भी इसकी ऐतिहासिकता ज्ञात होती है। इस सम्बन्ध में यह कथन द्रष्टव्य है—"सिन्धु घाटी की मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव मूर्तियाँ योग मुद्रा में हैं और वे उस सुन्दर अतीत में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं अपितु खड्गासनस्थ देव मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हैं। यह कायोत्सर्ग मुद्रा विशेषतः जैन है, आदिपुराण (१५.३) में ऋषभदेव के तप के सम्बन्ध में कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख है। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित एक खड्गासनस्थ मूर्ति (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) मथुरा संग्रहालय में है। इस मूर्ति की शैली उससे बिल्कुल मिलती है।"[७] मोहन-जोदड़ो में और हड़प्पा में जो खुदाई हुई, उसके अवशेषों का अध्ययन करके विद्वानों ने उसकी संस्कृति को सिन्धु संस्कृति नाम दिया था और खुदाई में सबसे निम्न स्तर पर मिलने वाले अवशेषों को वैदिक संस्कृति से भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष कहा है। भारत के बाहर भी जैन धर्म का प्रसार पुरातन काल में रहा है। कुछ वर्ष पूर्व आस्ट्रिया के बुडापेस्ट नगर के समीपवर्ती खेत में एक किसान को भगवान् महावीर की मूर्ति प्राप्त हुई थी।[८] गम्भीरता पूर्वक अन्वेषण द्वारा जैन धर्म के विषय में कई महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित हो सकते हैं। एक पुरातत्ववेत्ता का कथन है—"अगर हम दस मील लम्बी त्रिज्या लेकर भारत के किसी भी स्थान को केन्द्र बना वृत्त बनावें तो उसके भीतर निश्चय से जैन भग्नावशेषों के दर्शन होंगे।"[९] जैन पुरातत्व की महत्वपूर्ण सामग्री को भ्रान्त धारणाओं के कारण बौद्ध सामग्री घोषित कर दिया है।[१०] इसके अलावा ऐतिहासिक शिलालेखों में भी जैन धर्म का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[११]

विभिन्न विद्वानों की दृष्टि में

जैनधर्म की प्राचीनता केवल महावीर तक ही नहीं बल्कि उसके भी बहुत पूर्व की है। भगवान् महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मानकर वहीं से जैन धर्म का आदिकाल समझना भ्रान्ति है। **डॉ. राधाकृष्णन** के अनुसार "ईसा से एक शताब्दि पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे। जो सबसे पहले तीर्थंकर थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन मत प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है—ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ जैन मत के संस्थापक थे।[१२] इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों के कथनों को भी यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है।"[१३]

जी. आर. फरबांगे के अनुसार—"जैन धर्म की स्थापना शुरूआत कब हुई, इसका पता लगाना असम्भव है। हिन्दुस्तान के धर्मों में जैन धर्म सबसे प्राचीन है।" **कर्नल टॉड** का कथन है—"भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में जैन धर्म ने अपना नाम अजर अमर रखा है।"

हर्मन जैकोबी द्वारा 'स्टडीज इन जैनिज्म' में लिखा गया है—"जैन धर्म एक मौलिक पद्धति है जो सभी धर्मों से नितान्त भिन्न है और स्वतन्त्र है इसलिये प्राचीन भारत के दार्शनिक विचार और धार्मिक अध्ययन के लिये इसका अत्यन्त महत्व है।"

स. जेम्स हेस्टिंग्स का 'इंसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स' में कथन है—"आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन काल में यहाँ तक कि प्रागार्थ काल में प्रचलित था, जिसने भारत के प्राचीनतम दर्शनों सांख्य, योग और बौद्ध का उन्नयन किया।" **ओ. पेर्टोल्ड** ने 'द प्लेस एण्ड इम्पोर्टेन्स ऑफ जैनिज्म इन द कम्परेटिव सायंस ऑफ रिलीजंस' के अन्तर्गत कहा है—"जैन धर्म एक बहुत पुराना धर्म है। विद्वान् स्नातक कठिनाई से यह अनुमान कर सकते हैं कि इसका मूल अत्यन्त सुदूर काल में भारत की प्रागार्थ जाति के समय तक पहुँचता है।"

न्यायमूर्ति रांगलेकरे (बम्बई हाईकोर्ट) के अनुसार—"आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह प्रकट हुआ है कि यथार्थ में ब्राह्मण धर्म का सद्भाव अथवा हिन्दू धर्म रूप में परिवर्तन होने के पहले, बहुत काल पहले जैनधर्म इस देश में विद्यमान था।"[१४]

डॉ. ए. गिरनाट के कथनानुसार "जैनधर्म में मनुष्य की उन्नति के लिये सदाचार को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। जैनधर्म अधिक मौलिक, स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित है। ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा यह अधिक सरल सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है और यह बौद्ध धर्म की तरह शून्यवादी नहीं है।"[१५]

मेजर जनरल फरलांग का मत है—"आर्य लोगों के गंगा तथा सरस्वती तक पहुँचने के बहुत पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् से आठसौ-नौसौ वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व बाईस तीर्थंकरों ने जैनियों को उपदेश दिया था। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जैनधर्म के प्रारम्भ को जानना असंभव है।[१६] इसी मत का समर्थन करते हुए **विद्यालंकार** ने भी लिखा है "जैन धर्म बहुत प्राचीन धर्म है और महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं, जो उस धर्म के प्रवर्द्धक या प्रचारक थे।

सबसे पहला तीर्थंकर राजा ऋषभदेव था, जिसके पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।"[१७]

वैदिक संस्कृति में जैनधर्म

पूर्वोक्त विद्वानों के मतों से तो जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है किन्तु साथ ही साथ वैदिक संस्कृति के साहित्य द्वारा भी इसकी ऐतिहासिकता स्पष्ट होती है। वैदिक संस्कृति में भी श्रमण संस्कृति का स्पष्ट उल्लेख है। उनमें न केवल जैन तीर्थंकरों का उल्लेख है अपितु उनके जीवन के अनेक प्रसंग, उनकी स्तुति, उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग, उनके उपदेश तथा सिद्धान्तों का भी विस्तृत वर्णन है, जिनको संक्षिप्ततः आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

व्रात्य

'व्रात्य' शब्द का अर्थ यद्यपि मनुस्मृति आदि में आचारहीन किया गया।"[१८] व्रात्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि "उपनयन आदि से रहित मानव 'व्रात्य' कहा जाता है, जो वैदिक कृत्यों के लिये अनधिकारी होता है। परन्तु वह विद्वान और तपस्वी हो तो ब्राह्मण भले ही द्वेष करें परन्तु वह पूजनीय होगा।[१९]

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह ब्राह्मणेतर परंपरा थी। मनुस्मृति से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में व्रात्य शब्द का प्रयोग विद्वत्तम महाधिकारी, पुण्यशील इत्यादि के लिये है।[२०]

डॉ. सम्पूर्णानन्द तथा बलदेव उपाध्याय ने इसका अर्थ परमात्मा किया है।[२१] किन्तु व्रात्य किसी देहधारी से सम्बन्धित है। व्रात्य का मूल शब्द 'व्रत' है। इसी अर्थ की पुष्टि डॉ. हेवर ने इस प्रकार से की है—"व्रात्य का अर्थ व्रतों में दीक्षित अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हों, वह व्रात्य है।"[२२]

यह निर्विवाद सत्य है कि व्रतों की परम्परा श्रमण संस्कृति की मौलिक देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कहीं भी व्रतों का उल्लेख नहीं आया है। उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों में जो उल्लेख हुआ है, वह सब पार्श्वनाथ के बाद का है। पार्श्वनाथ की व्रत परंपरा का उपनिषदादि पर प्रभाव पड़ा,[२३] इस तथ्य को मानते हुए रामधारीसिंह दिनकर का कथन है कि "हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में इतने घुलमिल कर इतने एकाकार हो गये कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जैन धर्म के उपदेश थे, हिंदुत्व के नहीं।"[२४]

वेदों के अनुसार व्रात्य अर्थात् अप्रतिबद्ध बिहारी[२५] व्रतों को मानने वाले, अर्हन्तों (सन्तों) की उपासना करते थे और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके सन्त ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। इस व्रात्य परंपरा के लोग पर्यटनशील, व्रतनिष्ट एवं अहिंसा के

आराधक थे, जिनका विश्वास आत्मकल्याण एवं आत्मविशुद्धि में था।[२६] यह परम्परा भी बहुत सम्भवतः सिंधु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह, श्रमण संस्कृति की अनुयायी थी।[२७]

व्रात्य के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है "लिच्छवी लोग व्रात्य अथवा अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। उनकी प्रजातंत्ररूप शासन पद्धति थी। उनके देवस्थान पृथक् थे। उनकी पूजा अवैदिक थी। उनके धर्मगुरु पृथक् थे। वे जैन धर्म का संरक्षण करते थे।"[२८]

वातरशना मुनि

वातरशना मुनि का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे पिंगल वर्ण वाले दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक देते हैं तब वे अपने तप द्वारा दीप्तिमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं कि "मुनिभाव से प्रमुदित हम वायुभाव में स्थित हो गये। मर्त्यों तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।"[२९]

वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को नाभि तथा मरूदेवी के पुत्र ऋषभदेव ने प्रारम्भ किया। इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत पुराण में दृष्टिगत होता है, जिससे यह भी श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित ज्ञात होता है। तैत्तिरीयारण्यक में ऋग्वेद के 'मुनयोः वातरशना' को श्रमण ही बताया है तथा भगवान् ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[३०] आरण्यक में वातरशना एवं श्रमण तथा उपनिषद में तापस एवं श्रमणों का एकीकरण भी उल्लिखित है।[३१]

ऋग्वेद के वातरशना मुनि श्रमण अथवा यत्ति हैं, जिनमें तपस्या एवं योग का महत्व था। श्रमण संस्कृति में वैदिक यज्ञादि का विरोध था तथा योग का महत्व था। वैदिक धर्म के विरुद्ध होने से इसके लिये दास, दस्यु, असुर आदि शब्द प्रयुक्त किये गये। "ये दास दस्यु पुर में रहते थे और उनके पुरों का नाश करके आर्यों के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पदवी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियों और मुनियों की भी हत्या की।"[३२] इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि श्रमण और ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध है। सम्भव है ये मुनि, यति शब्द उन मूल भारत के निवासियों की संस्कृति के सूचक हैं।[३३] यदि जैन धर्म का पुराना नाम यति धर्म या मुनि धर्म माना जाये तो इसमें आपत्ति की बात न होगी।

ऋषभदेव

ऋषभदेव को न केवल जैनधर्म में ही बल्कि वैदिक संस्कृति में भी उपास्य माना है। अनेक स्थलों पर उनकी गौरवगाथा वैदिक साहित्य में प्रस्फुटित हुई है।

ऋग्वेद में ऋषभदेव की स्तुति करते हुए ऋषि द्वारा कहा गया है कि "आत्मदृष्टा प्रभो! परम सुख प्राप्त करने के लिये हम आपकी शरण में आना चाहते हैं।"[३४] अथर्ववेद में मानवों को ऋषभदेव के आह्वान हेतु प्रेरित करते हुए लिखा है—"हे सहचरं बंधुओ! तुम आत्मीय श्रद्धा द्वारा उसके आत्मबल और तेज को धारण करो।"[३५] जिस प्रकार से जैन परम्परा में ऋषभदेव द्वारा तत्कालीन जनता को अग्नि आदि के बारे में ज्ञान देने वाला तथा अन्नादि द्वारा उनका पोषण करने का उल्लेख है, वैसे ही उसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"रक्षा करने वाला, सभी को अपने भीतर रखने वाला, स्थिर स्वभावी, अन्नवान् ऋषभ संसार के उदर का परिपोषण करता है। इस दाता ऋषभ को परमैश्वर्य के लिये विद्वानों के जाने योग्य मार्गों से बड़े ज्ञान वाला, अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष प्राप्त करे।"[३६] वैदिक ऋषियों ने विविध प्रतीकों द्वारा भी उनकी स्तुति की है। जैन परंपरा के अनुसार ऋषभदेव केश रखने के कारण केशी, केशरी अथवा केशरिया कहलाये, जैसे सिंह अपने केशों के कारण केशरी कहलाता है। इस केशी नाम से भी ऋषभदेव की स्तुति वेदों में की गई है। ऋग्वेद में वातरशना मुनि के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि केशी ऋषभदेव ही थे। वहाँ ऋषभ की स्तुति केशी रूप में की गई है।[३७] ब्रह्मा द्वारा की गई वर्ण व्यवस्था[३८] की तुलना में हम जैन परम्परा में वर्णित ऋषभदेव द्वारा आजीविका को व्यवस्थित करने हेतु की गई वर्ण स्थापना को देख सकते हैं। इसी प्रकार जाज्वल्यमान अग्नि, परमेश्वर, रूद्र आदि रूपों में भी ऋषभदेव संस्तुत है।[३९]

पुराणों में ऋषभदेव

पुराणों में ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन है। भागवतादि पुराणों में उनका जीवन चरित अंकित है। उनमें प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ इन पाँचों पीढ़ियों की वंश परंपरा का वर्णन करते हुए लिखा है कि—ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं श्री भगवान् विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ में आये, वरदान के फलस्वरूप उन्होंने ऋषभ के रूप में जन्म लिया। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।[४०] ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए। बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके वे संन्यासी (योगी) बन गये। उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और नग्न विचरण करते थे, मौन रहते थे। कोई डराये, मारे, पत्थर फेंके अर्थात् कुछ भी करे, वे इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है, ऐसा समझकर अहंकार, ममत्व का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलीन हो गया था। उनका क्रिया-कर्म बड़ा भयानक था।

शरीरादिक का सुख छोड़कर उन्होंने आजगर व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्द का अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते कौंक, वेंक, कुटक आदि देशों में पहुँचे और कुटकाचल पर्वत के उपवन में उन्मत (परमहंस) की नाई (भांति) विचरण करने लगे। जंगल में बांसों की रगड़ से अचानक आग लग गई और उन्होंने उसी में प्रवेश करके अपने को भस्म कर दिया।[४१]

विष्णु पुराण में भी ऋषभदेव का वर्णन है, जो पूर्वोक्त वर्णन से कुछ भिन्नता रखता है। उसके अनुसार भरत को राज्याधिकार सौंपने के पश्चात् वे तपश्चरण के लिये पुलहाश्रम चले गये। वहाँ तपश्चरण के कारण अत्यन्त कृश हो गये। अन्त में अपने मुख में पत्थर की एक वटिया रखकर नग्नावस्था में उन्होंने महाप्रस्थान किया।[४२]

इस प्रकार से ऋषभदेव के अन्तिम जीवन के सम्बन्ध में पुराणों में विभिन्न मत दर्शित होते हैं, जो जैन परंपरा से भिन्नता रखते हैं, किन्तु उनके माता-पिता, पुत्रादि का वर्णन, तपश्चरण, अनासक्त योग वर्णन, समदर्शी रहना, कैवल्य पति होना आदि जैन सम्मत तथ्य हैं। इसके अतिरिक्त भागवत पुराण में ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को दिया गया उपदेश भी जैन धर्म के अनुकूल ही है। उनको पुराणों में भी जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक माना है तथा उनके पुत्र भरत के अनासक्त योग इत्यादि अनेक प्रसंगों का चित्रण हुआ है।

शिव पुराण में उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया है तथा निवृत्ति मार्ग की वृद्धि के लिये उनका जन्म होने का वर्णन है।[४३] प्रभास पुराण में भी कहा गया है[४४]—

कैलाशे विमले रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः
चकार स्वावतारं च, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥[४५]

इसी प्रकार अन्य अनेक पुराणों में भी उनका उल्लेख हुआ है।[४६]

यद्यपि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ऋषभदेव के अस्तित्व काल की अवधि निश्चित नहीं की जा सकती, फिर भी जैन ग्रन्थों में वर्णित ऋषभदेव के समय की सामाजिक व्यवस्था ऋग्वेदकालीन समाज की अपेक्षा ज्यादा प्राचीन है। ऋषभकालीन समाज में राज्य, लेखन-पाठन, कृषि, वाणिज्य शास्त्रादि की व्यवस्थाएँ नहीं थी। वर्तमान लग्नप्रथा भी नहीं थी। साथ-साथ उत्पन्न युगल ही पति-पत्निवत् व्यवहार करते थे, जबकि ऋग्वेद में इन व्यवस्थाओं अर्थात् कृषि, शस्त्र, राज्य, युद्ध आदि का उल्लेख स्पष्टतः है, साथ ही लग्नप्रथा भी उससे भिन्न है जो कि यम-यमी संवाद से स्पष्ट हो जाता है।[४७] अतः ऋग्वेद का समाज ऋषभदेवकालीन समाज से आगे बढ़ा हुआ है,

इसमें सन्देह नहीं है। संस्कृति के विकास का उसे प्रारम्भ काल या उषःकाल कहा जा सकता है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में ऋषभदेव का प्रचुर वर्णन उपलब्ध होता है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि ऋषभ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावक था तथा जनता में प्रतिष्ठित था। जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं था, इसीलिये श्रमण तथा ब्राह्मण दोनों ही संस्कृतियों में वह उल्लिखित था।

ऋषभदेव एवं शिव

पं. कैलाशचंद्र,[४८] डॉ. राजकुमार जैन इत्यादि चिन्तकों ने वृषभदेव तथा शिव के एकीकरण की भी सम्भावना प्रकट की है। डॉ. राजकुमार जैन[४९] ने वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए तथा विमलसूरि कृत पउमचरिउं के जिनेन्द्ररूद्राष्टक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'जिनेन्द्ररूद्राष्टक' में भी जिनेन्द्र भगवान का रूद्र के रूप में स्तवन इस प्रकार से किया है कि "जिनेन्द्र रूद्र पापरूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, क्रोध एवं मोह रूपी त्रिपुर के दाहक हैं। उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, वे संयम रूपी वृषभ पर आरूढ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धि रूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्ध भाव रूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रत रूपी मानव मुण्डों के मालाधारी हैं, दश धर्म रूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपः कीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजाने वाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीति रहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्वपरिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्य वाणी रूपी विकट जटा कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।"

लोक साक्ष्यों के आधार पर शिव तथा ऋषभ में अनेक समानताएँ हैं—

शिव के कैलाश वास तथा उनसे सम्बन्धित शिव रात्रि की तुलना में जैन परम्परानुसार भगवान ऋषभदेव के आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर पहुँचकर योगनिरोध तथा कर्मक्षय द्वारा माघकृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त करना द्रष्टव्य है।

गंगावतरण के संदर्भ में लिखा है—ऋषभदेव को असर्वज्ञ दशा में जिस स्वसंवित्ति रूपी ज्ञान गंगा की प्राप्ति हुई, उसकी दिव्य धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के माध्यम से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

त्रिशूल धारी शिव के समान ऋषभदेव रत्नत्रय युक्त थे।

माहेश्वर सूत्र को महेश्वर से आगत कहा जाता है, वैसे ही जैन परंपरा ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई ब्राह्मी लिपि है, जिसकी अक्षर विद्या तथा माहेश्वर सूत्र बद्ध वर्णमाला में स्वरूपतः ऐक्य है।

शिव का वाहन वृषभ (बैल) है, उसी प्रकार जैन मान्यतानुसार ऋषभदेव का चिह्न वृषभ है।

जटा जूट के सम्बन्ध में भी यह तुलनीय है कि भगवान ऋषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने से पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन में केश बहुत बढ़ गये थे।

अन्य तीर्थंकर

वस्तुतः ऋषभदेव का विस्तृत तथा अनेक रूपों में भारतीय साहित्य में विवरण मिलता है। केवल ऋषभदेव का ही नहीं, अन्य तीर्थंकरों का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में है। यजुर्वेद में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का वर्णन है।[५०] सोरेन्सन ने महाभारत के विशेष नामों का कोष बनाया है जिसमें सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम ऐसे हैं, जो तीर्थंकरों के नामों से साम्य रखते हैं। विशेष ध्यातव्य है कि ये तीनों ही असुर थे—पौराणिक मान्यतानुसार जैनधर्म असुरों का धर्म है। ईश्वर के अवतारों में जिस प्रकार ऋषभ को अवतार माना है, उसी प्रकार सुपार्श्व तथा चन्द्र को भी अंशावतार माना है। विष्णु और शिव के सहस्रनाम जो महाभारत में दिये गये हैं, उनमें श्रेयांस, अनन्त, धर्म, शान्ति, संभव नाम भी हैं, जो जैन तीर्थंकरों के भी मिलते हैं। इससे पता चलता है कि पौराणिक (ऐतिहासिक) महापुरुषों का अभेद शिव और विष्णु से करना यह भी उनका एक प्रयोजन था। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाये तो सुव्रत नाम ठहरता है। महाभारत में विष्णु और शिव का भी एक नाम सुव्रत मिलता है। नाम साम्य के अलावा इन महापुरुषों का सम्बन्ध असुरों से जोड़ा जाता है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि ये वेद विरोधी थे। इससे उनके श्रमण परंपरा से सम्बद्ध होने की संभावना दृढ़ होती है।[५१]

ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर अरिष्ट नेमि (जिनके कृष्ण चचेरे भाई थे) का उल्लेख हुआ है।[५२] उनको वहाँ तार्क्ष्य अरिष्टनेमि भी लिखा है।[५३] यजुर्वेद में कहा गया है कि अध्यात्म यज्ञ को प्रगट करने वाले संसार के भव्य जीवों को यथार्थ उपदेश देने वाले तथा जिनके उपदेश से आत्मा पवित्र बनती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिये आहुति समर्पित करता हूँ।[५४] छांदोग्योपनिषद् में उनका वर्णन 'घोर आंगिरस' के नाम से आया है, उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्म यज्ञ की शिक्षा प्रदान की, जिसकी दक्षिणा दान, तपश्चर्या, ऋजुभाव, अहिंसा, सत्य वचन रूप थी।[५५] महाभारत में भी उनकी स्तुति स्वरित हुई है।[५६] स्कन्द पुराण में कहा गया है—अपने जन्म के पिछले

भाग में वामन ने तप किया, जिसके प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये, वे (शिव) श्याम वर्ण, अचेल तथा पद्मासन से स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों का नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्श से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।[५७]

इस प्रकार से पुराणादि साहित्य में न केवल तीर्थंकरों का ही वर्णन है, अपितु नामशः आर्हतधर्म (जैनधर्म) तथा उसके सिद्धान्त भी निरूपित हैं।

पुराणों में आर्हत्धर्म या जैनधर्म

"पुराण साधारणतः जैनधर्म से परिचित हैं। ज्ञात होता है जैनधर्म के ख्याति काल में यह पुराण जैन मत के प्रभाव से वंचित न रह सके, इसी कारण विष्णु, पद्म, दैवी भागवत और मत्स्य समान रूप से जैन धर्म के प्रति परिचय प्रकट करते हैं।"[५८] अधिकतर पुराणों में जैन धर्म का उल्लेख आर्हतधर्म के नाम से है। पुराणों में जो देवासुर संग्राम का वर्णन है, उसके सन्दर्भ में कहा जाता है कि वह संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। उसमें से असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे, परन्तु विद्वेष के कारण 'असुर' शब्द का अर्थ हिंसक का पर्यायवाची बना दिया गया है। पद्म पुराण, विष्णु पुराण आदि पुराणों में इनके विषय में पर्याप्त विवेचन है। अर्हन् शब्द जो कि श्रमण संस्कृति में वीतराग भगवन्तों के लिये प्रयुक्त किया जाता है, उसका भी अनेकदा उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। अर्हत के उपासक होने से जैन लोग आर्हत कहलाते थे। इस आर्हत परंपरा का वर्णन श्रीमद्भागवतादि पुराणों में[५९] स्पष्ट उपलब्ध होता है। श्रमण नेता के लिये ऋग्वेद में भी 'अर्हत' शब्द प्रयुक्त है।[६०]

पद्म पुराण के अनुसार आर्हत धर्म माया-मोह द्वारा कथित है, इस धर्म के आश्रित आर्हत कहलाये, माया-मोह द्वारा सब दैत्य वेदत्रयी के धर्म से छुड़ाकर असुर करा दिये गये। वे संयम में स्थिरवादी होते हुए अर्हत को मेरा नमस्कार हो, ऐसा कहते थे। इस पुराण में आर्हतों की विचारधारा इस प्रकार की बताई गई है—"यदि आप लोगों को स्वर्गीय निवास अथवा निर्वाण पद प्राप्त कर लेने की अभिलाषा है यज्ञादि के पशुपात करना बन्द कर दो।

यह सम्पूर्ण जगत आधार से रहित है और इसमें केवल भ्रान्ति का ही ज्ञान भरा हुआ है, यह राग आदि से अत्यधिक दोषपूर्ण है, इसी से यह जीवात्मा इस संसार के संकट में भ्रान्त किया जाता है। वेद, यज्ञादि कर्म समूह, द्विजन्मी ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा गया है कि—

यह वचन युक्तिसंगत कभी भी नहीं हो सकता कि हिंसा से धर्म होता है। (कोविदगण विज्ञान अग्नि में दग्ध हवि फलों से हिंसा नहीं करते)। यज्ञ में वध किये

हुए पशु से जो स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा की जाती है, यदि ऐसा है तो यजमान के द्वारा वहाँ अपने पिता का वध क्यों नहीं किया जाता है। यदि अन्य के द्वारा खाये हुए से पितृगण की तृप्ति होती है तो प्रवास में रहने वाले को भी श्राद्ध दिये जाने से वह प्रवासी भी उसे प्राप्त कर तृप्त हो जाना चाहिए। जहाँ पर अनेक यज्ञों से देवत्व को प्राप्त करके इन्द्र के द्वारा स्वर्ग का भोग किया जाता है। शमी आदि यदि काष्ठ है तो उससे श्रेष्ठ तो पत्तों को खाने वाला पशु है। ये सब बातें लोगों की श्रद्धा के योग्य नहीं हैं।[६१] इससे आगे दीक्षित होकर केश लुंचन का[६२] चौबीस तीर्थंकर[६३] एवं पंचांग मंत्र (परमेष्ठी नमस्कार मंत्र) के उल्लेखपूर्वक यह मनोरथ व्यक्त किया गया है—"पंचांग मंत्र जपते हुए (हम) विरागी और अमर्षय होकर कब सूर्य की अग्नि के समान तेज वाले हों, उस प्रकार से तप करने वाले काल के पर्यय से मृत्यु प्राप्त होने पर कर्मों का कब पाषाण से सिर का भग्न होगा। हम लोगों का वन में जहाँ कोई भी नहीं रहता हो, कब निवास होगा और श्रावक होकर परम सावधान होते हुए कब जाप करेंगे।"[६४]

पालक द्वारा वेन को आर्हत धर्म के सिद्धान्त इस प्रकार से बताये गये कि इस धर्म में अर्हन्त देवता, निर्ग्रन्थ गुरु तथा दया करना ही सबसे बड़ा धर्म है, यजन करना कराना, वेदाध्ययन, संध्योपासना, स्वधा, स्वाहा, हव्य-कव्य प्रभृति का निषेध होता है तथा श्राद्ध तर्पण बलि वैश्वानार आदि भी नहीं होते हैं। इसमें मात्र लक्षण पूजन ही परम प्रधान अर्चना है तथा अर्हन्त का ध्यान ही सर्वोत्तम ध्यान माना है। वस्तुतः जहाँ दया की कमी होती है, वहाँ तो चपलता ही होती है, धर्म नहीं होता। वे वेद जो कहे जाते हैं, वेद नहीं हैं, जिनमें दया का विधान नहीं है। जो दया और दान से परायण होता हुआ जीवों की रक्षा किया करता है, चाहे वे शूद्र हों या चाण्डाल भी क्यों न हो, वही ब्राह्मण कहा जाता है तथा आगे तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—यदि जलाशयों में स्नान करने से ही महान् पुण्य होता है तो फिर मत्स्यों में सबसे अधिक उसका पुण्य क्यों नहीं माना जाता है।"[६५]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आर्हतों की जीवनचर्या तथा विचारधारा कैसी थी। वे प्रवृत्ति मार्गी न होकर निवृत्ति मार्गी थे, जिसका (निवृत्ति मार्ग का) पुराणों में कई स्थलों पर समर्थन अभिव्यक्त होता है। यद्यपि यहाँ माया-मोह को इसका उपदेष्टा बताया है जबकि ज्यादातर ऋषभदेव को ही जैन धर्म का प्रवर्तक कहा गया है। इसी प्रकार से विष्णु पुराण में भी आर्हतधर्म का उल्लेख है। उसमें दिगम्बर तथा साम्बरों (श्वेताम्बरों) का भी उल्लेख है।[६६] मत्स्य पुराण के रजि के वृतान्त के अनुसार—"बृहस्पति द्वारा प्रणीत इस शास्त्र को 'जिन धर्म' कहा गया है। यह हेतुवाद पर आश्रित माना गया है।"[६७]

इस प्रकार पुराणों में जैन धर्म का बहुत वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में वर्णित अहिंसादि कई सिद्धान्त भी जैन धर्म से साम्य रखते हैं।

जैन परम्परानुसार जैनधर्म का इतिहास

वस्तुतः धर्म का कोई स्वतन्त्र इतिहास नहीं होता, परन्तु उस धर्म को धारण करने वाले के आधार पर ही उसका इतिहास लिखा जा सकता है।

इसकी आदि के सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म तभी से प्रवर्तमान है, जब से मनुष्य है, और जब से मनुष्य में विकास है।[६८]

इस युग में जैन धर्म का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव के द्वारा हुआ—यह एक सर्वसम्मत तथ्य है। ऋषभदेव का काल इतना प्राचीन है कि उस समय में किसी भी प्रकार की अन्य सामाजिक अथवा धार्मिक व्यवस्थाएँ नहीं थीं। इसी से हम इसकी प्राचीनता का अनुमान लगा सकते हैं। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यह धर्म इतना प्राचीन है कि प्राचीनतम ग्रन्थों अथवा अवशेषों आदि में इसका उल्लेख अवश्य पाया जाता है अर्थात् जिन्हें प्राचीन से प्राचीन ग्रंथ माना जाता है, उनमें इसके प्रमाण मिल जाते हैं।

जैनधर्म के मुख्य प्रचारक : तीर्थंकर

तीर्थंकर जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—धर्मसंघ रूपी (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) तीर्थ की स्थापना करने वाले। यहाँ यह विशेष बात है कि जैन परंपरा, वैदिक परंपरा की तरह तीर्थंकरों को 'अवतार' नहीं मानती। अवतारवाद के अनुसार ईश्वरीय स्थिति से नीचे उतरना सूचित होता है। जो भी महापुरुष अथवा विशिष्ट पुरुष होते हैं, उन्हें वैदिक परंपरा में अवतार मान लिया गया है। जबकि जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों या महापुरुषों की आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है। वे ईश्वर से मनुष्य न बनकर मानव से ईश्वर बनते हैं।

जैन परंपरा के अनुसार प्रत्येक युग (उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल) में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर (वर्धमान) थे।

अन्य तीर्थंकरों का वर्णन भगवती आदि सूत्रों में पाया जाता है। महावीर के समय में कई दर्शन विद्यमान थे। इन सभी के बीच उन्होंने जैन दर्शन का निरूपण किया तथा तत्कालीन कई अयुक्तियुक्त मान्यताओं का खण्डन किया। उनके उपदेशों को गणधरों तथा आचार्यों ने संकलन करके आगम रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी आर्य सुधर्मा बने। इसी प्रकार जम्बूस्वामी प्रभवस्वामी आदि परंपरा चलती गई। महावीर के समय में भी सचेलक-अचेलक दोनों प्रकार के साधुओं का उल्लेख है। पश्चात्कालीन परंपरा में ज्ञान की अल्पता होती गई। शाखाएँ

ही नहीं—प्रशाखाएँ भी निकलती गई। अनेक प्रकार के चढ़ाव-उतार आते गये—इन अर्वाचीन-कालीन विभिन्न शाखाओं में यद्यपि कुछ मान्यताओं में वैभिन्न्य हैं, फिर भी मौलिक सैद्धान्तिक धरातल सबका एक ही है। उन सिद्धांतों का समर्थन ही नहीं, उनके निरूपण-प्रचार के लिये आचार्य हरिभद्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हेमचन्द्र, उमास्वाति प्रभृति महान् विद्वानों ने बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना करके घटते जा रहे जैन साहित्य भण्डार को सर्वांगता दी है। दार्शनिक काल में इन अनेक आचार्यों ने दर्शन से सम्बन्धित विविध ग्रंथों की रचना की। प्रत्येक तीर्थंकर, गणधर, आचार्यादि जैन परम्परा के विशिष्ट पुरुषों के जीवन-प्रसंग यहाँ विस्तारभय से नहीं दिये जा रहे हैं।

जैनधर्म की विशिष्टताएँ

जिस प्रकार बुद्ध के अनुयायी बौद्ध, शिव को मानने वाले शैव कहलाते हैं, उसी प्रकार 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाते हैं जिन द्वारा प्रवर्तित मार्ग पर चलने वाले, उनका अनुसरण करने वाले एवं जिनत्व की प्राप्ति में प्रयत्नशील 'जैन' कहलाते हैं तथा 'जिन' द्वारा उपदिष्ट होने से यह जैन धर्म कहलाता है। इसे आर्हत धर्म, वीतराग धर्म भी कहा जाता है।

'जिन' शब्द की निरुक्ति के अनुसार इसका तात्पर्य यह है—जिन्होंने राग-द्वेष-मोहादि अंतरंग रिपुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वे जिन हैं—'जयति निराकरोति राग-द्वेषादि—रूपानरातीनिति जिनः'[६९] उनके लिये कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता, क्योंकि जिनके अंतरंग विकार नष्ट हो जाते हैं, इसलिए उनके मन में किसी के भी प्रति शत्रुत्व अथवा मित्रत्व का भाव नहीं रहता और बाह्य-जगत में भी उनका कोई शत्रु आदि शेष नहीं रहता। अंतरंग विकारों (रागद्वेषादि) का अभाव होने से उनके वचन भी सत्य (यथार्थ) होते हैं, क्योंकि जिनमें ये दोष नहीं हैं, उनके अनृत बोलने का कारण क्या हो सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं।[७०]

जैन संस्कृति किसी भी व्यक्ति विशिष्ट से सम्बद्ध नहीं है। यह इसके महामंत्र से ही स्पष्ट हो जाता है। इस महामंत्र में इन पंच परमेष्ठी (सर्वोत्कृष्ट, लोकपूज्य) को नमस्कार किया गया—[७१] अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु।

इसमें देवतत्व (भगवत्तत्व) तथा गुरुत्व दोनों ही समाहित हैं। परमेष्ठी का अर्थ परम पद पर स्थित होने वाले हैं—'परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी'। वैदिक साहित्य में भी परम पद प्राप्त अर्थात् परम पद पर स्थित, पूजनीय, वंदनीय, आदरणीय, आचरणीय है उसी पद पर परमेष्ठी की श्रद्धा केन्द्रित हुई है।[७२]

अरिहंत और सिद्ध ये साधना की पूर्ण अवस्थाएँ हैं।

अरिहन्त 'अर्ह' पूजायाम् धातु से बनने वाले अर्हन्त शब्द का अर्थ पूज्य है। अरि कर्मशत्रु का हनन करने वाला अरिहंत है। तीर्थंकर भी अरिहंत पद के अन्तर्गत

आ जाते हैं। तीर्थंकर का अर्थ है—तीर्थ के स्थापक; जिसके द्वारा संसाररूप मोह-माया का नद सुविधापूर्वक तिरा जाये; वह धर्मतीर्थ कहलाता है तथा उस धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।

सिद्ध

अरिहंत ही शेष अघातिकर्मों को क्षय करने के पश्चात् सिद्ध कहलाते हैं।

आचार्य

सत्पुरुषों द्वारा किया जाने वाला व्यवहार अथवा आचरण करने योग्य या आदरने योग्य व्यवहार आचार कहलाता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य इन पंचाचारों को स्वयं पालन करने वाले और दूसरों से पालन करवाने वाले मुनिराज आचार्य कहलाते हैं।

उपाध्याय

जो गुरु वगैरह गीतार्थ महात्माओं के पास सर्वदा रहते हैं, जो शुभयोग तथा उपधान (तपश्चरण) धारण करके मधुर वचनों से सम्पूर्ण शास्त्रों का अभ्यास करके पारंगत हुए हैं और जो अनेक साधुओं एवं गृहस्थों को पात्र-अपात्र की परीक्षा करके यथायोग्य ज्ञान का अभ्यास कराते हैं, ऐसे साधु उपाध्याय कहलाते हैं।

साधु

जैसे मंत्रवादी अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये उसी ओर सम्पूर्ण लक्ष्य देकर, आने वाले विविध उपसर्गों को पूर्ण दृढ़ता के साथ सहन करता है, इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने आत्मा की विशुद्धि करने के लिये उसी ओर ध्यान एकाग्र करके अर्थात् एकमात्र मोक्ष के लिये ही आत्मा का साधनकरता है, उसे साधु कहते हैं।"[३]

उपर्युक्त पाँचों परमेष्ठियों में कोई भी पद व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित न होकर गुणों पर ही आधारित है। वस्तुतः जैन धर्म व्यक्ति पूजक न होकर, गुण पूजक है।

जैन धर्म की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

अहिंसा, अनेकान्तवाद, द्रव्य, साधना मार्ग।

अहिंसा

यद्यपि सभी धर्मों में अहिंसा मान्य है, परन्तु जैन धर्म में अहिंसा का विशिष्ट तथा सूक्ष्मरूप व्याख्यात है। धर्म का केन्द्र बिन्दु अहिंसा को बताया है। अन्य समस्त आचार उसी को उद्देश्य करके निर्धारित किये गये हैं।

जैनाचार्यों के अनुसार—मात्र प्राण-व्यवरोपण अर्थात् दूसरों के प्राणों का हरण करना ही हिंसा नहीं है, बल्कि हिंसा की परिभाषा यह है—

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यवरोपणं हिंसा'।[७४]

अर्थात् प्रमाद के कारण प्राणों का जो हनन होता है, वह हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है—अपने शुद्धोपयोगरूप प्राण का घात रागादि भावों से होता है, अतएव रागादिक भावों का अभाव ही अहिंसा है और शुद्धोपयोगरूप प्राणघात होने से उन्हीं रागादिक भावों का सद्भाव हिंसा है। कषाय से अपने-परके, भावप्राण तथा द्रव्यप्राण का घात करना यह हिंसा का लक्षण है।[७५]

अहिंसा के सन्दर्भ में 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का चिन्तन प्रस्तुत करते हुए लिखा है—जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिये पसंद नहीं करते, उसे दूसरा भी पसंद नहीं करता। जिस अच्छे व्यवहार को तुम पसंद करते हो, उसे सभी पसंद करते हैं।[७६]

अहिंसा के अन्तर्गत सभी सद्गुण आ जाते हैं। अहिंसा का परिपालन करने वाले व्यक्ति के लिये अनासक्ति तथा त्यागवृत्ति भी आवश्यक होती है, तभी अहिंसा का सम्यक् रूपेण पालन हो सकता है। स्थूल दृष्टि से अहिंसा आचार पक्ष से सम्बन्धित लगती है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध विचार पक्ष से भी उतना ही है। यथार्थ रूप से राग आदि उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और इनका उत्पन्न होना हिंसा है। यदि व्यक्ति का स्व-विवेक, अन्तर्दृष्टि नहीं हो तो वह अहिंसा का गहन तथ्य नहीं समझ सकता है तथा ज्ञान के अभाव में सम्यक् आचार (चारित्र) की उपलब्धि भी नहीं होती।[७७]

अनाग्रह या अनेकान्त का सिद्धान्त वैचारिक अहिंसा है।[78] वास्तव में अहिंसा और अनेकान्त इन दो शब्दों में समग्र श्रमण परंपरा का सार आ जाता है। अनेकान्त को भली-भाँति समझे बिना और व्यवहार में लाये बिना अहिंसा नितान्त अधूरी और लंगड़ी रहती है।[७९]

वस्तुतः अहिंसा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसके अन्तर्गत—सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि निवृत्तिमूलक आचार तथा दया, अनुकम्पा, अभय, क्षमा, समत्व, संयम, तप आदि प्रवृत्तियाँ; विवेक, अनेकान्त आदि विचारात्मक प्रवृत्तियाँ भी समाहित हो जाती हैं। ज्ञानी होने का सार हिंसा नहीं करना ही नहीं है, अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है।[८०] इस प्रकार जैन धर्म में अहिंसा परम मूल्य है। अन्य सभी मूल्य अहिंसा से ही निगमित होते हैं।

जैन धर्म की अहिंसा का प्रभाव निम्नोक्त कथन से स्पष्ट होता है—"यह अहिंसा धर्म लोगों के जीवन में उतरते-उतरते इतना गहरा घर कर गया है कि इसके विरुद्ध चलने से सभी को लोक निन्दा का भय होने लगा। इसी कारण से महावीर के उत्तरकाल में हिन्दू स्मृतिकारों और पुराणकारों ने जितना आचार सम्बन्धी साहित्य

लिखा है, उन सबमें उन्होंने नरमेध, अश्वमेध, पशुबलि और मांसाहार को लोक विरुद्ध होने से त्याज्य ठहराया है।"[८१]

अनेकान्त

भारतीय दर्शन को जैन दर्शन की अमूल्य देन है, अनेकान्तवाद। उस अनेकान्तमयी दृष्टि को जिस भाषा पद्धति द्वारा व्यक्त किया जाता है, वह स्याद्वाद कहलाता है। एकान्तदृष्टि, हठाग्रह को स्थान न देकर नवीनता, सत्यता को ग्रहण करने हेतु अनेकान्तवाद एक ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जिससे अधिकांश विवादों का समाधान सहज ही हो सकता है। इसके अभाव में कभी भी सत्य का दर्शन सम्भव नहीं है।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त हमें वैचारिक सहिष्णुता प्रदान करके दूसरों के विचारों का सम्मान करना सिखाता है तथा यह बोध कराता है कि सत्य हमारी निजी सम्पत्ति नहीं है, प्रत्युत यह दूसरों के पास भी हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य के अनेक पक्ष हैं (अनन्तधर्मात्मक वस्तुः)। वैचारिक असहिष्णुता, हठाग्रह सत्य प्राप्ति में बाधक हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र में एकान्तवाद का निषेध करते हुए कहा है कि—"अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसार चक्र में भटकते रहते हैं।[८२] जो श्रमण और ब्राह्मण—अपने दर्शन के अनुसार जीवन धारण करता है उसी को मोक्ष की प्राप्ति होगी, अन्य दर्शन के अनुसार जीवन धारण करने वालों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहने वाले एकान्त जीवन-दर्शन की मैं निन्दा करता हूँ।"[८३]

अनेकान्त की परिभाषा यह है 'अर्थोह्यनेकान्तः अनेके अन्ताः अनुवृत्तव्यावृत्त प्रत्ययगोचराः सामान्य-विशेषदयो धर्माः यस्य सोऽनेकान्तः'[८४] तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु मात्र एक धर्मात्मक न होकर अनन्तधर्मात्मक होती है। अनेकान्त नयों पर आधारित है। किसी एक अपेक्षा से वस्तु के एक ही धर्म को जाना जा सकता है, सभी को नहीं। यथा आत्मा को समझने के लिये उसके नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, भिन्नत्व-अभिन्नत्व इत्यादि अनेक धर्मों को समझना जरूरी है। मात्र एक ही दृष्टि पर निर्धारित निर्णय पूर्ण सत्य नहीं होता। जब तक उसके सम्पूर्ण पक्षों पर विविध दृष्टियों से विचार नहीं किया जाता है, तब तक सत्य अपूर्ण ही रहता है। इस सत्यता का दिग्दर्शन अनेकान्तवाद द्वारा ही हो सकता है।

द्रव्य

द्रव्य के सम्बन्ध में जैन दर्शन की अनेकान्तिक विशिष्ट अवधारणा है। बौद्ध दर्शन में द्रव्य (सत्) को क्षणिक बताया तथा इसके विपरीत शांकर दर्शन में वह नित्य है। बौद्ध दर्शन में सत् को क्षणिक मानकर नित्यत्व को आभास कहा है जबकि

शांकर दर्शन में सत् को नित्य मानकर उसके परिणाम को आभास बताया है। किन्तु जैन दर्शन में वर्णित सत् इन दोनों के बीच समन्वय प्रस्तुत करते हुए द्रव्य को उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्ययुक्त बताता है—'उत्पाद-व्ययध्रौव्य-युक्तं सत्'[८५] उसमें उत्पत्ति-विनाश की प्रक्रिया के चलते हुए भी वह ध्रुव है, नित्य है। सत् का अर्थ यहाँ मात्र कूटस्थ नित्य सत्ता न होकर तद्भावाव्यय (जो अपने भाव को कभी नहीं छोड़ता है) है।

वस्तु (सत्) त्रयात्मक है क्योंकि जो सत् न हो और फिर भी पदार्थ हो, यह परस्पर विरुद्ध बात है। जो सर्वथा असत् है वह सत्ता के सम्बन्ध से भी सत् नहीं हो सकता, जैसे—आकाश पुष्प। सत्, असत् के अतिरिक्त ऐसी कोई कोटि नहीं जिसमें पदार्थ रखा जा सके।

प्रत्येक पदार्थ (सत्) सामान्य-विशेषात्मक है, भेदाभेदात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक है। क्योंकि कोई भी 'सामान्य' विशेष के बिना नहीं मिलता तथा कोई भी 'विशेष' सामान्य के बिना उपलब्ध नहीं होता। अतः द्रव्य सामान्य तथा विशेष दोनों का समन्वय है। वह द्रव्य दृष्टि से शाश्वत, नित्य तथा अभेदमूलक है किन्तु पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत, अनित्य एवं भेदमूलक है।

द्रव्य का वर्गीकरण मुख्यतया इस प्रकार से हो सकता है—

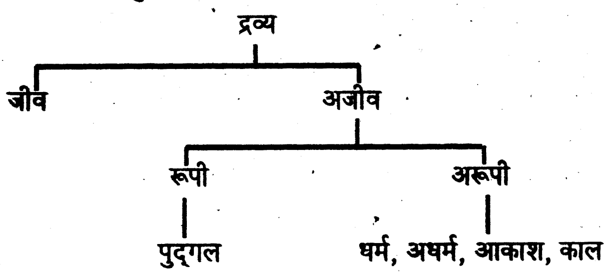

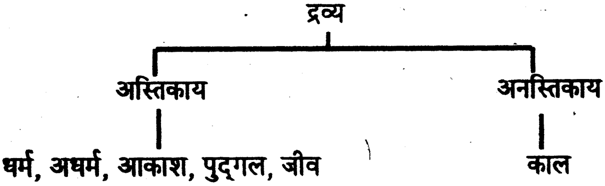

साधना मार्ग

भारतीय संस्कृति के अनुसार साधना का महत्व इतना है कि उसके बल पर मानव के सामने देव-दानवादि समस्त संसार नतमस्तक हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति में सहायक साधनों के विषय में विभिन्न दर्शनों ने अनेक मन्तव्य रखे। किसी ने ज्ञान

को मोक्ष का कारण माना है—'ऋते ज्ञानान्न मोक्षः', किसी ने भक्ति को—'भक्तिरेव मुक्तिदा' तथा किसी ने कर्म को महत्व दिया है—'योगः कर्मसु कौशलम्'।

उपनिषदों में मुख्यतः तत्वज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना गया है तथा *कर्म-उपासना को गौण स्थान पर रखा गया है। बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य,* शांकर-वेदान्त आदि दर्शन भी यही मानते हैं। भक्ति-सम्प्रदाय वालों के अनुसार भक्ति ही मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है तथा ज्ञान-कर्म गौण है। इसके मुख्य प्रणेता रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ इत्यादि हैं। भास्करानुयायी वेदान्ती, शैव ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।[८६]

जैन दर्शन में एकान्ततः ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति को मोक्ष का साधन नहीं मानते हुए इन तीनों के समुच्चय को स्वीकार किया है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'[८७] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय भी कहे जाते हैं। यदि ये सम्यक् अर्थात् आत्माभिमुखी न होकर लौकिक सुखादि के लिये किये जायें तो मुक्ति के बदले बंधन का—संसाराभिवृद्धि का कारण हैं। इनके सम्यक् होने पर ही परिणाम की सम्यक्ता निर्भर है। अथवा इन तीनों का समन्वय न होकर मात्र एक ही हो तो भी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये एक-दूसरे के परस्परापेक्षी हैं। इसलिये इनका समन्वित रूप ही मोक्ष का हेतु बताया गया है।

सम्यक् ज्ञान का तात्पर्य है—विवेकपूर्वक वस्तु के विभिन्न रूपों का परीक्षण कर उसके तथ्य को समझना। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है, उसके प्रति आस्थावान् (निष्ठावान्) बने रहना तथा सम्यक्चारित्र से यहाँ आशय है—जिस तत्व का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा जिस पर श्रद्धा भी है उसका आचरण भी करना, ज्ञान को क्रियात्मक रूप देना, क्योंकि पानी के ज्ञान से प्यास नहीं बुझती है, वस्तुतः स्वपर विश्वास श्रद्धा (दर्शन) है, स्व को जानना ज्ञान है, स्व में स्थिर होना चारित्र है और इन तीनों की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है।

साधनों के लिये पात्र के सन्दर्भ में स्त्री, शुद्र आदि प्रतिबंध जैन धर्म में नहीं है। धार्मिक, आध्यात्मिक क्षेत्र में उम्र, जाति, लिंग को महत्व न देकर योग्यता को ही महत्वपूर्ण मांना है। महावीर के शिष्यों में हत्यारा अर्जुन माली, तस्कर रोहिणेय, चाण्डाल पुत्र मेतार्य और श्वपाक जाति में जन्मे हुए हरिकेशी इत्यादि इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। उन्होंने अपने धर्म संघ में स्त्रियों को भी दीक्षित किया।

इस प्रकार से साधना मार्ग इत्यादि अनेक विशिष्टताएँ जैनधर्म में दृष्टिगोचर होती हैं। जैनधर्म की प्रमुख विशेषताओं को किसी ने इस प्रकार से पद्यबद्ध किया है—

स्याद्वादो विद्यते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचिद्, जैनधर्मः स उच्यते॥

अर्थात् जिसमें स्याद्वाद जैसा सिद्धान्त विद्यमान है, किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं है तथा किसी को भी पीड़ा पहुँचाना नहीं है, वह जैनधर्म कहा जाता है।

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति का पारस्परिक प्रभाव

भारत की दो प्रसिद्ध संस्कृतियाँ हैं—ब्राह्मण संस्कृति (वैदिक) तथा श्रमण संस्कृति। वस्तुतः ये दोनों एक सम्प्रदाय विशेष न होकर मानव-जीवन की दो धाराएँ हैं—जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के रूप में प्रवाहित होती रहती है। यहाँ इसका अर्थ एकान्ततः प्रवृत्ति या एकान्ततः निवृत्ति न होकर प्रवृत्ति-प्रधान तथा निवृत्ति-प्रधान है। "मानव का स्वाभाविक प्रवाह ही ऐसा है कि वह इन दोनों धाराओं में प्रवाहित होता है। कभी वह एक धारा को महत्व देता है तो कभी दूसरी को। सत्तारूप में दोनों धाराएँ उसमें मौजूद रहती हैं। जब तक कि वह मानवता के स्तर पर रहता है, उससे सर्वथा ऊपर नहीं उठ जाता अथवा नीचे नहीं गिर जाता, तब तक वह इन दोनों *धाराओं में प्रवाहित होता ही रहता है।*"[८८]

ये धाराएँ बहुत ही लम्बे समय से साथ-साथ एक ही धरातल पर प्रवाहित होने से परस्पर प्रभावित भी हुई हैं। परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन के आचार-विचारों की दृष्टि से दोनों संस्कृतियों में मौलिक भेद कर पाना प्रायः कठिन हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, रागद्वेषादि मनोविकारों पर विजय, संयम तथा शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि से मुक्ति इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर एवं दृढ़ता के साथ स्वीकारी गई हैं।[८९] परन्तु इन दोनों परंपराओं के मौलिक विचारों को देखते हुए उनमें समाहित अन्य विरोधी विचार-अन्य संस्कृति का प्रभाव ही माना जा सकता है।

वैदिक संस्कृति पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव विंटर-नित्ज के मत में इस प्रकार है—"दार्शनिक-चिंतन ब्राह्मण युग के पश्चात् नहीं, पूर्व शुरू हो चुका था। ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे सूक्त हैं जिनमें देवताओं और पुरोहितों की अद्‌भुत शक्ति में जनता के अन्धविश्वास के प्रति कुछ सन्देह स्पष्ट हो चुके हैं। भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा।"[९०] उपनिषदों में तो और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी ऐसे कितने ही स्थल आते हैं, जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युगप्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है।[९१]

महाभारत शान्तिपर्व में वैदिक परम्पराओं का विरोध करते हुए पिता-पुत्र-संवाद में निवृत्तिपरायणता स्पष्ट दिखाई देती है।[९२] इसमें मनु द्वारा कहा गया है कि वेद में

जो कर्मों के प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकाम भाव से युक्त हैं। जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। नाना प्रकार के कर्म मार्ग में सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाले मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।[९३]

श्रमण विचारधारा की आत्मविद्या ने कर्मकाण्ड को प्रभावित किया है। इसीलिये कालान्तर में बाह्य यज्ञों का स्थान आध्यात्मिक यज्ञों ने ग्रहण कर लिया, इसका उल्लेख आरण्यक काल में ही उपलब्ध हो जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार—"ब्रह्म का साक्षात्कार पाने वाले विद्वान् संन्यासी के लिये यज्ञ का यजमान आत्मा है, अन्तःकरण की श्रद्धा पत्नी है, शरीर समिधा है, हृदय वेदि है, क्रोध पशु है, तप अग्नि है और दम दक्षिणा है।"[९४]

प्रारम्भ में वैदिक संस्कृति का जो पुण्य प्राप्ति (शुभ) लक्ष्य था वह बाद में पुण्य-पाप से परे मुक्ति प्राप्त करना हो गया। इस प्रकार प्रवृत्ति के अन्तर्गत निवृत्ति का समावेश होने लगा। गृहस्थाश्रम के साथ ही संन्यासाश्रम भी महत्वपूर्ण हो गया। इसी प्रकार पशुबलि, जातिवाद इत्यादि का भी विरोध उपलब्ध होता है। अधिकांश परिवर्तन उनसे पूर्ववर्ती मान्यताओं का खण्डन ही करते हैं।

यह बात नहीं है कि वैदिक परंपरा ही श्रमण परंपरा से प्रभावित हुई हो, श्रमण परंपरा भी वैदिक परंपरा से प्रभावित हुई है। मुख्यतः प्रभाव अग्रलिखित हैं—

"वैदिक कर्मकाण्ड अब तन्त्र-साधना के नये रूप में श्रमण परंपराओं में प्रविष्ट हो गया और उनकी साधना पद्धति का एक अंग बन गया। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा। अनेक देव-देवियाँ प्रकारान्तर से स्वीकार कर ली गईं। जैन धर्म में यक्ष-यक्षियों एवं शासन देवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। वैदिक परंपरा के प्रभाव से जैन मंदिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा में हिन्दू देवताओं की तरह 'तीर्थंकरों' का आह्वान एवं विसर्जन किया जाने लगा।"[९५] डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है—"(जैन परंपरा में) बहुत से हिन्दू देवता भी आ घुसे, यहाँ तक कि आज जैनियों में भी वैष्णव और अवैष्णव दो भिन्न विभाग पाये जाते हैं।"[९६] देश में बहुसंख्यक हिन्दुओं के सम्पर्कवश जैनियों में ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित अनेक रीति-रिवाज प्रचलित हो गये हैं।[९७] इनके अतिरिक्त भक्ति एवं योग के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

सारांशतया यह बात तो निश्चित है कि जो भी परिवर्तन हुआ, वह उसके मौलिक स्वरूप से भिन्न था।

निष्कर्षतः जैन धर्म की प्राचीनता असंदिग्ध है। यद्यपि 'जैन' यह शब्द बहुत प्राचीन नहीं है, इससे पूर्व यह आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म इत्यादि नाम से प्रचलित था।

आचार के क्षेत्र में अहिंसा तथा विचार के क्षेत्र में अनेकान्त इसकी महत्वपूर्ण विशिष्टताएँ हैं। इन दोनों गुणों के कारण उसने भारतीय दर्शन को एक नया निखार दिया है। इसी प्रकार पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु पुद्गल का सूक्ष्म चिंतन उसकी अलौकिक देन है। आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा का मार्ग प्रशस्त करने वाला जैन धर्म न केवल अध्यात्मवादी है, बल्कि अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त (उदारता) आदि सिद्धान्तों से लौकिक शांति तथा सामाजिक व्यवस्था का भी परिचायक है। इनके आधार पर सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन, धार्मिक संघर्ष का शमन तथा पर्यावरण संरक्षण पूर्ण रूप से हो सकता है। यह जीवन के प्रत्येक पक्ष को समुन्नत बनाने में (अभ्युदय में) सतत सहयोगी है। हिंसा के इस उत्कर्षमय युग में इसकी महती आवश्यकता है। जड़वाद के राक्षस द्वारा जकड़े हुए लोगों ने अपनी वास्तविकता को भुला दिया है। "आज के जगत् ने बहुत कुछ उपलब्धि की है किन्तु उसने उद्घोषित मानवता के प्रेम के स्थान में घृणा और हिंसा को अधिक अपनाया है तथा मानव बनाने वाले सद्गुणों को स्थान नहीं दिया है।"[१८]

सामाजिक, लौकिक, राजनीतिक, आर्थिक समस्याएँ मूलतः हिंसामय हैं। वस्तुतः केवल जीवन व्यतीत करना ही अधिक मूल्यवान नहीं है, किन्तु आदमी के जीवन को बहुमूल्य जानना चाहिए, उस आदर्श जीवन के लिये सहायक एवं प्रेरणा-स्रोत के रूप में जैन धर्म की उपयोगिता इतिहासज्ञ स्मिथ के शब्दों में व्यक्त है—"जैन आचार शास्त्र सब अवस्था वाले व्यक्तियों के लिये उपयोगी है। वे चाहे नरेश, योद्धा, व्यापारी, शिल्पकार अथवा कृषक हों। वह स्त्री-पुरुष को प्रत्येक अवस्था के लिये उपयोगी है। जितनी अधिक दयालुता से बन सके, अपना कर्तव्य-पालन करो, सूत्ररूप में यह जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है।"[१९]

□□□

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. पी. सी. जैन "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन" पृ. ४३

२. वही, पृ. ४६

३. डॉ. नेमिचन्द्र जैन "आदि पुराण में प्रतिपादित भारत" पृ. १९२

४. जैकोबी "सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट" खण्ड २२ एवं ४५ (भूमिका)

५. "The Nigganthas (Jains) are never referred to by the Buddists as being a new sect, nor is their reputed founder Nataputta spoken of as their founder, whence Jacobi plausible argues that their real founder was older than Mahavira and that this sect preceded that of Budda."

—Prof. E.W. Hopkins "Religion of India" P. 283

६. Dr. S. Radhakrishnan "Indian philosophy" (Hindi Translation) P. 236

७. डॉ. पी. सी. जैन "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन" पृ. ५६

८. "Vide Samprati" P. 336 **(M.B. Niyogi "Jain Shasan" P. 321)**

९. "An eminent archaeologist says that if we draw a circle with a radius of ten miles, having any spot in India as the centre, we are sure to find some jain remains within that circle."

—"Vide Kannad Monthly Vivekathyudaya" P. 96; 1940 (same)

१०. "In some cases monuments which are really Jains have been erroneously described as Buddists." V.Smith "The prejudice that all stupas and stone railings must necessarily be Buddhist, has probably prevented the recognition of Jain structures as such, and upto the present only two undoubed Jain stupas have been recorded."

—Dr. Fleet Imp. Gaz.........vol. 11, p. 111 (Same, P. 294-295)

११. Same, P. 296

१२. Dr. S. Radhakrishnan "Indian Philosophy" (Hindi Translation) P. 233

१३. "सम्यग्दर्शन" पृ. ३५९ (५ जून, १९८९)

१४. "Now it is true as later historical researches have shown that Jainism prevailed in this country long before Brahminism came into existence on converted into Hinduism."

Mr. Justice Rangrekar, Bom. High Court, A.I.R. 1939, Bombay. 377.

१५. "There is very great ethical value in Jainism for man's improvement. Jainism is very original, independent and systematic doctrine. It is more simple, more rich and varied than Brahmanical systems and not negative like Buddhism." **—Dr. A. Guiernot**

१६. "Long before the Aryans reached the Ganges or even Saraswati, Jains has been taught by some 22 prominent Bodhas, Sants or Tirthankaras, prior to the historical 23rd Bodha Parsva of the 8th or 9th Century B.C. ....It is impossible to find the beginning of Jainism."

—Major General J.G.R. Furlong, F.R.A.S. "Short Studies in the Sceince of Comparative Religion.," P. 243-244

१७. जयचन्द्र विद्यालंकार "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" पृ. ३४७

१८. "व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिता:" —मनुस्मृति १.५.८.

१९. अथर्ववेद १५.१.१.१ सायणभाष्य

२०. कंचिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशील विश्वसमान्यं ब्राह्मणविशिष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम् ॥ —अथर्ववेद १५.१.१.१

२१. डॉ. बलदेव उपाध्याय "वैदिक साहित्य और संस्कृति," पृ. २२९

२२. (अ) "Vratya is initated in Vratas. Hence Vratyas means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own spiritual discpline."

—Dr. Heber

(ब) पी.सी. जैन "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन," पृ. ५३

२३. वही, पृ. ५३

२४. रामधारीसिंह दिनकर "संस्कृति के चार अध्याय" पृ. १२५

२५. अथर्ववेद १५.१.२.१५-१६

२६. मैक्डोनल और कीथ "वैदिक इंडैक्स" ३४३ —दूसरी जिल्द १९५८

२७. डॉ. दामोदर शास्त्री "भारतीय सांस्कृतिक क्षितिज में जैन संस्कृति और उसका साधना मार्ग" जयगुञ्जार (मार्च १९८६) पृ. ५

२८. "They are called Vratyas or unbrahmanical Kshatriyas; they had a republican form of Government, they had their own shrines, their non-vedic worship; their own religious leaders; they patronised Jainism."

—Kashiprasad Jayasawal "Modern Review" P. 499, 1729

२९. ऋग्वेद १०.१३५.२

३०. तैत्तिरीयारण्यक २.७

३१. बृहदा. ४.३.२२

३२. अथर्ववेद २.५३

३३. बेचरदास दोशी

"जैन साहित्य का बृहद् इतिहास" पृ. २० (प्रस्तावना) (अंग आगम)

३४. ऋग्वेद ३.३४.२ १०.१६६.१

३५. अथर्ववेद ९.४.३ एवं

"अहोमुच वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्

अणं न पातमश्विनाहुं वे धिय, इन्द्रियेण इन्द्रियदत्तमोज: ॥" अथर्ववेद, कारिका १९.४२.४

३६. पुमानन्तर्वान्त् स्थविर: पयस्वान् वसो: कबन्धमृषभो विभर्ति—जातवेदा: ॥ अथर्ववेद, कारिका ९.४.३

३७. ऋग्वेद १०.१३६.१

३८. वही, मं. १०.९०.११-१२

३९. धम्मकहाणुओगे—पृ. २६

४०. श्रीमद् भागवत पुराण, पंचम स्कन्ध २-६

४१. वही

४२. विष्णु पुराण २.१.२७-३१

४३. शिव पुराण ७.२.९ शतरूद्रसंहिता अध्याय ४

४४. अग्रोक्त

४५. प्रभास पुराण ४९

४६. लिंग पुराण ४८.१९-२३

आग्नेय पुराण १०.११-१२

ब्रह्माण्डपुराण पूर्व १४.५३

विष्णु पुराण २.१.२६-२७

कूर्म पुराण ४१.३६-३८

नारद पुराण पूर्व ४८वाँ अध्याय

वाराह पुराण ७४वाँ अध्याय

स्कन्द पुराण ३७वाँ अध्याय

४७. बेचरदास दोशी "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास" पृ. २२ (प्रस्तावना)

४८. वही पृ. २३

४९. डॉ. राजकुमार जैन—"वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ" नामक लेख "मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ" —पृ. ६०९-६२९

५०. Dr. Radha Krishnan "Indian Philosophy" P. 233 (Hindi Translation)

५१. बेचरदास दोशी "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास"—प्रस्तावना, पृ. २६-२७

५२. ऋग्वेद (अ) १.१४.८९.६

(ब) १.२४.१८०.१०

(स) ३.४.५३.१७

(द) १०.१२.१७८.१

५३. "स्वस्ति न तार्क्ष्योऽरिष्टनेमि:" ऋग्वेद १.१.१६

५४. वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद ९.२५

५५. "अत: यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा" —छांदोग्योपनिषद् ३.१७.४

५६. महाभारत, अनुशासन पर्व, १४९, ५०-८२

५७. स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड।

५८. श्रीमती वीणापाणि पाण्डे "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन" पृ. ७६

५९. (अ) श्रीमद् भागवत ५.३.२०

(ब) पद्म पुराण १३.३५०

(स) विष्णु पुराण १७-१८वाँ अध्याय

(द) स्कन्द पुराण ३६, ३७, ३८वाँ अध्याय

(य) शिव पुराण ५.४-५

(र) मत्स्य पुराण २४.४३-४९

(ल) देवीभागवत ४.१३.५१-५७

६०. "अर्हन् विभर्षि___त्वदस्ति ॥"—ऋग्वेद २.४.३३.१०

६१. अर्हध्वं मामकं धर्म मायामोहेन ते यतः
उक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवत्
त्रयीमार्गं समुत्सृज्य___ ॥
नमोर्हते चेति सर्वे, संयमे स्थितवादिनः ॥
स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थाय वा पुनः
तदलं पशुघातादि दुष्ट धर्मनिबोधतः ॥
___जगदेतंदनाधारं भ्रांतिज्ञानानुतत्परम् ॥
रागादि—दुष्टमत्यर्थ भ्राम्यते भवसंकटे
___यज्ञकर्मकलापस्य तथा चान्ये द्विजन्मनाम्,
नैतद्युतिसहं वाक्य—हिंसा धर्माय जायते ॥
हविष्यनलदग्धानि फलान्यहति कोविदाः
निहतस्य पशोर्यज्ञ स्वर्गप्राप्ति यदीयते ॥
स्वपिता यजमानेन किंवा तत्र न हन्यते
तृप्तते जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेद्यदि ॥
दद्याच्छ्राद्धं प्रवसतो न वहेयुः प्रवासिनः
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ॥
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः
जनाश्रद्धेयमित्येतदवगम्य तु तद्वचः ॥
श्रीराम शर्मा "पद्मपुराण" (२) पृ. १२२-१२३ श्लोक ९९-१२२

६२. "दत्वा चकार तेषां तु शिरसो लुञ्चनं ततः ॥"—वही, पृ. १२६, श्लो. १२२

६३. "तीर्थंकराश्चतुर्विंशत्तथातैस्तु पुरस्कृताः"—वही, पृ. १२७, श्लोक १२७

६४. कदास्यामर्षयो भूत्वा___
कर्णजप्यं श्रावकाश्च करिष्यंति समाहिताः ॥ —वही, पृ. १२७, श्लो. २९-३१

६५. अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः
दया चैव परा धर्मस्तव मोक्षः प्रदृश्यते ॥
अयं धर्म समाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते ॥
दयाहीनं चापलं स्यान्नास्ति धर्मस्तु तत्रहि

एते वेदा न वेदा स्युः दया यत्र न विद्यते
दयादानपरो नित्यं जीवमेव प्ररक्षयेत्
चाण्डालोऽप्यथ शूद्रो वा सर्वे ब्राह्मण उच्यते ॥
स्नाने यदा महत्पुण्यं कस्मान्मत्स्येषु वै नहि ॥
श्रीराम शर्मा, "पद्मपुराज" पृ. ४७३-४७८—श्लो. १७-२१, ३७-३८, ४४

६६. (अ) विष्णु पुराण ३.१८.२-१२
(ब) डॉ. सर्वानन्द पाठक "विष्णुपुराण का भारत," पृ. २८६

६७. गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति
जिन धर्म समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् ॥
वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवाद समन्वितान् ॥—मत्स्य पुराण २४.४७

६८. श्री मधुकर मुनि "जैन धर्म : एक परिचय," पृ. ६

६९. श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरीश्वर
"अभिधानराजेन्द्र कोष," पृ. १४५८

७०. रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यतेतदनृतम्
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥—आव ४ अ.

७१. णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं—भगवती सूत्र, कल्पसूत्र

७२. सं. प्रो. सागरमल जैन "श्रमण" पृ. ६२ (जनवरी-मार्च, ९२)

७३. श्री अमोलक ऋषिजी म. "जैनतत्वप्रकाश" पृ. १२१, १८८, २६३

७४. तत्वार्थसूत्र ७.१३

७५. अमृतचन्द्रसूरि "पुरुषार्थसिद्धयुपाय" पृ. २५ (श्लोक ४४, ४३)

७६. जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पतो
तं इच्छ परस्स वि, ए नियागं जिणसासयं ॥—बृहत्कल्प भाष्य ४५८४

७७. "पढमं नाणं तओ दया" —दशवै ४.१०

७८. श्रमण (जनवरी-मार्च १९९४), पृ. १२

७९. सं. कलाकुमार
"श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना"

८०. "एयं खु नाणिनो सारं, जंन हिंसइ किंचणं
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥" —सूत्रकृतांग १.१.४.१०

८१. सं. गौतम ओसवाल "अर्हत् जैन टाइम्स" —जनवरी १९९४
याज्ञवल्क्य स्मृति १.१५६
बृहन्नारदीय पुराण २२.१२.१६

८२. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं

जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारे ते विउस्सिया ॥ —सूत्रकृतांग १.२.२३

८३. सतो य अत्थि, असतो य नत्थि
गहरामो दिट्ठी, न गहरामो किंचि ॥ —सूत्रकृतांग २.६.१२

८४. "जैनदर्शन सार", द्वितीय अध्याय

८५. तत्वार्थ सूत्र ५.३०

८६. दलसुख मालवणिया "आप्तमीमांसा"

८७. तत्वार्थसूत्र १.१

८८. डॉ. मोहनलाल मेहता "जैन धर्म—दर्शन"

८९. जयगुंजार (मार्च ८६) पृ. ६

९०. मुनि श्री नथमल "उपनिषद् पुराण तथा महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर" नामक लेख "हजारीमल स्मृति ग्रंथ" से

९१. "प्राचीन भारतीय साहित्य" प्रथम भाग, पृ. १८३

९२. महाभारत शांतिपर्व २०१.८ २०१. ११, १२

९३. वही २०१.१०, ११

९४. तैतिरीय आरण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६

९५. श्रमण (अप्रेल-जून ९४), पृ. १३१

९६. Dr. Radhakrishnan "Indian Philosophy" (Hindi Translation), P. 268

९७. "It is also true that owing to their long association with the Hindus, who formed the majority in the country, the Jains have adopted many of the customs and even ceremonies strictly observed by the Hindus and pertaining to Brahminical religion." Mr. Justice Rangrekar Bombay High Court, A.I.R. 1939, Bombay 377.

९८. "A Jain will do nothing to hurt the feeling of another person, man, woman or child, nor will he violate the principles of Jainism. Jain ethics are meant for men of all position for king, warriors, traders, artisans, agriculturists and indeed for men and women in every walk of life. Do your duty and it as humanely as you can do. It is the primary principle of Jainism." V. Smith "History of India" P. 53

□□□

२

पुराण-परिचय

भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक निधियों में पुराण साहित्य अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पुराण प्राचीन तथा अर्वाचीन का संगम है। नई भाषा तथा शैली में वैदिक धर्म का—क्रिया-कलापों का परिवर्तित रूप ही पुराण है। अतएव यह पुराण 'पुरा नवम्' निरूक्त्यनुसार वैदिक धर्म के पुनः संस्कारस्वरूप पौराणिक धर्म के रूप में अभ्युदय हुआ है। वेद-विज्ञान को मनोरंजन आख्यानों में परिवर्तित करना पुराणों का अभूतपूर्व कौशल रहा है। जन-समुदाय में धर्म एवं संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना तथा वेद-मंत्रों का माहात्म्य वर्णन करना पुराणों का प्रमुख कार्य है।

पुराणों का महत्व

प्राचीन ऐतिहासिक मान्यताओं तथा सांस्कृतिक एवं राज्यवंशादि के अनुसंधान हेतु महत्वपूर्ण सामग्री पुराणों में उपलब्ध है। पद्मपुराण के अनुसार, यथा जगत् के प्रकाश हेतु सूर्य का विग्रह अन्धकार समाप्त करता है, तथैव पुराण भी हृदय में प्रकाश का हेतु है,[१] इसे पंचम वेद कहा गया है,[२] भागवत[३] तथा स्कन्दपुराण[४] का भी यही मत है। हनुमानप्रसादजी पोद्दार ने पुराणों की महिमा के सन्दर्भ में लिखा है कि पुराणों में सब कुछ है यथा पुराण अध्यात्मशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र शास्त्र है, कलाशास्त्र, इतिहास, जीवनीकोष, सनातन आर्य संस्कृति का स्वरूप और वेदों की सरस और सरलतम व्याख्या है[५]।

मत्स्यपुराण में पुराण विद्या में सर्वोपरि मानते हुए लिखा है—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः'[६]

नारदीय पुराणानुसार पुराणों के अर्थ, वेद से भी अधिक स्पष्ट तथा प्रामाणिक मानना चाहिए क्योंकि समस्त वेद पुराणों में ही प्रतिष्ठित हैं[७]। पारजिट के अनुसार—"ये प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) के ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी सिद्धान्तों के विश्वकोष हैं"[८]।

पुराण ऐतिहासिक, सामाजिक, परम्परागत प्राचीन मान्यताओं के परिवर्तन-क्रम में एक प्रमुख घटक है, धर्म-कर्म, साधना-आराधना, रीति-रिवाज की दृष्टि से वेदों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित, परिवर्तित, सरल तथा सुगम है।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

महावैयाकरण पाणिनि के अनुसार पुराण शब्द की उत्पत्ति "पुरा भवं" (प्राचीन समय में होने वाला) इस अर्थ में 'सायंचिरंप्राह्णेपगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलो तुट् च'[९] इस सूत्र से पुरा शब्द से ट्यु प्रत्यय करने एवं तुट् के आगम होने पर 'पुरातन' शब्द बनता है, किन्तु स्वयं पाणिनि ने ही दो सूत्रों में पुराण शब्द का प्रयोग किया है,[१०] जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है, 'ट्यु' प्रत्यय तथा अन्य प्रक्रिया द्वारा निष्पन्न पुराण शब्द द्वारा पुराण साहित्य की ऐतिहासिकता सूचित होती है।

महर्षि यास्क ने 'पुराण' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा कि 'पुरा नवं भवति' अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है, वह ग्रन्थ पुराण कहलाता है।[११]

पुराणों में भी पुराण शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। यथा—वायु पुराण में "पुरा अनति" अर्थात् प्राचीनकाल में भी सजीव था, वह पुराण कहलाता है[१२]। पद्मपुराण में इससे कुछ भिन्न व्युत्पत्ति है—'पुरा परम्परया वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीन परम्परा की कामना करता है, वह ग्रन्थ पुराण कहलाता है,[१३] इन सबसे भिन्न और तर्कसंगत व्युत्पत्ति ब्रह्माण्ड पुराण उपस्थित करता है—'पुरा एतत् अभूत' अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ, इसकी जानकारी देने वाला ग्रन्थ पुराण है,[१४] यह व्युत्पत्ति वायुपुराण में भी है।[१५]

सारांशतः प्राचीन परंपरा के प्रतिपादक ग्रन्थ जिनमें सृष्टि के विकासादि वर्णित हों 'पुराण' नाम से अभिहित किये जाते हैं।

पुराणों का काल

पुराणों का आविर्भाव कब हुआ—इस प्रश्न का उत्तर भारतीय परंपरानुसार बहुत कठिन नहीं है क्योंकि प्रायः सभी प्राच्य पण्डित बिना हिचकिचाहट के पुराणों की वेदमूलकता को स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में पुराण शब्द का उल्लेख मिलता है[१६] किन्तु वहाँ यह शब्द एकमात्र प्राचीनता का ही बोधक है, अथर्ववेद में पुराण शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दों के साथ प्रयुक्त है[१७]। अथर्ववेद के अनुसार ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से (यज्ञावशेष या परमात्मा से) प्रादुर्भूत हुए हैं जिससे कि देवों की उत्पत्ति बतलाई गई है[१८]।

ब्राह्मण साहित्य में भी 'पुराण' का बहुशः उल्लेख है। वैदिक काल में पल्लवित पौराणिक वाङ्मय ब्राह्मण युग में विकसित हो चुका था, गोपथ ब्राह्मण का कथन है

कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास तथा पुराण के साथ सभी वेद निर्मित हुए।[१९] यहाँ इतिहास-पुराण का सम्बन्ध वेदों से स्थापित किया है। शतपथ ब्राह्मण में अनुशासनादिक के साथ पुराण के स्वाध्याय का विधान है[२०] तथा उस समय में वैदिक वाङ्मय में इतिहास-पुराण का विशिष्ट स्थान माना जाता था।[२१]

आरण्यक तथा उपनिषद् के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उस युग में इतिहास-पुराण पूर्वापेक्षया अधिक जनप्रिय तथा प्रचलित हो चुके थे। पुराणों को भी वेदों की भांति ईश्वर से निःश्वसित माना जाता था।[२२] सूत्र ग्रन्थों में पुराणों की चर्चा ही नहीं, उसके श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं।[२३] रामायण में पुराण का नामोल्लेख मात्र मिलता है।[२४] किन्तु महाभारत के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय तक केवल पुराण ही सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थे, बल्कि उनकी कथाओं की संरचना तथा अष्टादश संख्या भी निर्धारित हो चुकी थी[२५]। उसके (महाभारत के) अनुसार "पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा के द्वारा श्रुतिरूपी चन्द्रिका छिटकी हुई है।"[२६]

महाभारत के पश्चात्वर्ती अर्थशास्त्र में पुराण को सत्प्रेरक बताया है तथा उनके वर्ण्य-विषय का परिचय भी दिया गया है।[२७] धर्मस्मृति में पुराणों का प्रचुर उल्लेख है, गौतम धर्मसूत्र में बहुश्रुत की परिभाषा देते हुए उसके लिये पुराण की दक्षता भी आवश्यक बतलाई है।[२८] इसी प्रकार अन्य स्मृति-ग्रन्थों में भी पुराण उल्लिखित हैं।[२९] शुक्रनीति में पुराण का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[३०]

दार्शनिक-गण के अन्तर्गत शबरस्वामी,[३१] कुमारिल,[३२] शंकराचार्य,[३३] आचार्य विश्वरूप,[३४] ने पुराणों के विषय में महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किये हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी में पुराणों में विशेषतः वायुपुराण का उल्लेख प्राप्त होता है।[३५] उत्तरकादम्बरी[३६] एवं हर्षचरित[३७] में भी पुराण का नामोल्लेख है।[३८]

पूर्वोक्त ग्रन्थों में पुराण उद्धृत होने से पुराणों का काल उनसे पूर्ववर्ती होना चाहिए।

कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि पुराणों का आविर्भाव काल लगभग ईस्वी पूर्व ६०० वर्ष से लेकर ईस्वी २०० वर्ष तक का है। इन्हीं ८०० वर्षों के अन्तराल में पुराणों का निर्माण हुआ होगा, क्योंकि भारत की ये ८ शताब्दियाँ असाधारण बौद्धिक विकास और स्वातन्त्र्य की महत्वपूर्ण शताब्दियाँ रही हैं। इसी युग में जैन, बौद्ध एवं हिन्दूदर्शन निर्मित हुए।[३९] आचार्य शंकर, कुमारिल भट्ट, कथाकार बाणभट्ट का समय ७०० ई. का है। विष्णुपुराण में मौर्य-साम्राज्य का, मत्स्य पुराण में दाक्षिणात्य राजाओं का और वायुपुराण में गुप्तवंश का जो अविकल वर्णन मिलता है, उससे इन पुराणों के तत्सामयिक अस्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।[४०]

पुराणों के प्रणेता

व्यास नाम से जुड़े अनेक ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित होते हैं जिनके रचना काल, रचयिता के विषय में समुचित समाधान के विषय में अनेक विद्वानों का मन्तव्य इस प्रकार है—वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक एक ही व्यक्ति के होने की सम्भावना न होने से इसे एक व्यक्ति का नाम नहीं माना जा सकता है। अतः अनुधित्सु कई विदेशी विद्वानों ने कह दिया कि व्यास अथवा वेदव्यास किसी का अभिधान न होकर एक प्रतीकात्मक, भावनात्मक, कल्पनात्मक या छद्मधारी नाम है। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् मेक्डोनल का भी लगभग यही मत है। महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेदीजी ने भी स्पष्टीकरण किया है—व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, अपितु यह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है, जब जो ऋषि मुनि वेद संहिता का विभाजन या पुराणों का सम्पादन कर ले, वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है।[४१] पुराणों के रचयिता व्यास के सन्दर्भ में शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य में कहा है—पुराकालीन वेदाचार्य अपान्तरनाम वेदव्यास ऋषि ही कलियुग एवं द्वापरयुग के सन्धिकाल में भगवान् विष्णु की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के नये रूप में पुनरुद्भूत हुए।[४२] इस सन्दर्भ में अश्वघोष ने भी कुछ नए रहस्य उद्घाटित किये हैं—

१. कृष्ण द्वैपायन ने वेदों का अलग-अलग संहिताओं में विभाजन किया।
२. वशिष्ठ और शक्ति उनके पूर्वज थे।
३. वे सारस्वतवंशीय थे।[४३] व्यासवंश के मूल पुरुष ब्रह्मा थे, जिनके पुत्र वशिष्ठ तथा वशिष्ठ के पुत्र शक्ति थे, जिनके पुत्र पाराशर की पत्नी दाशराज की पुत्री सत्यवती (योजनानान्धा या मत्स्यगंधा) के पुत्र कृष्णद्वैपायन थे।

पुराणों के रचयिता वेदव्यास हैं। यह प्रायोवाद है, किन्तु पुराणों की रचना अनेक ऋषियों-मुनियों ने मिलकर की है—यही तथ्य कथन है, इस सन्दर्भ में पुराणास्थ कुछ प्रमाण उल्लिखित किये जा रहे हैं।[४४]

क. मनु के एक श्लोक की टिप्पणी करते हुए मेघातिथि ने लिखा है—"पुराणानि व्यासादि प्रणीतानि (न तु व्यास प्रणीतानि)"

ख. **मार्कण्डेय पुराण**—ब्रह्मा के मुख से पुराण (एकवचन में प्रयुक्त) निकला तथा बहुत से परमर्षियों ने पुराण संहिताओं का प्रणयन किया।[४५]

ग. **कूर्मपुराण**—मूलतः वेदव्यास (पदाधिकारी) ने प्रथम पुराण संहिता प्रणीत की, दोनों इतिहास (जयसंहिता, महाभारत) तथा पुराण संहिता की एक ही काल में रचना की तदनन्तर उनके शिष्य लोमहर्षण तथा उनके शिष्यत्रय (अकृत व्रत, सावणि, शांसपायन) ने मिलकर पुराण संहिताओं का संकलन किया।[४६] फिर इन्हीं का विकास १८ पुराणों के रूप में किया गया।[४७] तात्पर्य तथा

प्रेरणा ऐक्य से वेदव्यास को प्रणेता माना जाता है।[४८] ऐसे अनेक ऋषियों के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है।[४९] संक्षिप्ततः व्यास का अर्थ यहाँ सम्पादक मात्र समझना चाहिए तथा विस्तारकता के रूप में भी व्यास (विस्तार) प्रयुक्त हो सकता है।[५०]

पुराणों की वेदमूलकता (वेदों से सम्बन्ध)

पुराण वेदों को सरल तथा सरस भाषा एवं शैली में प्रतिपादित करते हैं। महाभारत में कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा ही वेदों का उपबृंहण अर्थात् व्याख्या करनी चाहिए।[५१] पद्मपुराण के मतानुसार जो ब्राह्मण अंगों एवं उपनिषदों सहित चारों वेदों का ज्ञान रखता है उससे भी बड़ा विद्वान वह है जो पुराणों का विशेष ज्ञाता हो।[५२]

याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रमाण वचन से विद्या और धर्म विषय में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिषरूप षड्वेदांग, पुराण न्याय, मीमांसा आदि दर्शन एवं धर्मशास्त्र के साथ वेद परम प्रमाण हैं।[५३] वेदमूलक होने से पुराण के वेदों के समकक्षी होने का कथन कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है यथा—अथर्ववेद संहिता का कथन है कि पुराण, ऋक्, यजु, साम, छन्द ये सभी एक साथ आविर्भूत हुए।[५४] इसी प्राचीन अस्तित्व के कारण शतपथ ब्राह्मण में पुराणों को वेद ही कह दिया है।[५५] बृहदारण्यक ने निःश्वासवत् वेद पुराणों का आविर्भाव लिखा है।[५६] अतः इन ग्रन्थों के प्रामाणिक विवेचन से पुराणों का वेद समसामयिकत्व या वेदमूलकत्व अथवा प्राचीनत्व सर्वथा समीचीन ही है।

ब्रह्माण्डपुराण में तो यहाँ तक लिखा है कि सांगोपांग वेदों का अध्ययन करने पर भी जो पुराणज्ञान से शून्य है, वह तत्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणों में ही प्रदर्शित है।[५७]

उपर्युक्त सभी बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुराणों में वेदार्थ का ही विशदीकरण किया गया है। वेदों में जो गूढ़ तत्व यत्र-तत्र वर्णित हैं, उन्हीं का आख्यानरूप में सर्वजन-ग्राह्य वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ—कृष्णयजुर्वेद की शिक्षावल्ली में कहा है 'सत्यं वद' इसी को विस्तार रूप में स्मृतिकार ने लिखा है—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः'

फिर पुराणों में सत्य पर अडिग हरिश्चन्द्रादि की मनोहर कथाओं द्वारा सत्यरूप धर्म का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार 'सत्यं वद' विधि वाक्य की व्याख्या पूर्ण हो जाती है।

इन्हीं कथ्यों को दृष्टि सम्मुख रखते हुए देवीभागवत में आख्यात है कि वेद मंत्रों के सभी वर्गों के बोधगम्य कराने हेतु पुराणों का निर्माण हुआ है।[५८] उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा पुराणों की वेदमूलकता स्पष्ट होती है।

पुराणों का विभाजन

प्रमुख पुराणों की संख्या १८ है। इन पुराणों का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। उनको संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

पद्म पुराणानुसार तीन प्रकार के पुराण हैं—

१. **सात्विक**—इसके अन्तर्गत वैष्णव नारदीय, भागवत, गारूड, पाद्म, वाराह—ये ६ पुराण हैं।[५९]

२. **राजस**—ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन एवं ब्रह्म ये ६ राजस पुराण कहलाते हैं।[६०]

३. **तामस**—मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द तथा अग्नि इन ६ को तामस पुराण कहा गया है।[६१]

स्कन्दपुराणानुसार प्रतिपादित देवासुरी विभाजन इस प्रकार है—

१. **शैव**—शिव विषयक पुराण—शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड—ये १० शैवपुराण हैं।

२. **वैष्णव**—विष्णु विषयक विष्णु, भागवत, नारदीय, गरूड ये ४ वैष्णवपुराण हैं।

३. **ब्रह्म**—ब्रह्म विषयक अग्निपुराण है।

४. **सावित्र**—सूर्य विषयक ब्रह्मवैवर्तपुराण है।

मत्स्यपुराण में पद्मपुराणवत् साहिवसदि तीन विभाग किये गये हैं।[६२]

पुराण के पंचलक्षण के आधार पर दो भाग किये जा सकते हैं—

१. **प्राचीन**—वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु तथा

२. **प्राचीनेतर**—इनसे भिन्न प्राचीनेतर हैं।[६३]

आधुनिक विद्वानों ने पुराणों के छः वर्ग निर्धारित किये हैं—

१. प्रथम वर्ग में साहित्य का विशाल कोष है। इस वर्ग में गरूड, अग्नि तथा नारदीय पुराण आते हैं, जिनमें प्राचीन विद्याओं का संक्षेप बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

२. द्वितीय वर्ग में मुख्यतः तीर्थों तथा व्रतों का वर्णन है। इस विभाग में पद्म, स्कन्द तथा भविष्य की गणना की गई है।

३. तृतीय वर्ग ब्रह्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों का है, जिनका मूल भाग वही है जो उनका केन्द्रस्थ भाग है। इनके दो बार हुए संस्करणों में आगे-पीछे बहुत कुछ जोड़ा गया है।

४. चतुर्थ वर्ग में ऐतिहासिक पुराणों की गणना की गई है। जिसमें कलियुग के राजाओं का वर्णन विशेष रूप से इतिहास की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इस वर्ग में वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण समाविष्ट है।

५. पंचम वर्ग में साम्प्रदायिक पुराणों का अन्तर्भाव है। इसमें लिंग, वामन वाराह, कूर्म तथा मत्स्य पुराण आते हैं जिनमें पाठों में अत्यधिक संशोधन होने से मूल पाठ रह ही नहीं गया है।[६४]

पुराणों के देवता

वेदों में जिन अग्नि, इन्द्र, वरुण पूषा, सोम, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओं का प्राधान्य था, पुराणों में उनका स्थान विष्णु, शिव, देवी कृष्ण आदि देवों ने ले लिया। प्रगतिशील पुराण प्रथाओं ने न केवल देवी-देवताओं की ही स्थापनाओं में प्रयत्न किया, अपितु आचार-विचार धर्म अनुष्ठान व्रत पूजा आदि कर्मक्षेत्र में भी बहुत सी नई मान्यताओं को जन्म दिया।[६५] पुराणों में कर्मकाण्ड को ही नहीं, ज्ञानयोग को भी पर्याप्त महत्व मिला है।

पुराणों के प्रमुख विषय

सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त समस्त क्रमबद्ध इतिहास के निर्देशक वैदिक धर्म के परिपोषक इन पुराणों में पुरातन आख्यानों का संकलन है। लगभग कई आख्यान प्रतीकात्मक हैं। उनकी प्रतीकात्मकता हम मार्कण्डेयपुराण के इस उदाहरण से समझ सकते हैं—मार्कण्डेयपुराण के अनुसार स्वारोचिष मन्वन्तर का राजा सुरथ कोलाविध्वंसी लोगों से पराजित होकर मेधाऋषि के आश्रम में गया, वहाँ परिवार से निष्कासित समाधिवैश्य भी आया। दोनों ने शांति तथा सुख के लिये मेधा की शरण ग्रहण की। ऋषि ने महामाया का स्वरूप बताकर मधुकैटभ, महिषासुर तथा शुभ निशुंभ का चरित्र और देवी माहात्म्य सुनाया। यह आख्यान प्रतीकात्मक है। सुरथ का अर्थ है—शरीरासक्त कर्मनिष्ठ (पुरुषशरीर रथमेवतु) तथा समाधि का अर्थ है (एकाग्रबुद्धि)। द्वन्द्व और संघर्ष भरे जीवन में दोनों यथार्थ जगत् से भागकर अन्तर्मुख हो सुमेधा (सद्विचार) की शरण में जाते हैं, विचारशक्ति से उन्हें माया के विद्या-अविद्या रूप का ज्ञान होता है। दोनों तत्वचिंतन करते हैं। एक कर्ममार्ग में प्रवृत होता है, दूसरा ज्ञानमार्ग में। उपासना दोनों करते हैं। कर्ममार्गी उपासना से सुरथ को भोगसिद्धि मिलती है तथा ज्ञानमयी उपासना से समाधि को मोक्ष मिलता है।[६६]

पुराणों के विषयवर्णन के अन्तर्गत पुराणों के जो पंचलक्षण बताये गये हैं, सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार पुराणों के ये ५ लक्षण हैं—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च

वंश्यानुचरितं चेति पुराण पंचलक्षणम्'

विभिन्न पुराणों में यही पुराणलक्षण के रूप में वर्णन है।[६७] सर्ग (सृष्टि उत्पत्ति), प्रतिसर्ग (पुनःरचना या पुनः सृष्टि), वंश (राजकुलों का वर्णन या महापुरुषों की वंशपरम्परागत इतिहास का वर्णन), मन्वन्तर (मनु के समय की अवधि का निर्देश), वंशानुचरित (राजकुलों या महापुरुषों के परम्परागत इतिहास का निरूपण)—इन पाँच लक्षणों से लक्षित ग्रन्थ का नाम पुराण है।

कहीं-कहीं एक ही विषय की प्रचुरता दिखाई देती है। यथा मार्कण्डेयपुराण में मन्वन्तर वर्णन की ही प्रधानता है। श्रीमद् भागवत में वंशानुचरित की, विष्णुपुराण में सर्ग (सृष्टि) की ही प्रमुखता ज्ञात होती है। इस प्रकार कई पुराणों में विषयों में न्यूनाधिकता परिलक्षित होती है।

पुराणों के इन प्रमुख विषयों का संक्षिप्त विवेचन अधोलिखित है—

१. सर्ग

सर्ग के विषय में श्रीमद् भागवत का कथन है—अव्याकृतगुणक्षोमान् महतस्त्रिवतेऽहम भूततन्मात्रेन्द्रियार्थानं सम्भवः सर्ग उच्यते ॥[६८]

साम्यावस्थापन्न त्रिगुणात्मक प्रधान प्रकृति के गुण परिणाम क्षोभ से महान् तत्व उत्पन्न होता है। महान् बुद्धितत्व से अहंकार, सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ, तामस अहंकार से पंचतन्मात्राएं, पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इसी का नाम सर्ग या सृष्टि का आरम्भ है। सांख्यादर्शन में भी सृष्टि का क्रमवर्णन इसी प्रकार है। समस्त जगत् के कार्य-संधान का मूलतत्व प्रधान को माना है। जैसा कि सांख्यसूत्र में कहा गया है—"सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेः महतेऽहंकारः"[६९] ईश्वर कृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में ठीक इसी क्रम से सृष्टि वर्णन किया है।[७०]

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के, देवताओं के, मनुष्यों के दिन-रात, पक्ष-मास, वर्षादि के परिमाण भिन्न-भिन्न हैं। इसकी काल गणना (प्रत्येक युग, मन्वन्तर, कल्प तथा मनुष्य देव एवं ब्रह्मा का दिन-मास वर्ष परिमाण) प्रस्तुत है।[७१]

१५ निमेष	=	१ काष्ठा,	३० काष्ठा	=	१ कला,
३० कला	=	१ घटी,	२ घटी	=	१ मुहूर्त,
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्रि,	३० अहोरात्रि	=	२ पक्ष,
२ पक्ष	=	एक मास,	६ मास	=	एक अयन,
२ अयन	=	१ वर्ष (मानववर्ष)	=	उत्तरायन, दक्षिणायन,	

छः माह का उत्तरायण = देवताओं का रात

मनुष्य का एक वर्ष = देवताओं का एक अहोरात्र

दिव्य १२००० वर्ष = चतुर्युग,

हजार महायुग = ब्रह्मा का एक दिन = १४ मन्वन्तर

२. प्रतिसर्ग

इसका पुराणकार ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—पुरुषानुगृहितानामेतेषां वासनामयः

विसर्गोऽयं समाहारो बीजात् बीजं चराचरम् ॥

प्रलयकाल में परमात्मा में सूक्ष्म वासना रूप से सभी जीवों का समाहार होता है, पुनः सृष्टिकाल में चराचर जगत् का एक बीज से दूसरे बीज की तरह पुनः प्रादुर्भाव होना ही प्रतिसर्ग है। जैसे वर्षाकाल में पृथ्वी में अज्ञात-अव्यक्त रूप से स्थित बीज वृष्टि-जलादि सहयोग से अनेक प्रकार के लता, वृक्ष तृणादि रूप से प्रगट होते हैं; उसी प्रकार पूर्व सृष्टि में उत्पन्न जीवों के अवशिष्ट वासनामय संस्कारों के द्वारा पुनः सृष्टि रचना के समय में अनेक भोग्य पदार्थ तथा उन पदार्थों के भोक्ता जीवों की भी उत्पत्ति होती है। यही प्रतिसर्ग है। श्रीमद्भागवत[७२] में सृष्टि के प्राकृत, वैकृतादि भेद से ९ भेद बतलाये हैं और उनका पूर्वापर क्रम भी बतलाया है।

पुराणप्रतिपादित सृष्टि रहस्य

सृष्टि चार प्रकार की होती है—प्राकृतिकी, ब्राह्मी, मानसी, मैथुनी।

१. **प्राकृतिकी**—सर्वप्रथम परमात्मा के सान्निध्य में प्रकृति का गुण क्षोभ जन्य जो परिणाम है अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त होना प्रकृति का परिणाम होने से इसे प्राकृतिकी सृष्टि कहते हैं।

२. **ब्राह्मी**—प्राकृतिकी सृष्टि के बाद ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन तीन प्रकार की मूर्तियों का आविर्भाव होता है। ये तीन प्रत्येक ब्रह्माण्ड के सगुण ब्रह्म होने के कारण प्रतिनिधि भूत ईश्वर कहे जाते हैं। यह ब्रह्म से होने के कारण ब्राह्मी सृष्टि कही जाती है।

३. **मानसी**—तदनन्तर (ब्राह्मीसृष्टि के बाद) ब्रह्मा के मानसपुत्र प्रजापतियों द्वारा देव-दानवादि की जो विस्तृत सृष्टि होती है, उसे मानसी सृष्टि कहते हैं।

४. **मैथुनी**—उद्भिज-स्वेदज-अण्डज-जरायुज इन चारों प्रकार के प्राणियों में स्त्री-पुरुष के मैथुन से होने वाली सृष्टि को मैथुनी सृष्टि कहते हैं। यद्यपि देवलोक में दैवी सृष्टि की अधिकता तथा असुरलोक में आसुरी सृष्टि की अधिकता होती है किन्तु मनुष्य पिण्ड में सत्त्व, रज एवं तम इन त्रिगुणों की अतिविषमता के कारण देवी-मानवी आसुरी तीनों प्रकार की सृष्टियाँ दिखाई देती हैं। पूर्वजन्म के कर्मानुसार व्यक्ति तत्तद् सृष्टि को प्राप्त करता है।

ब्रह्मा के समान अनेक महर्षि हुए हैं, जो मानसी सृष्टि की रचना में समर्थ थे, यथा महर्षि कश्यप और मनु से भी मानसी सृष्टि में पशु, स्थावर जंगम आदि की उत्पत्ति हुई। इस मानसी सृष्टि का वर्णन विष्णुपुराण[७३] श्रीमद् भागवत[७४] तथा वेदों[७५] में भी हुआ है।

३. वंश

श्रीमद् भागवतानुसार सृष्टि के आदि में ब्रह्मा से उत्पन्न हुए राजाओं का भूत, भविष्यत्-वर्तमान समय के कुल परम्परा का जहाँ वर्णन किया जाये, वह वंश है।[७६] पुराणग्रन्थों में सूर्यवंश, चंद्रवंश, भृगुवंश, वशिष्ठवंश, गौतमवंश, कश्यपादि वंशों का सृष्टि के आरम्भ से ही कुलक्रमों की सुव्यवस्थित परम्परा का वर्णन मिलता है।

४. मन्वन्तर

जैसा कि श्रीमद् भागवतकार ने कहा है—मनु तथा मनु के पुत्रों का, देवताओं का, ऋषियों का, अंशावतारों और प्रसिद्ध घटनाओं का जहाँ उल्लेख किया जाये, उसे मन्वन्तर कहते हैं।[७७] एतदनुसार ही पुराणों में मन्वन्तर उल्लिखित हैं।

एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। इन चौदह मनुओं में से किस मनु ने किस स्मृति का प्रणयन किया, उसकी स्त्री-पुत्रादि, तत्कालीन ऋषि, महर्षि, राजा, महापुरुष इत्यादि बातों का ज्ञान मन्वन्तर के ज्ञान द्वारा संभाव्य है।

पुराणों के मतानुसार सृष्टि काल से लेकर प्रलय पर्यन्त लगभग ४ अरब वर्ष से अधिक समय में कब कौनसी घटनायें घटीं, किन-किन महापुरुषों का आविर्भाव हुआ, इत्यादि ज्ञानार्थ वेदव्यासजी द्वारा मन्वन्तर पद्धति का आविष्कार किया गया।

इसके अन्तर्गत भौगोलिक विवेचन भी आ जाता है। मृत्युलोक के सम्बन्ध में कथन है कि यह सात लोकों में से अन्यतम भूलोक का चतुर्थांश है। यहाँ प्राणी मातृगर्भ से उत्पन्न होते हैं और मृत्यु को प्राप्त करते हैं। सभी प्राणी स्वकर्मवश होकर मृत्यु के बाद सुकृत के अनुसार स्वर्ग-सुखोपभोग करते हैं, कुछ पाप कर्मों द्वारा नरकलोक की यातनाओं को भोगते हैं। मृत्युलोक के ऊपर तीन लोक हैं, जिन्हें देवलोक कहते हैं। इनमें देवपिण्डधारी देवता रहते हैं। मनुष्य द्वारा नहीं दिखने वाले ये देवलोक मानवलोक से परे और सूक्ष्म हैं। इन लोकों में देव तथा असुर दोनों देवपिण्ड को धारण करते हैं। अन्तर यही है कि देव आध्यात्मिक वृत्ति प्रधान होते हैं तथा असुर इन्द्रियोन्मुख प्रवृत्ति प्रधान। इसलिये समय-समय पर उनमें परस्पर संग्राम होता रहता है। इस भूलोक के ४ भाग हैं—

१. पितृलोक धर्मराज पदविभूषित यम की राजधानी है।

२. नरकलोक

३. प्रेतलोक

४. मृत्युलोक (इसे जंक्शन के सुन्दर प्लेटफॉर्म की तरह माना है)

५. वंशानुचरित

'वंशानुचरितं तेषां वृत्त वंशधराच ये' अर्थात् विशिष्ट वंश में समुत्पन्न विशिष्ट महापुरुषों के चरित्र का वर्णन करना वंशानुचरित है। मृत्युलोक में उत्पन्न पुण्यात्मा महर्षि, धर्मरक्षक, कर्तव्यपरायण राजाओं के वंशजों का वर्णन भी वंशानुचरित है। सृष्टि परंपरा के आचार-विचार शृंखला इसमें समाहित है।

पुराणों में प्रलय—प्रलय का वर्णन भी सृष्टि के अन्तर्गत हुआ है। क्योंकि "यज्जन्यं तद्विनाशी" जो वस्तु पैदा होती है, वह अवश्य नष्ट होती है। विष्णुपुराण में प्रलय चार प्रकार का है—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत तथा आत्यन्तिक।[७८] इसी में तीन प्रकार भी वर्णित है—नैमित्तिक प्राकृत, आत्यन्तिक।[७९] भागवतपुराण में प्रलय के लिये निरोध शब्द प्रयुक्त हुआ है।[८०] ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार प्रलय के ये चार प्रकार हैं—नित्य, नैमित्तिक, द्विपरार्ध तथा प्राकृत।[८१] भागवतकार ने द्विपरार्ध का पर्याय प्राकृत को मानकर आत्यन्तिक प्रलय भी बतलाया है।

बहुशः पुराणों में यही पाँच लक्षण पुराणों के दिये गये हैं। किन्तु श्रीमद् भागवत एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण में पुराणों के दश प्रकार के लक्षण युक्त को महा पुराण के और पूर्वोक्त पाँच लक्षणों को क्षुल्लक पुराणों का लक्षण माना गया है। भागवत में ये १० लक्षण इस प्रकार हैं—सर्ग, विसर्ग, वृत्ति (जीवों के जीवन निर्वाह की सामग्री), रक्षा (भगवद् अवतार), अन्तर (मन्वन्तर), वंश (त्रिकालीन राजा की संतानपरंपरा), वंशानुचरित (वंशधरों तथा मलपुरुष राजाओं का विशिष्ट स्थान), संस्था (प्रतिसर्ग — प्रलय), हेतु (जीव), अपाश्रय (ब्रह्मतत्व)।[८२] पुराण के इन पाँच तथा दश लक्षणों में से विशेष महत्व पंचलक्षण को हीं मिला है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य छोटे-बड़े कई विषय भी दृष्टिगोचर होते हैं।

पुराण दर्शन

पुराणों में विभिन्न दर्शनों का उल्लेख ही नहीं, अपितु सिद्धान्तों की चर्चा भी की गई है। चराचर जगत् की सृष्टि एवं प्रलय, आध्यात्मिक ज्ञान एवं मोक्षोपलब्धि के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने के कारण दर्शनों को पुराणों में स्थान दिया गया है। पुराणों के विविध प्रसंगों में दार्शनिक तत्व विकीर्ण दिखाई देते हैं। प्रधानतः जो दर्शन पुराणों में उपलब्ध होते हैं उनको बताया जा रहा है—

पुराणों में सांख्यदर्शन

पुराणों में सर्वाधिक दृष्टिगोचर होने वाला दर्शन सांख्यदर्शन ही है। इसे ही सबसे प्राचीन माना जाता है। जगत् (सृष्टि) की उत्पत्ति के क्रम में पौराणिक धारणा सांख्य विचारधारा का ही अनुसरण करती है। जिस प्रकार सांख्य सृष्टि को अनादि अनन्त मानता है, किन्तु फिर भी सृष्टि का आविर्भाव तिरोभाव स्वीकार करता है; इसी धारणा का पुराणों में प्रकारान्तर से वर्णन है। श्री मुख्योपाध्याय ने सांख्य को ही

पुराणों का प्रधान दर्शन माना है।[८३] क्योंकि लगभग सभी पुराणों में सांख्य के मुख्य सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

सांख्य में २५ तत्व स्वीकार किये हैं, इनके संयोग से जगत् की सृष्टि होती है। इसी प्रकार हरिवंशपुराण में भी सांख्य वर्णित प्रकृति का विवेचन हुआ है, प्रकृति को व्यक्ताव्यक्त और सनातन कहा गया है। इसमें प्रवेश करके योगविद् मुक्तावस्था को प्राप्त होते हैं।[८४] सांख्य द्वारा मान्य तत्वों का विवेचन विष्णुपुराण के अन्तर्गत स्पष्ट परिलक्षित होता है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित सृष्टिक्रम ही पुराण में सर्गरूप में व्यक्त है, जैसा कि सांख्यकारिका में कहा गया है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकार ए तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।

इसी क्रम को प्रतिपादित करते हुए हरिवंशपुराण में प्रकृति को कारण कहा गया है, जिससे महत् की उत्पत्ति हुई, कृष्ण को उस प्रकृति का "कारणात्मक प्रधान पुरुष" कहा गया है। महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्राएं तथा पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। पुरुषरूप कृष्ण को इन कारणों का परिणाम कहा गया है।[८५]

भागवतपुराण में प्रकृति को कारणरूप तथा पुरुष को कार्यरूप माना है। कार्यरूप होने से सुख-दुःख के भोग का दायित्व पुरुष प्रर है।[८६] ब्रह्मपुराण में सांख्य सिद्धान्त व्यापक रूप से मिलते हैं। इसमें सांख्य तथा योग के पोषकों को अपने-अपने सिद्धान्तों की उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए दिखलाया गया है।[८७] हरिवंशपुराण के सांख्य-विषयक स्थलों में[८८] सांख्य के प्रकृति, पुरुष तथा २४ तत्वों के अतिरिक्त कोई विशिष्ट शब्दावली प्रयुक्त नहीं है। सांख्य की भांति विकारों से पर-प्रकृति तथा प्रकृति से पर-पुरुष का वर्णन शिवपुराण में दृष्टिगत होता है।[८९] सांख्यदर्शन के समान ही विष्णुपुराण के सांख्य विषयक अध्याय में २८ बाधाएँ उल्लिखित हैं।[९०] श्री दासगुप्त ने इन २८ बाधाओं को सांख्यकारिका की २८ बाधाएँ मानी हैं।[९१]

सांख्यवत् प्रकृति को जड़ अचेतन तथा पुरुष को चेतन तत्व मानते हुए सृष्टि का प्रधान कारण प्रकृति को ही माना है। सांख्य के साथ इनकी समानताओं के होते हुए भी पूर्णतया एकमत नहीं होने का कारण यही है कि पुराणों में सेष्ठर सांख्यवर्णित है। विष्णुपुराण में सांख्य के पुरुष से विष्णु का एकीभाव विष्णुपुराण के सेश्वर सांख्य की सूचना देता है।[९२] हरिवंश[९३] कूर्म[९४] आदि में भी इसी प्रकार सेश्वर सांख्य उपलब्ध होता है। गीता[९५] में भी इस मत पर प्रकाश डाला गया है। शास्त्रीय सांख्य इससे भिन्नता रखता है। 'सांख्यकारिका' निरीश्वर सांख्य का प्रमुख ग्रन्थ है। सेश्वर सांख्य तथा निरीश्वर सांख्य; इस प्रकार सांख्य दो प्रकार का हो जाता है।[९६]

हरिवंशपुराण में सेश्वर सांख्यपरंपरा सांख्य पुरुष से ब्रह्म का समन्वय करते हुए पुरुष को कारण भूत ब्रह्म से उत्पन्न बतलाया है। ब्रह्म तथा पुरुष में निकट सम्बन्ध दिखाकर सांख्य तथा अन्य दर्शनों के मौलिक भेद का परिहार किया गया है।[९७] परमात्मा की सत्ता भी सांख्य योग की भाँति निराकार निर्गुण परात्पर सत्ता, सृष्टि कारणता से परे बताई है[९८] परन्तु बहुशः ईश्वर का पुराणों में कारणरूप सगुण वर्णन ही है।

पुराणों में योगदर्शन

पातंजल योग के तत्वों (सिद्धान्तों) का उल्लेख एक नहीं, लगभग सभी पुराणों में आया है। पुराणों में प्रधानतया ज्ञान, क्रिया एवं भक्तियोग वर्णित है। अष्ट योगांगों का विस्तृत रूप से विवेचन बहुत से पुराणों में उपलब्ध होता है। शिवपुराण में यम, नियम, आसन, प्रत्याक्षर, धारणा, ध्यान समाधि—इन अष्टांगों का विवेचन करते हुए समाधि के अन्तर्गत आने वाली बाधाओं का भी विवेचन किया गया है[९९] तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों (साधना द्वारा मिलने वाली उपलब्धियों) को परमतत्व की प्राप्ति में बाधक ही बताया गया है।[१००] भागवत में योग सम्बन्धी विचारधारा गीता के योग से साम्य रखती है। यहाँ योग के दो भाग हैं—ज्ञानयोग, भक्तियोग।[१०१]

हरिवंशपुराण में योगदर्शन के तप, योगसिद्धि के अधिकारी और साधन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है।[१०२] ब्रह्मपुराण में योग तथा सांख्य में एकत्व की स्थापना उसी प्रकार महत्वपूर्ण है,[१०३] जिस प्रकार गीता में सांख्य और योग की मौलिक एकता की ओर संकेत किया गया है।[१०४] कूर्मपुराण में केवल कर्म और भक्तियोग ही नहीं, योग की सैद्धान्तिक विशेषताएँ, अष्टांग योग और उनके साधनादि का भी विशद् विवेचन हुआ है।[१०५]

प्रमुखतया वर्णित उपर्युक्त दर्शनों के अतिरिक्त मीमांसादर्शन आदि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत विचारधारा आदि का भी यथास्थान उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि शंकर एवं रामानुज तो पुराणकाल के काफी बाद के हैं। तथापि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत विचारधारा इनसे पहले उपनिषद् एवं गीता में भी उपलब्ध है। पुराणों में अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैती विचारधारा का प्रवेश उपनिषदों के माध्यम से ही हुआ प्रतीत होता है। इन दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त पुराणों में श्रमण आचार-विचार भी प्रचुररूपेण उपलब्ध होते हैं। सच तो यह है कि पौराणिक काल का विस्तार काफी लम्बे समय तक रहा है। अतः पुराणों में नानाविध आचार-विचार एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश होना स्वाभाविक है। इन्हीं विभिन्न तथा विस्तृत विवेचनों के कारण पुराणों का वैदिक संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है।

□□□

सन्दर्भ-सूची

१. "यथासूर्ववपुर्भूत्वा__पुराणं पावनं परम" —पद्म पुराण स्वर्गखण्ड, ६२.६०-६१

२. इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम् —छान्दोग्योपनिषद् ७.१.२

३. इतिहास पुराणं च पंचमो वेद उच्यते —भागवत पुराण १.४.२०

४. "पुराणं पंचमो वेद__पुराणे नात्र संशयः" —स्कन्द पुराण रेवा १.१७

५. "कल्याण" श्रीवामनपुराणांक, पृ. १४

६. मत्स्य पुराण २३.३

७. वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं__नात्र संशयः —नारदीय पुराण २.२४.१७

८. "Pargitor has rightly remarked-" Taken collectively, they (the puranas) may be described as a popular encyclopaedia of ancient and madiaval Hinduism, religious, philorophical, historical, personal, social and political."

—Encyclopaedia of Religion and Ethices Article on "Puran"

९. पाणिनी सूत्र ४.३.२३

१०. "पूर्वकालैकसर्वजगत् पुराण नवकेवलाः समानाधिकरणेच" —अष्टाध्यायी २.१.४९

"पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेश" —वही, ४.३.१०५

११. निरुक्त ३.९.३४

१२. "यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्" —वायु पुराण १.२०३

१३. "पुरा परम्परां वष्टि पुराण तेन तत् स्मृतम्" —पद्म पुराण ५.२.५३

१४. "यस्मात् ह्यभूच्चेत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्" —ब्रह्माण्ड पुराण १.१.१७३

१५. "पुरा परंपरां वक्ति पुराणं वै स्मृतम्" —वायु पुराण १.२.५३

१६. ऋग्वेद ५.५४.९, ३.५८.६, १०.१३०.६

१७. "तमितिहासश्च पुराणं च__य एवं वेद" —अथर्ववेद काण्ड १५, अनुवाक १, सूक्त ११-१२

१८. "ऋचः सामाग्नि छंदासि पुराणं__देवा दिविश्रिताः" —वही, ११.७.२४

१९. "एवमिमे सर्वे वेदा__सपुराणाः" —गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग २.१०

२०. शतपथ ११.५.६.८

२१. वही, १४.६.१०.६

२२. अ—बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.११

ब—तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ९ अनुवाक

स—छांदोग्य उपनिषद् ७.१.४ एवं ७.२.१.

२३. अ—आश्वलायन गृह्यसूत्र अ ३ एवं ४, खण्ड ६

ब—आपस्तम्भ धर्मसूत्र २.९.२३.३-६ एवं २.९.२४.६

२४. रामायण—वाल्मीकि बाल ९.१.

२५. महाभारत—व्यास आदिपर्व

२६. "पुराणं पूर्णचन्द्रेण श्रुति ज्योत्स्ना प्रकाशिता" —आदिपर्व १.८६

२७. अर्थशास्त्र कौटिल्य ५.६. ५.१३.१४

२८. "स एव बहुश्रुतो भवति लोक वेद वेदांगवित्
वाको वाक्येतिहसि पुराण कुशलः" —गौतम धर्मसूत्र ८.४-६

२९. अ—व्यास स्मृति ४.४५; १.५ ब—उशनस स्मृति ३.३४
स—मनुस्मृति ३.२३२ द—याज्ञवल्क्य स्मृति उपोद्‌घात श्लो. ३.१.४५-४६, ३.१८९

३०. शुक्रनीति ४.२६९ एवं २.१७८

३१. शबरस्वामी—जैमिनी सूत्र १०.४.२३

३२. कुमारिल—तन्त्रवार्तिक जे. १.३.७

३३. शंकराचार्य वे. सू. शांकर भाष्य १.३.२८; २.१.३६

३४. आचार्य विश्वरूप —याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा टीका—३.१७५

३५. "पुराणेषु वायु प्रलपितम्" कादम्बरी पूर्वभाग (बाणभट्ट)

३६. उत्तर कादम्बी—राजकुलम्

३७. बाणभट्ट—हर्षचरितम् ३.४.

३८. वही, परि. ३.५. अनु.

३९. सं. पं. थानेशचन्द्र उप्रेति —"विष्णुपुराणम्" प्रथमो भागः की भूमिका से

४०. वही

४१. वही

४२. शंकराचार्य —'वेदान्तसूत्र—भाष्य' ३.३.३२

४३. "सारस्वतश्चापि जगाद नष्ट वेदं पुनर्येन ददृश पूर्वैः
व्यासस्तथेनं बहुधा चकार'न यं वशिष्ठः कृतवान्नशक्तिः"—अश्वघोष
"अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः"

४४. बलदेव उपाध्याय 'पुराण विमर्श' पृ. ३९९

४५. मार्कण्डेयपुराण ४५.२०.२१

४६. कूर्मपुराण—पूर्वार्द्ध, अ. १२, श्लो. २६४

४७. वही

४८. बलदेव उपाध्याय 'पुराण विमर्श' पृ. ३९९

४९. "धर्मशास्त्र प्रणेतारो....श्रुतवानुषि" —ब्रह्माण्ड पुराण अ. ३३ श्लो.३१-३५

५०. "कल्याण" (ब्रह्मवैवर्तपुराणांक) पं. श्री रामनारायण दत्त जी शास्त्री का लेख
'पुराण साहित्य तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण'

५१. "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्" —महाभारत आदि १.२.६८

५२. पद्म पुराण, सृष्टि खंड, २.५०-५१

५३. "पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य चतुर्दशः" —याज्ञवल्क्य स्मृति

५४. "ऋचः सामानि छंदासि पुराणं यजुषासह....दिविश्रिताः" —अथर्ववेद ७१.७.२४

५५. "अध्वर्युताक्ष्यें वे पश्यतो राजयेत्वाह पुराणं वेद" —शतपथ ब्राहमण

५६. बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.११

५७. ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत पुराण माहात्म्य
५८. "स्त्री शुद्र___पुराणानि कृतानि च" —देवीभागवत पुराण
५९. "वैष्णवं नारदीय च तथा___शुभानि वै" —पद्मपुराण उत्तरखंड १६३.८१-८२
६०. "ब्रह्माण्ड___राजसानि निबोधत" वही, —उत्तरखंड १६३.८३
६१. "मात्स्यं कौर्मं तथा___तामसानि निबोधत" —वही, उत्तरखंड १६३.८४
६२. "सात्विकेषु पुराणेषु___निगद्यते" —मत्स्यपुराण ५३.६७-६८
६३. "कल्याण" का संस्कृति अंक १९५० पृ. ५५२-५५३ पर डॉ. पुलासकरण का एतद्विषयक लेख
६४. वही
६५. सं. पं. थानेशचन्द्र उप्रेति —'विष्णुपुराण' प्रथम भाग भूमिका से
६६. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री —'मार्कण्डेयपुराण' भूमिका
६७. अ—विष्णुपुराण ३.६.२४ ब—मार्कण्डेयपुराण १३४.१३
स—अग्निपुराण १.१४ द—भविष्यपुराण २.५
य—ब्रह्मवैवर्तपुराण १३३.६ र—वाराह २.४
ल—स्कन्द प्रभास खंड २.८४ व—कूर्म, पूर्वार्द्ध १.२०
म—मत्स्यपुराण ५३.६४ प—गरूड, आचारकाण्ड २.२८
फ—ब्रह्माण्ड, प्रक्रियापाद १.३८ भ—शिव वायवीयसं. १.४१
६८. श्रीमद् भागवत, सृष्टि प्रकरण
६९. सांख्यसूत्र प्रथमाध्याय, ११वां सूत्र
७०. "प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारतस्माद् गणश्च षोडशकः
तस्मादपि षोडशकात्, पंचभ्यः पंचभूतानि" —सांख्यकारिका
७१. विष्णु पुराण, अ. १. श्लो. ३
७२. "गुण व्यक्तिकरा___च सुखमानिनः
नमसोऽनुसृतं___कालमायांशयोगतः" —श्रीमद् भागवत ३.५
७३. "ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मनसा प्रजाः
___वसिष्ठं चैव मानसान्" —विष्णु पुराण अ. ३
७४. "भगवद् ध्यानपूर्वेन मनसा ऽन्यांस्त___वासुदेवपरायणाः" —श्रीमद् भागवत
७५. "मनसा साधु पश्यति, मनसा प्रजा असृजन्त"
७६. "राजां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः" —श्रीमद् भागवत, १२ स्कन्ध
७७. "मन्वन्तर मनुर्देवा मनुपुत्रा सुरेश्वरः
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते' —वही
७८. विष्णु पुराण, प्रथमांश, सप्तम अध्याय
७९. वही, छठा अंश, तृतीय अध्याय
८०. भागवत पुराण २.१०.६
८१. ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्र. खं. ८.८.९
८२. "सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतु-रपाश्रयः" —भागवत पुराण १२.७.९

८३. "Among the different schools of Philosophy, the samkohya supplies the cardinal doctrine which pervades the Purana, the duality of Prakkarti & Purusa, by which the followers of Kapila understand nature & soul or matter & mind has been eargerly ceased upon by the puranas which has interpreted them into the creative principle and the supreme spirit."

श्री मुख्योपाध्याय

—"Kurma Purana" Preface, p. XIII

८४. हरिवंशपुराण २.११४.१०

८५. श्रीमति वीणापाणि पांडे —'हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन' पृ. २४९

८६. "कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृति विदु:
भोक्तृत्वे सुखदु:खानां पुरुषं प्रकृतेपरम्" —भागवतपुराण ३.२६.८

८७. ब्रह्म पुराण २३८.२

८८. हरिवंश पुराण २.१२७; २.७१-८५; ३.३६; ३.८८

८९. "त्रिविंशति तत्त्वेभ्य: प्रकृति हि परा मता
प्रकृतेस्तु परं प्राहु: पुरुषं पंचविंशकम्" —शिवपुराण वा.सं. ३२ अ.

९०. विष्णुपुराण १.४

९१. Dasgupta, S: —'History of Indian Philosophy' Vol. 3, p. 501

९२. विष्णुपुराण १.१२; १२.१२

९३. हरिवंशपुराण २.११४.१०

९४. कूर्मपुराण १.४.६

९५. गीता १३.२१.२४

९६. "From the Historical Point of View also there are two types of samkhya; the Upnisadic & Epick Samkhya which was mainly theistic and the later samkhya system which was practically atheistic."' Sharma—Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute. Poona. Vol. XIX P.204

९७. हरिवंशपुराण ३.१६.२-३

९८. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय —'शिव पुराण में शैवदर्शन तत्व', पृ. २ २

९९. शिवपुराण, वायु सं. ३ अ २७ तथा ३८

१००. वही, अध्याय ३८

१०१. भागवतपुराण ३.२५, ४३; ३.२९.३५

१०२. हरिवंशपुराण ३.२८; १.९.११-१५

१०३. ब्रह्मपुराण में सांख्ययोग प्रकरण

१०४. गीता ५.४; ५.५

१०५. कूर्मपुराण २.११.३०-५६

□□□

३

द्रव्य-विचार

तत्व, द्रव्य आदि शब्द एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची हैं।[१] द्रव्य का लक्षण तत्वार्थसूत्र के अनुसार इस प्रकार है—"सद् द्रव्य-लक्षणम्"[२] अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है। सत् की परिभाषा यह है "उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"[३] यह सत् स्वतः सिद्ध है। उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य युक्त है। द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जैसे, मिट्टी की पिण्डपर्याय से घटपर्याय का उत्पाद। पूर्वपर्याय के नाश को व्यय कहते हैं। जैसे, घटपर्याय उत्पन्न होने पर पिण्डपर्याय का विनाश। पूर्वपर्याय का विनाश तथा नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर भी सदा बने रहने वाले मूल स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं, जैसे पिण्ड तथा घट दोनों पर्यायों में मिट्टी का रहना।

नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति तथा पुरानी अवस्थाओं (पर्यायों) का विनाश होते हुए भी द्रव्य अपने स्वभाव का कभी त्याग नहीं करता। अतः इसका न आदि है और न अन्त ही है। सदैव (तीनों कालों में) बने रहने के कारण ही यह सत् कहलाता है और सत् लक्षणवाला द्रव्य होता है। पदार्थ में यह नित्यता (ध्रौव्यता) सामान्य स्वरूप की अपेक्षा ही होती है। विशेष पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं, अतः संसार के समस्त पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं।

जैनागमों में द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा गया है—"द्रव्य गुणों का आश्रय है, आधार है। जो द्रव्य के आश्रित रहते हैं—वे गुण होते हैं। पर्यायों का लक्षण उन दोनों के अर्थात् द्रव्य और गुणों के आश्रित रहता है।[४] अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत्—"

"अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ॥"[५]

जैन दर्शन के अनुसार सत् सदैव स्थायी रहता है। द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। द्रव्य तो स्थायी होता है, मात्र उसकी पर्यायें (रूप) परिवर्तित होती रहती हैं। सत्-असत् की इस अवधारणा का उल्लेख गीता में भी है—

"नासतो विद्यते भावो,
नाभावो विद्यते सतः ॥"[६]

अर्थात् असत् की उत्पत्ति होती नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं होता।

द्रव्य की नित्यानित्यता के सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र का कथन है—वस्तु को यदि सर्वथा नित्य मानी जाये तो उसमें उत्पाद, व्यय नहीं हो सकता। उसी प्रकार उसमें क्रिया या कारक भी नहीं बन सकता। अतः प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य अर्थात् नित्यानित्य है। असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का नाश भी नहीं होता। दीपक बुझ जाता है इसका अर्थ यह नहीं है कि दीपक का सर्वथा नाश हो गया किन्तु यह है कि अन्धकार पुद्गलरूप में उसका परिवर्तन हो गया अर्थात् अन्धकाररूप से सद्‌भाव हो गया।[७] असत् पदार्थ की भी यदि उत्पत्ति हो तो फिर शशक के सींग या आकाश-पुष्प की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। अतः अनेकान्तवाद के धरातल पर द्रव्य अनादि अनंत स्वतः सिद्ध है। द्रव्यरूप से ध्रुव तथा पर्यायरूप से उत्पत्ति एवं विनाशशील है।

पदार्थों में रूपान्तर जो होता है, वह अपनी जाति से विरुद्ध नहीं होता अर्थात् एक द्रव्य, दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। जड़ का रूपान्तर जड़ ही होता है और चेतन का रूपान्तर (पर्यायान्तर) चेतन ही होता है। जड़ कभी चेतन नहीं बनता और चेतन कभी जड़ नहीं बन सकता। जगत् में जितने जीव हैं, अनन्तकाल तक उतने ही रहेंगे और जितने जड़ परमाणु हैं, वे भी उतने ही रहेंगे। न तो एक भी जीव कम हो सकता है और न एक भी परमाणु कम हो सकता है। परमाणुओं में मिलने-बिछुड़ने का गुण है। अतः जड़ को विनाशशील कहा जाता है। जीव में रूपान्तरण तो होता है किन्तु जीव के प्रदेशों में मिलने-बिछुड़ने का धर्म नहीं है अर्थात् किसी जीव के कुछ प्रदेश उससे अलग नहीं हो सकते और न दूसरे जीव में मिल सकते हैं।[८]

सत् को उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य युक्त बताने का तात्पर्य यही है। सत् स्थायी है, तथापि उसमें विकार दिखाई देते हैं, जो प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक जीव की अनेक शरीरी अवस्थाएं होती हैं, वह प्रत्येक जन्म में एक शरीर धारण करता है जो सादि-सान्त होता है, परन्तु जीव स्वयं अनादि अनन्त है। इस प्रकार "बदलते रहना और उसके बावजूद स्थायी रहना" सत् की विशेषता है।[९]

द्रव्य (सत्) के इस स्वरूप को पुराणों का भी समर्थन प्राप्त है। उसके ध्रुवत्व का वर्णन पुराणों में भी दृष्टिगत होता है। यथा प्रकृति को सत् माना गया है किन्तु फिर भी परिणामी मानते हुए उसके परिवर्तन—विकार का वर्णन किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सृष्टि कभी एकदम से उत्पन्न हुई और पूर्ण नष्ट हो गई। भागवत पुराण के अनुसार—"यह जगत् अनादि और अनन्त है। वर्तमान काल में विश्व जैसा

है, वह भूतकाल में वैसा ही था और भविष्य में भी वह उस रूप में रहेगा"[१०] और साथ ही उसकी अनित्यता भी बताई गई है जो जगत् के परिवर्तनों में दिखाई देता है। अव्यक्त रूप से सत् का अस्तित्व बना रहता है किन्तु उसका व्यक्त रूप परिवर्तित होता रहता है। कारणावस्था में रहने पर जिस तत्व को अव्यक्त कहते हैं उसी को कार्यावस्था में व्यक्त कहा जाता है। उदाहरण के लिये—कारणावस्था को मिट्टी का लोंदा और कार्यावस्था को घट कहा जाता है।[११] घटादि कार्यमृदादि से भिन्न नहीं होते। घट उसका परिवर्तित रूप है। घट में मृतिका तो सत्रूपेण स्थायी है। चाहे घट की उत्पत्ति हो या विनाश।

द्रव्य-भेद

जैनदर्शन में षड्द्रव्यों का निरूपण किया गया है—

१. धर्मास्तिकाय	२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशस्तिकाय	४. काल
५. पुद्गलास्तिकाय	६. जीवास्तिकाय[१२]

काल सावयव नहीं है अतः वह अस्तिकाय नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं तथा काल, पुद्गल एवं जीव अनन्त हैं। इन्हें दो प्रकार के द्रव्यों में भी समाविष्ट किया जा सकता है—

१. जीव द्रव्य	२. अजीव द्रव्य

अजीव द्रव्य में जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पाँचों द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय

यहाँ धर्म-अधर्म का तात्पर्य पुण्य-पाप नहीं है। धर्म-अधर्म सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। ये दोनों जीव और पुद्गल की तरह स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जो जीव तथा पुद्गल को चलने एवं ठहरने में सहायक होते हैं वे क्रमशः धर्म तथा अधर्म द्रव्य कहे जाते हैं।[१३] यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति तो जीव और पुद्गल में ही है किन्तु बाह्य सहायता के बिना शक्ति की अभिव्यक्ति हो नहीं हो सकती, अतः इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[१४] जिस प्रकार मछली के लिये जल चलने में अप्रत्यक्ष रूप से सहकारी है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्यों का धर्मद्रव्य गमन करने में सहकारी कारण माना गया है। अधर्मद्रव्य स्थिति में ठीक वैसे ही सहायक होता है, जैसे थके हुए पथिक को विश्राम करने में (ठहरने में) छाया सहायक होती है। तात्पर्य यही है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव, पुद्गल द्रव्यों को न तो जबर्दस्ती चलाते हैं और न ही ठहराते हैं परन्तु निमित्त रूप से उनके चलने और ठहरने में सहायक बनते हैं।

यदि इनको चलने या ठहरने में उदासीन कारण न मानकर प्रेरक कारण माना जाये तो यह बाधा उपस्थित होगी कि धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य सर्वत्र एवं सर्वदा लोक में पाये जाते हैं; इससे जब धर्मद्रव्य चलने में सहायक होगा, तब अधर्मद्रव्य चलने में बाधक होगा, तथा अधर्मद्रव्य ठहरने में सहायक होगा, तब धर्मद्रव्य ठहरने में बाधक होगा। इससे सिद्ध होता है कि दोनों द्रव्य उदासीन रूप से ही सहायक हैं।[१५]

पुराणों में यद्यपि गति एवं विश्रान्ति के सन्दर्भ में धर्म-अधर्म का उल्लेख नहीं है तथापि रजस् एवं तमस् को धर्म-अधर्म के स्थान पर देख सकते हैं। वैसे ये धर्म, अधर्म की भांति स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। यही नहीं, ये (रजस्, तमस्) धर्म-अधर्म की भाँति उदासीन भी नहीं हैं तथापि गति एवं विश्राम के सिद्धान्त होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय है। सांख्यदर्शन के समान ही पुराणों में भी प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना है। सत्व द्वारा अव्यक्त पदार्थों की अभिव्यक्ति तथा प्रकाश होता है। रजस् के कारण गति होती है तथा तमस् द्वारा विश्रान्ति अर्थात् प्रतिरोध बताया गया है। इस प्रकार पुराणों में रजस् गतिशीलता का एवं तमस् अवरोध का द्योतक है। सांख्यदर्शनानुसार भी रजोगुण प्रेरक (प्रवर्तक, प्रोत्साहक) क्रियाशील है तथा तमोगुण गुरुत्वधर्मी (भारीपन लाने वाला), कार्य का प्रतिबन्धक है।[१६]

आकाशस्तिकाय

जो सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देता है, उसे आकाश कहते हैं।[१७] आकाश लोक तथा अलोक सर्वत्र व्यापक है। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल—ये द्रव्य जितने आकाश क्षेत्र में रहते हैं, वह लोकाकाश है। इसके अतिरिक्त जहाँ आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं हो, उसे अलोकाकाश कहते हैं।

उपर्युक्त आकाश का पुराणों में भी उल्लेख है। पुराणों में आकाश के सम्बन्ध में कहा गया है कि "आकाश अनन्त है। इसकी अपनी गरिमा है। इसमें चतुर्दश ब्रह्माण्ड हैं, चन्द्रमा और सूर्य कुछ सीमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करते हैं। अन्तरिक्ष का वह क्षेत्र जो उनकी रश्मियों से परे है, उसे वे प्रकाशयुक्त नहीं कर सकते।"[१८]

काल

जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक है, उसे कालद्रव्य कहते हैं।

"वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य"[१९] अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ये सब कालद्रव्य के उपकार हैं। सभी द्रव्य अपने आप वर्तित होते हैं तथापि उनके वर्तन में जो बाह्य सहकारी कारण होता है, उसे वर्तना कहते हैं। अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं, जैसे जीवों के परिणाम क्रोधादि और पुद्गलों के परिणाम अणु आदि। एक स्थान

से दूसरे स्थान में गमन आदि परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं। छोटे-बड़े के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं, जैसे पच्चीस वर्ष के मनुष्य को बड़ा और बीस वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं। ये सब कालद्रव्य की सहायता से होते हैं।[२०] इसलिये इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चयकाल द्रव्य का अनुमान किया जाता है।

यद्यपि परिणमन की शक्ति स्वयं पदार्थ में रहती है फिर भी बाह्य निमित्त उसमें सहायक होता है। यथा पुद्गल के वर्णादि स्वयं ही परिवर्तित होते हैं तथापि काल के द्वारा परिवर्तन कराया जाता है। "काल की प्रमुख विशेषता अन्य द्रव्यों की पर्यायों को परिवर्तित करना है। वैसे द्रव्य स्वयं ही अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन करते हैं, फिर भी उनके इस परिवर्तन का कुछ बाहरी कारण होता है, यह बाहरी कारण काल है।"[२१] इस प्रकार द्रव्य की पर्यायों के परिवर्तन में अर्थात् किसी पर्याय से निवृत्ति और अन्य किसी पर्याय को ग्रहण कराने में काल सहकारी होता है।

काल एक प्रदेशी है, बहुप्रदेशी न होने से उसे कायवान् द्रव्य नहीं माना है, काल अनादि अनन्त है। काल की गणना अढाई द्वीप (मनुष्य क्षेत्र) में ही सूर्य-चन्द्र की गति के कारण होती है।[२२]

पूर्वोक्त अवधारणा के समान ही पुराणों में काल को परिवर्तन का कारण माना गया है। काल का महत्व वहाँ एक सार्वभौम नियम के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जो व्यवस्थापक है। शिवपुराणानुसार—"काल से ही वस्तु की उत्पत्ति और लय है, क्योंकि काल कभी निरपेक्ष नहीं रहता। जब यह जगत् लीन हो जाता है, तब पुनः उत्पन्न होता है—वह उत्पत्ति और प्रलयचक्र के समान चलता ही रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र तथा अन्य देवता जिसके नियम का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हैं, जो काल भूत, भविष्य, वर्तमान रूप से विभाग करके प्रजा को जराग्रस्त करके भयंकर रूप से वर्तमान रहता है। अत्यन्त बुद्धिमानी दिखाकर भी कोई व्यक्ति काल को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि काल के क्रम को कभी अस्थान नहीं किया जा सकता। जो पराक्रम से इस पृथ्वी को वश में करके एकछत्र शासन करता है—वह भी काल की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता। जो इन्द्रियों को वश में करके सम्पूर्ण जगत को जीत लेते हैं, वे भी काल पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु काल उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। आयुर्वेद और रसायन के ज्ञाता वैद्य भी काल को मिटाने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि काल दुरतिक्रम है। काल के बिना प्राणी का मरण, जन्मग्रहण, पुष्टि आदि सम्भव नहीं है। काल के बिना दुख-सुख की प्राप्ति भी नहीं होती। अकाल की कोई वस्तु नहीं होती। काल से ही शीतल समीर बहती है। काल से मेघ वर्षा करते हैं। काल से उष्णता शान्त होती है तथा काल से ही सब कार्य सफल होते हैं। काल ही सबकी उत्पत्ति का कारण है। काल से ही नष्ट होते हैं। काल से ही सब लोक जीवित हैं। काल तो स्वयं अनादिअनन्त है।"[२३]

काल का विभाजन

जैन दर्शन में दो प्रकार का काल बताया गया है—निश्चयकाल तथा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर पृथक्-पृथक् कालाणु (काल के अणु) स्थित हैं, अतः इन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं। आपसी व्यवहार के निमित्त स्थिर किए गये समय, आवली, उच्छ्वास आदि व्यवहार काल है।[२४] अर्थात् जीव तथा पुद्गल के परिवर्तन (नूतन तथा जीर्णपर्याय) को एवं घड़ी, घण्टा रूप स्थिति को व्यवहार काल कहते हैं। इसी कारण से जीव तथा पुद्गल सम्बन्धी परिणाम (पर्याय) से, देशान्तर में संचलनरूप अथवा गोदोहन पाक आदि परिस्पन्द (हलन-चलन) की धारक क्रिया से तथा दूर एवं निकट देश में चलनरूप कालकृत परत्व-अपरत्व से यह काल जाना जाता है। अतः यह व्यवहार काल परिणामादिलक्षण रूप कहा है। अपने उपादान कारण में स्वयं परिणमनशील द्रव्यों के परिणमन में कुंभकार के चक्र के भ्रमण में उसके कील के समान जो सहकारी होता है उसे वर्तना कहते हैं, वर्तना को ही निश्चय काल कहते हैं।[२५]

भगवती सूत्र[२६] में व्यवहार काल को इस प्रकार से बताया गया है—

- आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल परमाणु मंद गति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए पास के दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है, उसे समय कहते हैं।
- असंख्यात समयों का समुदाय एक आवलिका कहलाती है।
- असंख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास तथा उतनी ही आवलिकाओं का एक निःश्वास होता है।
- एक श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं।
- सात स्तोकों का एक लव
- ७७ लवों का एक मुहूर्त
- तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र
- १५ अहोरात्र का एक पक्ष
- दो पक्षों का एक मास
- दो मासों की एक ऋतु
- तीन ऋतुओं का एक अयन
- दो अयन का एक संवत्सर (वर्ष)
- पाँच वर्ष का एक युग

औपमिक काल दो प्रकार है—पल्योपम, सागरोपम। पल्योपम—एक योजन (चार कोस) प्रमाण लम्बा, चौड़ा और गहरा एक पल्य (गड्डा) ठूंस-ठूंस कर बालाग्रों (जिसका दूसरा खंड न हो सके ऐसे बाल) से भरा जाए। उस पल्य में से सौ-सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक बालाग्र निकाला जाए और इस प्रकार जितने काल में वह खाली हो जाए, उतने काल को एक पल्योपम कहते हैं। सागरोपम—दस कोटाकोटि (एक करोड़ × एक करोड़) पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

व्यवहार काल का वर्णन अन्य प्रकार से भी किया गया है। जिसके अनुसार व्यवहार काल की सबसे बड़ी इकाई "कल्प" है। सैद्धान्तिक दृष्टि से पुद्गल परावर्त है, जिसके भी सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं।

कल्प को दो समान छः भागों में विभक्त किया गया है—अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी। प्रत्येक भाग दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल का होता है।

दोनों अर्धांशों के पुनः छः उपविभाग हैं—

१. सुषमा—सुषमा, २. सुषमा

३. सुषमा—दुषमा, ४. दुषमा—सुषमा

५. दुषमा ६. दुषमा—दुषमा.

उत्सर्पिणी कालक्रम अवसर्पिणी काल से ठीक विपरीत अर्थात् दुषमा-दुषमा से सुषमा तक है। ह्रासोन्मुखी इन छः कालों के समुदाय को अवसर्पिणी कहते हैं तथा विकासोन्मुख छः कालों के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। जैन परिभाषा के इन छः भागों को कालचक्र के आरे कहा जाता है। उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी इन दोनों का एक पूर्णकालचक्र होता है, जो क्रमशः सदैव चलता ही रहता है। छह आरों के भी पुनः भोगभूमि एवं कर्मभूमि इस प्रकार से भाग हैं।

भोगभूमि से यहाँ तात्पर्य तात्कालिक देशकालीन परिस्थितियों से है, न कि योनि—विशेष से, भोगभूमि में उत्पन्न लोगों का जीवन भोगप्रधान रहता है। इस समय प्रकृति ही इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवन-यापन के लिये किसी प्रकार के कृषि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा युद्ध आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। जबकि असि-मसि-कृषि इन कर्मप्रधान होने के कारण (अन्य क्षेत्र) कर्मभूमि के नाम से अभिहित किया जाता है।[२७]

पुराणों में भी जैन दर्शन के समान काल को अनादि-अनन्त बताते हुए कहा गया है कि विषयों का रूपान्तर या बदलना ही काल का आकार है।[२८] काल का विभाजन पुराणों में इस प्रकार से है—[२९]

१५ निमेष = एक काष्ठा,

३० काष्टा	=	एक कला, ३० कला = एक घटी,
३० कला	=	एक घटी,
२ घटी (६० कला)	=	एक मुहूर्त
३० मुहूर्त (६० घटी)	=	एक अहोरात्र (दिन-रात)
१५ अहोरात्र	=	एक पक्ष
२ पक्ष	=	एक माह
६ महीना	=	एक दक्षिणायन = एक दिव्य रात
६ *महीना*	=	*एक उत्तरायण = एक दिव्य दिन*
२ *अयन*	=	एक वर्ष
३० वर्ष	=	१ दिव्य मास
३६० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष
३०३० वर्ष	=	१ सप्तर्षि वर्ष
९०९० वर्ष	=	१ ध्रुव वर्ष
९६००० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष सहस्र
१७,२८,००० वर्ष	=	१ सत्ययुग
१२,९६,००० वर्ष	=	१ त्रेतायुग
८,६४,००० वर्ष	=	१ द्वापरयुग
४,३२,००० वर्ष	=	१ कलियुग
४३,२०,००० वर्ष	=	१ चतुर्युगी
३०,६७,२०,००० वर्ष	=	१ मन्वन्तर (७१ चतुर्युगी)
४,२९,४०,८०,००० वर्ष	=	१४ मन्वन्तर
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्म दिन (सहस्र चतुर्युगी)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्म रात्रि

काल के इस विभाजन के अतिरिक्त जैन कालमीमांसा में वर्णित अवसर्पिणी एवं *उत्सर्पिणी काल का भी उल्लेख* पुराणों में है।[३०] जिनका सम्बन्ध वहाँ भी ह्रास एवं विकास की दृष्टि से ही है।

इस प्रकार काल की जगत् के परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका को पुराण तथा जैनधर्म में स्वीकार किया है।

पुद्गलद्रव्य

समस्त द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल ही रूपी द्रव्य है अर्थात् वर्णादि सहित है, शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है तथा परस्पर में मिलकर त्रिकोण, चौकोण, गोल आदि आकारों में और पिण्ड (स्कन्ध) रूप एवं परस्पर एक-दूसरे से विलग होकर परमाणु रूप में बन जाता है, वह पुद्गल है।[३१]

इन्द्रियों द्वारा जो कुछ सुना जाता है, देखा जाता है, सूँघा जाता है, छुआ जाता है, चखा जाता है—वह सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। पुद्गल के दो भेद हैं—अणु तथा स्कन्ध। पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा अणु कहा जाता है एवं एक अणु में एक से लेकर अधिक अणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है।[३२] पुद्गलों के मिलने एवं विलग होने की क्रिया स्वाभाविक रूप से होती रहती है। जैन दार्शनिक भाषा में इसे संघात तथा भेद कहा जाता है।

शब्द (वीणादि का शब्द), बंध (घट आदि में मृत्पिण्ड रूप पुद्गल का, तथा जीव वा पुद्गल का संयोग रूप कर्म या नोकर्म का बंध), सूक्ष्मत्व (बेल के फल की अपेक्षा बेर में और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता), स्थूलत्व (बेर के फल की अपेक्षा बेल में तथा लोकत्रय में व्याप्त महास्कन्ध में, स्वयमेव स्थूलता), संस्थान (गोल, त्रिकोण आदि आकार तथा समचतुरस्र आदि संस्थान), भेद (गेहूँ का आटा, दलिया आदि खण्ड), तम (दृष्टि का रोधक अन्धकार), छाया (प्रतिबिम्ब, धूप में मनुष्यादि की और दर्पण में मुखादि की छाया), उद्योत (चन्द्रविमान, चन्द्रकान्तमणि या जुगनूँ आदि तिर्यञ्च जीवों में प्रकाश), आतप (सूर्य प्रकाश में या सूर्यकान्तमणि आदि रूप पृथ्वीकाय का प्रकाश) ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें (विभावं व्यञ्जन पर्यायें) हैं।[३३] जितने भी मूर्तिमान पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, पशु-पक्षी-मनुष्यादि के शरीर—ये सब पौद्गलिक रूप हैं। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। ये परमाणु द्रव्यरूप में शाश्वत और पर्यायरूप में अशाश्वत हैं।[३४] पुद्गल स्कन्धों का भेद और संघात निरन्तर होता रहता है और इसी पूरण और गलन के कारण इसका पुद्गल नाम सार्थक होता है—[३५] "पुरणाद् गलनाद् पुद्गलः" पुद्गल को अनन्त, लोकप्रमाण, अजीव माना गया है।

जैनदर्शन के समान पौद्गलिक पदार्थों को पुराणों में भी जड़ तथा बनते-बिगड़ते रहने वाला कहा है। उनका आविर्भाव-तिरोभाव चलता रहता है। जिस प्रकार से जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादि होते हुए भी स्थायी नहीं है, इसी के कारण (कार्मण शरीर के द्वारा) ही आत्मा संसारस्थ रहती है; इसी प्रकार से पुराणों में भी आत्मा पर आवृत मल को पौद्गलिक तथा जड़ बताया गया।

पुराणों में जड़ पदार्थों का उल्लेख है। यही नहीं, परमाणु को जैनदर्शन के समान उसकी लघुतम इकाई भी स्वीकृत किया है परन्तु दोनों के परमाणु में अन्तर है। जैनदर्शन में सूक्ष्म परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है तथा ऐसे अनेक व्यवहार परमाणु का एक त्रसरेणु बताया गया है।[३६] जबकि पौराणिक अवधारणा के अनुसार परमाणु जड़ की अल्पतम इकाई है, जिससे आठ गुना बड़ा त्रसरेणु बताया है।[३७] इससे यह जैनोक्त परमाणु से स्थूल प्रतीत होता है तथा पंच भूतों का पुराणों में स्कन्ध रूप में वर्णन, प्रकृति एवं प्रकृति का विकासक्रम भी पौद्गलिक है।

जीवद्रव्य

समस्त द्रव्यों में एक मात्र जीवद्रव्य ही सजीव द्रव्य है। जीव की स्थिति लोक में ही बताई गई है। जीवद्रव्य का गुण उपयोग (चैतन्य) बताया है। जीवद्रव्य पुद्गल के मिश्रण से अशुद्ध होने के कारण बद्ध रहता है। उसके बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया का विशद् विश्लेषण जैनधर्म एवं पुराण में किया गया है। दोनों में जीवद्रव्य की नित्यता एवं चैतन्यगुण बताते हुए उसे देहादि समस्त विनाशशील भौतिक पदार्थों से भिन्न कहा गया है अर्थात् जीव का अस्तित्व अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा।[३८] जीवों के बहुत से प्रकारों का एवं चौरासी लक्ष जीवों की योनियों का भी चित्रण किया गया है।

निष्कर्षतः द्रव्य की व्याख्या एवं भेदों का वर्णन जिस प्रकार से व्यवस्थित जैनदर्शन में उपलब्ध होता है, उतना तो नहीं किन्तु फिर भी पुराणों में सत् के व्यक्ताव्यक्त रूप के वर्णन से तथा उसकी नित्यता से जैनदर्शन वर्णित सत् तुलनीय है। द्रव्य के जड़ तथा चेतन (अजीव तथा जीव) का विवेचन पृथक्-पृथक् विस्तृत रूप से दृष्टिगोचर होता है। जीव के चैतन्यगुण एवं अजीव के जड़त्व का प्रतिपादन ही नहीं, बल्कि उनके परिवर्तन, परिणमन आदि भी उल्लिखित हैं।

□ □ □

सन्दर्भ-सूची

१. "तत्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, शुद्ध, परम—ये सभी शब्द एकार्थक हैं"

—श्री मधुकर मुनि 'जैन तत्वदर्शन' पृ. ३

२. तत्वार्थ सूत्र ५.२९

३. वही, ५.३०

४. गुणाणमासिओ दव्वं एकदव्वस्सिया गुणा
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥ —उत्तराध्ययन २८.६

५. भगवती १.३

६. गीता

७. "न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति
न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतां जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति" —समंतभद्ररचित 'स्वयंभू स्तोत्र'

८. जैन तत्वप्रकाश पृ. ५.४५

९. M. Hiriyanna "Outlines of Indian Philosophy"
(Hindi Translation) P. 161

१०. (अ) भागवत पुराण ३.१०.१३
(ब) डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय
"वैष्णव पुराणों में सृष्टिवर्णन"
प. बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित भूमिका से, पृ. १५

११. तत्कारणदशापन्नमव्यक्तमिति कथ्यते
व्यक्तं कार्यदशापन्नं शरीरादिघटादिवत् ॥ —शिव पुराण ७.१.५.३९

१२. उत्तराध्ययन २८.७, ८

१३. "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः" —तत्वार्थसूत्र ५.१७

१४. डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन "जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास" पृ. ९५-९६

१५. द्रव्यसंग्रह—१७

१६. (अ) डॉ. नन्दकिशोर देवराज "भारतीय दर्शन" पृ. ३७८
(ब) "सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः" शिव पुराण ७.१.५.३२

१७. "आकाशस्यावगाहः" तत्वार्थसूत्र ५.१८

१८. (अ) डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय "वैष्णव पुराणों में सृष्टिवर्णन" पृ. १०५
(ब) "अनन्तमेतदाकाशं.....पश्यतः" —नारदीय पुराण १.४२.२५-२६ अ.

१९. तत्वार्थसूत्र ५.२२

२०. सं. मोहनलाल शास्त्री "मोक्षशास्त्र सटीक" पृ. ९५

२१. वही

२२. (अ) उत्तराध्ययन २८.८

(ब) जैनतत्वप्रकाश पृ. ३४८

२३. शिव पुराण (३) पृ. ३८५-३८८ श्लो. १-४, ११-१४, २२-२४

२४. डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन "जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास" पृ. ९६

२५. सर्वार्थसिद्धि पृ. ६१

२६. भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) अभयदेववृत्ति ६.७.२४६

२७. डॉ. तेजसिंह गौड़ —'जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास' पृ. १

२८. विष्णु पुराण १.२.२७

२९. बलदेव उपाध्याय —'पुराण विमर्श' पृ. २९०

३०. विष्णुपुराण २.४.१३-१४

३१. मधुकर मुनि —'जैन तत्वदर्शन', पृ. १४

३२. (अ) स्थानांग ४४२ (अभयदेववृत्ति)

(ब) तत्वार्थसूत्र २५, २६, २७

३३. सद्दो बंधो सुहमो, थूलो संठाणभेदतमच्छाया
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ —द्रव्यसंग्रह १६

३४. भगवती सूत्र १४.४

३५. पी. सी. जैन "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन", पृ. १४५

३६. जैनतत्वप्रकाश पृ. ४५

३७. डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री —'मार्कण्डेय पुराण', पृ. २४

३८. आत्मतत्व नामक अध्याय में द्रष्टव्य

□ □ □

४

आत्मतत्त्व-चिन्तन

आत्मा का अस्तित्त्व सभी दर्शनों में स्वीकृत किया गया है। चार्वाक दर्शन भी यह नहीं कहता कि आत्मा का सर्वथा अभाव है किन्तु उसे एक स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता। भारतीय दर्शनों की इसी विशेषता को दृष्टि-सन्मुख रखकर न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है—"आत्मा के अस्तित्त्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः विवाद नहीं है। यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के स्वरूप-विशेष से है अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानते हैं, कोई बुद्धि को। कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्त्व को स्वींकार करते हैं।"[१]

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शन उसके स्वरूप (चैतन्य गुण) एवं उसकी व्याख्या में प्रायः कई समानताएं रखते हैं। आत्मा के स्वरूप, प्रदेशों, अमरता तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी जीवन-शैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों का आत्मवाद सम्बन्धी धरातल एक जैसा ही है। आत्मा सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है एवं सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप में इसका संविकास होता है—इस विषय में मतैक्य दृष्टिगत होता है। ईश्वर के स्वरूप में मतवैभिन्न्य होते हुए भी ईश्वर की सत्ता सभी दर्शनों में स्वीकृत है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी दर्शन यह वर्णन अवश्य करते हैं कि अज्ञेय स्वरूप वाले ईश्वर-तत्त्व के साथ आत्मतत्त्व का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य है। दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्त्व होते हुए मौलिक स्वरूप समान है। सभी भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व को चेतनामय ज्ञानमय और अनुभूति सम्पन्न स्वीकार किया है। (न्याय, वैशेषिक का मत थोड़ा सा भिन्न है। उनके अनुसार आत्मा का शरीर इन्द्रिय मन से सम्बन्ध होने पर चेतना उत्पन्न होती है।) इससे निश्चय होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल में एक जैसा ही है। सत्, चित् और आनन्द की प्राप्ति ही इसका मूल ध्येय है तथा चिरंतन सत्य का अनुसंधान करते हुए आत्मतत्त्व का जो शिवस्वरूप है, उसके मधुर संदर्शन में ही भारतीय दर्शनसमूह अपने आपको कृतकृत्य मानता है।[२]

ऐतिहासिक समीक्षा

जैनेतर दर्शनों में ऐतिहासिक रूप से आत्मवाद की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में बाह्य दृष्टि (बाह्य इन्द्रियों) द्वारा ग्राह्य तत्त्वों को मौलिक तत्त्व माना गया यथा जल,[३] वायु[४]। इन्हीं को उपनिषदों में विश्व का मूल तत्त्व मानते हुए आत्मा या चैतन्य की सृष्टि करने वाला स्वीकृत किया है। बाह्य दृष्टि से विचारक्षेत्र में आने पर असत्,[५] सत्[६] या आकाश[७] जैसे तत्त्वों को मौलिक माना गया। तत्पश्चात् आत्माभिमुख दृष्टि होने पर प्राणतत्त्व को मौलिक माना गया।[८] इसी के साथ ब्रह्म या आत्माद्वैत आदि धारणाएं उद्भूत हुईं। अद्वैतधारा के समानान्तर द्वैत-धारा भी प्रवाहित थी। जैन, वेदान्त, सांख्य दर्शन में विश्व के मूल में एक तत्त्व नहीं होकर चेतन एवं अचेतन दोनों तत्त्व हैं।

वेदान्त दर्शनानुसार माया तत्त्व के कारण ही ब्रह्म नामक आत्म तत्त्व अपने आपको बंधा हुआ समझता है, परन्तु स्व-स्वरूप का भान होते ही माया से मुक्ति हो जाती है एवं ईश्वरीय स्वरूप प्राप्त हो जाता है। सांख्य दर्शन भी यही मान्यता प्रस्तुत करता है कि विश्व में केवल दो ही मूलभूत पदार्थ हैं—पुरुष तथा प्रकृति। पुरुष तत्त्व साक्षात् ईश्वरस्वरूप है किन्तु प्रकृति के सान्निध्य में वह स्वयं को बद्ध मान लेता है। यह विवेक जागृत होते ही कि यह सब प्रकृति का खेल है, वह परिमुंक्त हो जाता है। वस्तुतः "वेदान्त दर्शन का ब्रह्म तत्त्व, सांख्य दर्शन का पुरुष तत्त्व तथा जैन दर्शन का आत्म तत्त्व लगभग समान है। उक्त तीनों दर्शनकारों की आत्मतत्त्व विवेचन प्रणाली भिन्न होती हुई भी सिद्धान्ततः समान है।"[९]

आत्मा : एक मौलिक तत्त्व

सभी दर्शनों के अनुसार संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, परन्तु मूल तत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में प्रमुख चार धारणाएं हैं[१०]—

१. मूल तत्त्व जड़ (अचेतन) है और उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। अजितकेशम्बलिन्, चार्वाक-दार्शनिक और भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं।
२. मूल तत्त्व चेतन है। उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त और बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं।
३. कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जिन्होंने परमतत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

४. कुछ विद्वान् जड़ और चेतन दोनों को परम तत्त्व मानते हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्त्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मौलिक-तत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न विवाद हैं। जैन दर्शन के अनुसार—जड़ तथा जीव दोनों मौलिक तत्त्व हैं।

आत्मा का अस्तित्त्व

आत्मा के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में जैन विचारकों ने कई तर्क प्रस्तुत किये हैं[११] यथा जीव का अस्तित्त्व जीव शब्द से ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि असत् की कोई सार्थ संज्ञा ही नहीं बनती।

- जीव है या नहीं? यह सोचना मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष? "चिन्तये अतोस्मि" तथा सन्देहविधि द्वारा आत्मा के अस्तित्त्व को देकार्त ने भी असंदिग्ध सिद्ध किया है।[१२]
- यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। बिना अधिष्ठान के किसी ज्ञान की, संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।[१३]

एक प्राचीन जैनाचार्य के कथनानुसार—आत्मा शरीरोत्पत्ति के पूर्व था एवं शरीरान्त के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। "तत्काल जन्मे हुए बालक में पूर्वजन्मगत अभ्यास के कारण माता के दुग्धपान की ओर अभिलाषा तथा प्रवृत्ति पाई जाती है। मरण के पश्चात् व्यन्तर आदि रूप में कभी-कभी जीव के पुनर्जन्म का बोध होता है। जन्मान्तर का किसी-किसी को स्मरण होता है। जड़तत्त्व का जीव के साथ अन्वय—सम्बन्ध नहीं पाया जाता। इसलिए अविनाशी आत्मा का अस्तित्त्व माने बिना अन्य गति नहीं है।[१४] इसी के समर्थक न्यायसूत्र के अनुसार—"यदि जन्म के पूर्व आत्मा को सद्भाव न होता तो वीतराग-भावसम्पन्न शिशु का जन्म होना चाहिए किन्तु अनुभव से ज्ञात होता है कि शिशु पूर्व-अनुभूत वासनाओं को साथ लेकर जन्म धारण करता है।"[१५] आचार्य अकलंक का आत्मा के साथ सम्बन्ध-युक्तिवाद इस प्रकार से है—"आत्मा के विषय में उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय में सभी विकल्पों द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। आत्मा के विषय में यदि सन्देह है तो भी आत्मा का सद्भाव सिद्ध होता है, क्योंकि सन्देह अवस्तु को विषय नहीं करता। संशयज्ञान उभयकोटि को स्पर्श करता है, आत्मा का यदि अभाव हो तो दो विकल्पों की ओर झुकने वाले ज्ञान का उदय कैसे होगा? अनध्यवसाय-ज्ञान भी जात्यन्ध को रूप के

समान प्रकृत में बाधक नहीं है, कारण अनादि से आत्मा का परिज्ञान होता आया है। विपरीत ज्ञान के मानने पर भी आत्मा का अस्तित्त्व सिद्ध होता है। पुरुष को देखकर उसमें स्थाणु (ठूंठ) रूप विपरीत बोध के द्वारा जैसे स्थाणु की सिद्धि होती है, उसी प्रकार आत्मा का यथार्थ बोध होगा। आत्मा के विषय में समीचीन बोध मानने पर उसका अस्तित्त्व अबाधित सिद्ध होता ही है।"[१६]

जैनदर्शनवत् पुराणों में भी आत्मा के अस्तित्त्व के लिए प्रमाण देते हुए कहा गया है कि "आत्मा प्रत्येक शरीर में स्वतः प्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि "मैं हूँ"। परन्तु इस "मैं" के साथ इतने प्रकार के अर्थ जुड़े हुए हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिए विश्लेषण और तर्क की आवश्यकता है। इस विवेचना के लिए एक प्रणाली है—शब्दार्थ का विश्लेषण। "मैं" कभी-कभी शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे "मैं मोटा हूँ।" कभी-कभी "मैं" का व्यवहार ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में किया जाता है, जैसे "मैं सोचता हूँ।" कभी-कभी "मैं" से कर्मेन्द्रिय का बोध होता है, जैसे "मैं लँगड़ा हूँ।" परन्तु शरीर, इन्द्रिय आदि की आत्मता का खण्डन करते हुए शिवपुराण कहता है कि बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर आत्मा नहीं है, इनसे व्यतिरिक्त विभु, ध्रुव कोई आत्मा है किन्तु उसके लिए तर्क बड़ा दुर्गम है। फिर भी इतना तो निश्चय है कि बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीर आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि का ज्ञान अनियत है और एक अंग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव नहीं होता अर्थात् अनियत ज्ञान होने से बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती और एक अंग में व्यथा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव न होने से शरीर एवं इन्द्रियाँ आत्मा नहीं बन सकती। अतः वेदों एवं उपनिषदों में अनुभूत पदार्थों का ज्ञाता, अन्तर्यामी कहा गया है।"[१७]

आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शनसार के अनुसार "जो जीवन जीता है, इन्द्रिय-बल-आयु- श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों को धारण करता है, वह जीव है।[१८] निश्चयनय से स्वचेतनात्मक स्वभाव वाला जीव है।[१९] द्रव्यसंग्रह में जीव को उपयोगमय (ज्ञानदर्शनोपयोग), अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध तथा ऊर्ध्वगामी कहा है।"[२०]

आत्मा के ज्ञानमयत्व, अमूर्तिकत्व, नित्यत्व आदि गुणों को प्रतिपादित करते हुए पुराणों में कहा गया है—"यह आत्मा न तो चक्षुग्राह्य तथा न ही अपर इन्द्रियों का विषय हो सकता है। यह महान् आत्मा केवल प्रदीप्त मन के द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न तो यह कहीं ऊपर ही रहता है, न तिर्यक् और न नीचे ही। यह चल-शरीर में अशरीर, स्थाणु एवं अव्यय रूप से वर्तमान रहता है। धीर पुरुष विचार करने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पाते हैं।"[२१] आत्मा की अभौतिकता को व्यक्त करते

हुए मार्कण्डेयपुराण का कथन है—"न मैं पृथ्वी हूँ, न जल, न ज्योति, न वायु और न ही आकाश हूँ। न मैं शरीर हूँ और न ही मन हूँ, क्योंकि मैं शरीर और मन इन दोनों से पृथक् हूँ।"[२२]

आत्मा के गुण, अनेकत्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व, नित्यत्व आदि पर प्रकाश डाला जा रहा है:—

आत्मा का चैतन्य स्वरूप

आत्मा को चैतन्यगुण युक्त मानते हुए तत्त्वार्थसूत्र में जीव का लक्षण उपयोग (चेतना) है।[२३] जीव का उपयोग (ज्ञानदर्शनोपयोग) स्वभाव है, इसके बिना वह जीव नहीं हो सकता।[२४] चाहे कितना भी सघन कर्म का आवरण उस पर छा जाये, उसका ज्ञानमय स्वभाव जड़ता में नहीं बदलता। आवरण के कारण स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। जैसे सूर्य पर घने बादल आ जाने से वह उनमें छिप जाता है तथा बादलों के कारण उसकी तेजस्विता आच्छादित हो जाती है परन्तु जैसे ही वायु आदि संयोग से वे हट जाते हैं, उसका पूर्ण प्रकाश सम्मुख आ जाता है; इसी प्रकार आत्मा पर आच्छादित कर्म रूपी बादलों से उसका विशुद्ध चैतन्य आवृत हो जाता है तथा उनके हटने पर वह निरावरण हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि का गुण प्रकाश या उष्णता, अग्नि से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जीव से चेतना पृथक् नहीं है। यद्यपि आत्माएं अनन्त ज्ञान-दर्शनमय हैं किन्तु मेघाछन्न सूर्यवत् उनके वे गुण ढँके हुए हैं, फिर भी सघन से सघन मेघों से आच्छादित होकर भी सूर्य रात-दिन का भेद दिखलाता है; वैसे ही निबिड़तर कर्मों द्वारा आवृत आत्मा भी अपने चैतन्य गुण को किसी न किसी अंश में अवश्य प्रकाशित करता है अर्थात् चैतन्त का सदैव प्रतिभास बना रहता है। वह सदा स्थायी ज्ञानादि गुण का ही सम्यक् या मिथ्यारूप में प्रकटीकरण होता रहता है। जैसे रंगीन कांच में से सूर्य का प्रकाश स्वच्छता रहित, कांच के रंग जैसा ही लाल, हरा आदि पड़ता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान का विपरीत प्रकाश पड़ता है। चैतन्यधारक होने से ही जीव चेतन कहलाता है।[२५]

आत्मा के चैतन्य गुण को पुराणों में भी स्वीकार किया गया है।[२६] आत्मचैतन्य के कारण ही जड़ शरीर भी चैतन्यवत् प्रतीत होता है। चैतन्य स्वरूप होते हुए भी जीव मायीय, कार्मज और आणविक—इन तीन प्रकार के मल-पाशों में बद्ध है। जीव का स्वरूप मायावरण से ढँका रहता है। जब तक उसको इस जाल से छूटने का ज्ञान नहीं होता या उस पर अनुग्रह नहीं होता, वह अपने स्वरूप को भूला रहता है।[२७] आत्मा स्वरूपतः ज्ञानमय (चैतन्ययुक्त) होते हुए भी उसकी वृत्ति भिन्न क्यों हो जाती है? इस बात का समाधान इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार जल धवल प्रतीत होता है। रक्तमेघ से आच्छन्न होने पर वही रक्त ज्ञात होता है तथा कृष्णमेघ से आच्छन्न होने पर कृष्ण प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा भी विभिन्न शरीरों से

संयुक्त होने पर भिन्न वृत्ति वाला प्रतीत होता है। वस्तुतः सदा एकस्वरूप में रहने वाले आत्मा में वृत्ति-वैभिन्न्य होता ही नहीं। जिस प्रकार चन्द्रमण्डल अभ्रसंचय के द्वारा छादित होने पर भी उससे भिन्न ही रहता है और चन्द्र कभी अभ्रसंचय नहीं हो जाता; वैसे ही आत्मा शरीर से संयुक्त होने पर भी उससे भिन्न रहता है अर्थात जड़त्व को नहीं प्राप्त करता और वह कभी भी शरीर नहीं हो सकता।[२८] जब तक उसे अपने चैतन्य स्वरूप का बोध नहीं होता, वह ज्ञानहीन तथा नाना कर्म-विमूढ-धी होकर सुखी-दुःखी कर्ता-भोक्ता होता है। स्वरूपावरण के हटने पर ही उसका कल्याण होता है।[२९]

आत्मा का अनेकत्व (अनन्तत्त्व)

आत्माएँ अनेक हैं—इस अवधारणा को सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए सांख्यकारिका-कार का कथन है:—

१. उत्पत्ति, हेतु और इन्द्रियादि कारणों की विभिन्नता से

२. अलग-अलग प्रवृत्तियों को देखकर तथा

३. सत्व, रजस्, तमस् की असमानता से पुरुषबहुत्व की सिद्धि होती है।[३०]

अनेक आत्माओं को मानने का हेतु देते हुए जैन दर्शन में भी कहा गया है—सुख-दुःख, जन्म-मरण, बंधन-मुक्ति आदि अनेक दशाओं के सन्तोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता मानना अत्यावश्यक है।[३१] जैन दर्शन में यह मान्यता स्वीकृत नहीं है कि मौलिक आत्मा एक ही है तथा अन्य सब उसके आभास मात्र हैं। यद्यपि जैन दर्शन में "एक आत्मा"[३२] का उल्लेख भी आया है परन्तु उसका तात्पर्य भिन्न है। सब जीवों का चेतना लक्षण होने से अर्थात् स्वरूप साम्य (सजातीय) होने से एकत्व निरूपित है तथा प्रत्येक आत्मा अकेला है "एगे अहमंसि"[३३] उसके लिए उसका एकत्व ही स्थायी है, इस हेतु से भी एकत्व निरूपित है, परन्तु साथ ही अन्य आत्माओं को भी उसी प्रकार से अस्तित्ववान् माना है।

पुराणों में भी आत्मा के एकत्व तथा अनेकत्व का वर्णन आया है। एकत्व का वर्णन पूर्ववर्णित दोनों हेतुओं के आधार पर तो है, परन्तु साथ ही मुख्य हेतु यह है, जो जैन दर्शन से भिन्नता रखता है—एकत्व वर्णन—एक मौलिक आत्मा की अपेक्षा से है—जो सदैव निर्लेप रहती है—मुक्त रहती है तथा सर्वव्यापक है। आत्मा शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण और प्रकृति से परे है तथा समस्त जीवों में वह एक ही ओतप्रोत है, अतः कभी उसके वृद्धि-क्षय नहीं होते।[३४] इस प्रकार आत्मा की कूटस्थता भी जैन दर्शन में मान्य नहीं है।

आत्माओं का अनेकत्व भी वर्णित है। आत्मा की मलकृत विभिन्न श्रेणियों में आत्माओं की बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था तथा अनेक भेदों से अनेकत्व प्रकट होता है, यद्यपि सभी आत्माओं में आत्मता समान रूप से वर्तमान रहती है।[३५]

वेदान्तेतर (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा, बौद्ध, जैन) दर्शनों का यही कथन है कि संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माओं में प्रत्येक स्वतन्त्र आत्मा है। वह अपने अस्तित्त्व के लिए तत्त्वतः किसी अन्य आत्मा पर आश्रित नहीं है।[३६]

आत्मा की व्यापकता

विभिन्न दर्शनों में प्रचलित कुछ मान्यताएं आत्मा को अणुरूप मानती हैं और कुछ विभुरूप, किन्तु जैन दर्शन इन दोनों से भिन्न यह मानता है कि आत्मा न तो अणुरूप है और न विभुरूप, किन्तु स्वदेह-परिमाण है। जीव को अस्तिकाय बताते हुए उसके असंख्यात प्रदेश कहे हैं, परन्तु जैसे जड़-परमाणुओं का संयोग-वियोग होता है वैसे आत्मप्रदेशों का संयोग-वियोग नहीं होता। आत्मा अपने स्वभाव से ही अनादिकाल से असंख्यात प्रदेशी है और अनन्तकाल तक रहेगा। यह असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है।[३७] जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में है।[३८] प्रदीप के प्रकाश की तरह प्रदेशों के संकोच और विस्तार द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भाग में रहता है।[३९] अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक रखने पर उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है; उसी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है। पिपीलिका (चींटी) शरीरस्थ आत्मा जब हस्ती शरीर को प्राप्त करता है तो वह तत्प्रमाण हो जाता है।[४०] इस प्रकार प्रत्येक आत्मा की विवक्षा से स्वदेह परिमाण बताया है एवं जीवों के समस्त लोक में व्याप्त होने से जीवत्व को लोक में सर्वव्यापी भी कहा है।

वैदिक संस्कृति में भी आत्मा के प्रमाण पर चिंतन किया गया है। कुछ लोगों ने उसे अंगुष्ठ परिमाण[४१] कहा है, कुछ विलस्त (बालिश्त) प्रमाण[४२] तो किसी ने अणुप्रमाण,[४३] चावल या जौ प्रमाण[४४] भी कहा है; साथ ही आत्मा को विभुरूप भी माना है, इन मतों के अतिरिक्त आत्मा को शरीर प्रमाण भी माना है। जैसे तलवार अपनी म्यान और अपने कुण्ड में व्याप्त है वैसे ही आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है।[४५] अन्त में आत्मा अवर्ण्य मानते हुए उसे अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् बताया गया है।[४६]

पुराणों में आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है परन्तु यह तो कहा गया है कि कीड़ी-कुञ्जर, देव-दानव-मानव सभी की आत्मा समान है, उनकी आत्मता में कोई अन्तर नहीं है। जिस आत्मा की संस्थिति किसी व्यापक (बड़े) शरीर में होती है, कर्मवश वह भवान्तर में छोटे शरीर में भी रहता है।[४७] मुख्यतः आत्मा को पुराणों में सर्वव्यापी (सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त) माना है। पुरुष (आत्मा) शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार भी अर्थ यही निकलता है—'पुरि शेते इति पुरुष' अर्थात् जो देह रूपी नगर में अथवा विश्व रूपी नगर में रहता है, वह पुरुष है।

आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व

इस विषय में कई प्रकार के मन्तव्य प्रचलित हैं—कुछ दर्शन ईश्वर को कर्ता मानते हैं, कुछ प्रकृति को एवं कुछ दर्शन आत्मा को कर्ता मानते हैं। जो आत्मा को कर्ता नहीं मानते उनके अनुसार जीव चेतन है अतः वह अचेतनरूप कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है, पर भाव का नहीं[४८] वस्तुतः यह कर्तृत्व विषयक वैभिन्न्य इसलिए है कि उन्होंने आत्मा को शुद्ध चैतन्य मान लिया तथा कर्म को शुद्ध पुद्गल; तथ्यतः वह आत्मा जो कर्म बंध से, कर्तृत्व से युक्त है, शुद्ध नहीं है। उसमें कर्म रूप अचेतन पूर्व से ही मिश्रित होता है। मात्र पुद्गल रूप अचेतन कर्म भी आत्मा को भ्रमण नहीं करा सकता, वह भी चैतन्य मिश्रित (चैतन्य द्वारा प्रभावित) होने से उस प्रकार की प्रवृत्ति करता है। अतः जो शुद्ध आत्मा है, वह कर्मबद्ध नहीं होता किन्तु जो अशुद्ध आत्मा है वही कर्ता एवं भोक्ता होता है; आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व विभावदशा की अवस्था है। इस प्रकार चेतन (आत्मा) तथा अचेतन (कर्म) के मिश्रित रूप को ही इन अशुद्ध वैभाविक भावों का कर्ता मान सकते हैं। आत्मा के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व को स्वीकृत करते हुए जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है।[४९] आत्मा का अशुद्ध स्वभाव अनादि है, अतः वह अनादि से कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से युक्त है।

पुराणों में आत्मा को अनादिकालीन अशुद्ध बताया गया है। जैन दर्शन के समान ही शुद्ध स्वरूप के प्रकट न होने का तथा अशुद्ध रूप में मिश्रित दशा एवं वैभाविक दशा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यदि कर्म सादि (सर्वथा नये रूप से शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट) माना जाये अर्थात् पूर्व में सर्वथा, शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाला जीव होता है और बाद में वह कर्मलिप्त होता है तो मुक्त जीव भी पुनः कर्मलिप्त हो जायेंगे। अतः आत्मा अनादिकालीन कर्मबद्ध है तथा उसका अपना स्व-भाव वैभाविक दशा द्वारा आच्छादित होने से विभाव ही शुद्ध आत्मा का स्वभाव प्रतीत होता है। जैन दर्शन के समान ही पुराणों में भी शुद्ध आत्मा को कर्ता-भोक्ता न मानते हुए अनादिकालीन बद्धात्मा को ही कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता स्वीकार किया

है।[५०] उनमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा जिन-जिन कर्मों को करता है उनका वह फलभोग भी करता है।

आत्मा का नित्यत्व

आत्मा के नित्यत्व के विषय में वैदिक तथा जैन दोनों ही संस्कृतियाँ सहमत हैं। जैनागमों में आत्मा को शाश्वत अविनाशी निरूपित किया है—"नत्थि जीवस्स नासोत्ति"।[५१]

आचारांग सूत्र में कहा गया है—सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है।[५२] जगत् के समस्त भौतिक विनाशशील पदार्थों से आत्मा भिन्न है। आत्मवादी दर्शनों के अनुसार "मनुष्य में मर्त्य और अमर्त्य का सुन्दर संयोग है। उसमें कुछ ऐसा है जो बार-बार बनता है, बिगड़ता-सड़ता है और मिटता है; परन्तु साथ ही कुछ ऐसा है जो न जन्मता है, न मरता है, न बुढ़ियाता है और न कभी सड़ता-गलता ही है। "वह चिरन्तन सुन्दर है।" मनुष्य में देह मर्त्य है और आत्मा अमृत है। उसके मर्त्य अंश उसको पार्थिव जगत् के साथ बांधे हुए हैं किन्तु उसके भीतर ही उसका दिव्य अंश भी है। जब तक मर्त्य और अमृत के अंशों को ठीक से न समझा जायेगा तब तक मनुष्य अतृप्त और अपूर्ण ही रहेगा।"[५३]

तात्पर्य यही है कि विभिन्न देहों को ग्रहण करते हुए एवं छोड़ते हुए भी आत्मा अविनाशी है। दिखाई देने वाले शरीर इत्यादि सभी पदार्थ नश्वर, किन्तु नहीं दिखाई देने वाला आत्मा निरन्तर बना रहता है।

जैन दर्शन के समान ही पुराणों में भी आत्मा को नित्य, अविनाशी, शाश्वत कहा है। शिवपुराणकार के अनुसार जो आत्मा को बुद्धि, शरीर एवं इन्द्रियस्वरूप समझते हैं, उनका दर्शन असम्यक् है;[५४] शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार गृही अपने घर के जल जाने पर नवीन गृह बनाता है वैसे ही जीवात्मा भी नूतन देह में प्रवेश किया करता है।[५५] जैसे कोई मनुष्य अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को त्यागकर पुनः नूतन वस्त्रों को अपने शरीर पर धारण करता है, उसी भाँति यह देही (जीवात्मा) अपने पूर्व शरीरों को त्यागकर नवीन शरीरों को अपना आवास-स्थान बनाता हुआ उन्हें धारण कर लेता है। मनुष्य का देह अनित्य है और आत्मा नित्य एवं अविनाशी है।[५६] भागवत पुराण में आत्मा की नित्यता के सन्दर्भ में कहा गया है:—

यह आत्मा न जन्मता है, न मरता है, सर्वदेश और सर्वकाल में अखण्ड रीति से जो ज्ञान है, उसी का आश्रय आत्मा है।[५७] जब तक तेल, सकोरा, बत्ती और अग्नि

संयोग बना रहता है, तब तक दीपक रहता है। ऐसे ही जन्म-मरण आदि संयोग है, तब तक संसार है एवं संसार नाश होने पर आत्मा नष्ट नहीं होती।[५८]

आत्मा के प्रकार

शिवपुराणकार ने आत्मा के प्रमुखतः दो भेद बताये हैं—जीवात्मा एवं परमात्मा। जीव की परिभाषा करते हुए कहा है "जीर्यते जन्मकालाद्यत् तस्मा-ज्जीव इति स्मृतः।"[५९] आत्मा परमात्मा का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि परमात्मा बहुज्ञ है, जीवात्मा अल्पज्ञ है। परमात्मा स्वतन्त्र है, जीवात्मा परतंत्र है:—

जन्यते तन्यते पाशैर्जीव शब्दार्थ एव हि[६०]

इसी प्रकार जैन दर्शन में भी आत्मा में मुख्य दो प्रकार है। असंसार-समापन्नक (परमात्मा) तथा संसारसमापन्नक (संसारी)।[६१] पुनश्च, संसारी के भेद करते हुए—बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा—ये तीन प्रकार भी बताये हैं। जो शरीरादि में आत्मबुद्धि रखता है, वह बहिरात्मा है, आत्मेतर का विवेक जागृत हो गया, वह अन्तरात्मा है एवं कर्मरूपी मल से विमुक्त परमात्मा कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार—पर पदार्थ में सत्व को नियोजित करने वाला (मूर्च्छित) बहिरात्मा है। स्वयं की ओर लौटना (जागृत पुरुष) अन्तरात्मा है। परमात्मा, कैवल्यस्वरूप में स्थितप्रज्ञ होना है, स्वयं की परिस्थिति है।[६२]

कर्मयुक्त आत्मा जो संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी आत्मा (जीवात्मा) तथा जो कर्मों का विनाश करके मुक्त हो चुके हैं, वे परमात्मा हैं। आत्मा और परमात्मा में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। धान और चावल एक ही है, अन्तर मात्र इतना है कि एक आवरण (छिलके) सहित है और दूसरा निरावरण इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही है, फर्क है तो केवल कर्मरूप आवरण का है। छिलके सहित धानवत् मोह-ममता की खोल में जकड़ी हुई चेतना आत्मा है और छिलके रहित शुभ्र चावल के रूप में निरावरण शुद्ध चेतना परमात्मा है।[६३]

यही अन्तर जीव और शिव में बताते हुए शिवपुराण का कथन है—यह जीवात्मा अहंकार से युक्त है और शिव अहंकार से रहित है। जीव एक तुच्छ और कृतकर्मों को भोगने वाला है किन्तु शिव महान् और निर्लिप्त है।[६४] जिस प्रकार रजतादि से मिश्रित स्वर्ण अल्प मूल्य का होता है उसी प्रकार अहं युक्त होने से यह आत्मा जीव संज्ञा को धारण करता है। यद्यपि सभी आत्मा में आत्मता समान रूप से रहती है तथापि उनकी बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था को लेकर उनमें परस्पर भेद का व्यवहार किया जाता है। बद्ध जीवों में कुछ लोग लय और भोग के अधिकार के अनुसार आकृष्ट और निकृष्ट होकर ज्ञान आदि की विषमता को प्राप्त होते हैं। परमात्मा शिव के समीपवर्ती स्वरूप में उत्कृष्ट, मध्यम तथा निकृष्ट भेद से तीन श्रेणियाँ होती

हैं, जिनमें निम्न स्थान में आत्मा की स्थिति, मध्यम स्थान में अन्तरात्मा की स्थिति है और जो सबसे उत्कृष्ट श्रेणी का स्थान है, उसमें परमात्मा की स्थिति है। इस प्रकार देखा जाता है बद्धावस्था में स्थित आत्मा अपनी विभिन्न विकास की अवस्थाओं के आधार पर विभिन्न रूप से ज्ञान और शक्ति धारण करते हैं।[६५]

बद्धात्मा

आत्मा बद्धावस्था में परिभ्रमण करता है, जिसका कारण कर्म है। जैनागम सूत्रकृतांग में कहा गया है कि सर्व प्राणी अपने कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् योनियों में अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुःखित प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसार चक्र में भटकते हैं।[६६] बद्धात्माओं के विभिन्न गतियों में परिभ्रमण को पुराणों में भी बताया गया है—

कर्मणा नरगेहेषु, पश्वादिषु च कर्मणा।
कर्मणा नरकं याति, वैकुण्ठं याति कर्मणा।।[६७]

आत्मा की पूर्णता

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की शक्तियों का अनावरण हो जाना अर्थात् उसके अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सौख्य, वीर्यशक्ति) की पूर्ण अभिव्यक्ति परमात्मा-पद की उपलब्धि है और यही आत्म-तत्त्व की पूर्णता है।

जैन धर्म तथा पुराण दोनों में आत्मा के पूर्णत्व का प्रतिपादन है। अनादिकालीन आत्मा की अपूर्ण दशा, मूढता को बताते हुए आत्मबोध होने पर प्रयत्न विशेष द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति को परम ध्येय निरूपित किया है। जैन दर्शन में आत्म विकास के कुछ सोपान बताते हुए निम्न प्रकार गुणस्थानों का विवरण पाया जाता है।[६८]

१. **मिथ्यात्व**—प्रथम अवस्था मिथ्यात्व की होती है। इस अवस्था में स्व-पर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता, मान्यता अयथार्थ होती है।

२. **सास्वादन**—सम्यक्त्व से गिर जाने के बाद और मिथ्यात्व की भूमिका का स्पर्श करने से पहले की जीव की अवस्था सास्वादन गुणस्थान कहलाती है।

३. **मिश्र**—जिस जीव की श्रद्धा न सम्यक् होती है और न मिथ्या होती है किन्तु मिश्र रूप होता है, उस जीव की अवस्था को मिश्र गुण स्थान कहते हैं।

४. **अविरत सम्यग्दृष्टि**—जिस जीव की दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और जो जीव सम्यग्दृष्टि तो होता है किन्तु संयम नहीं पालता, वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

५. **विरताविरत**—जो संयत भी हो और असंयत भी हो अर्थात् व्रती गृहस्थों को विरताविरत कहते हैं।

६. **प्रमत्तसंयत**—जो पूर्ण संयम को पालन करते हुए भी प्रमाद के कारण उसमें कभी-कभी कुछ असावधान हो जाते हैं, उन श्रमणों को प्रमत्तसंयत कहते हैं।

७. **अप्रमत्तसंयत**—जो प्रमाद के न होने से अस्खलित संयम का पालन करते हैं, शुभध्यान में मग्न उन मुनियों को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

८. **निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण)** —सुध्यान में मग्न जिन मुनियों के प्रत्येक समय में अपूर्व-अपूर्व परिणाम-भाव होते हैं, उन्हें अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहा जाता है।

९. **अनिवृत्तिबादर संपराय**—इसमें बादर (स्थूलों) संपराय (कषाय) उदय में होता है। अतः यह अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान कहलाता है।

१०. **सूक्ष्म संपराय**—कषाय को परिणामों के द्वारा जो ध्यानस्थ मुनि सूक्ष्म कर डालते हैं, उन्हें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

११. **उपशांत मोह (उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ)** —जिनके कषाय उपशान्त (दबे) हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय न हो और जिनको छद्म (आवरण भूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ (उपशांत मोह) हैं।

१२. **क्षीण मोह**—क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले (कषायों को क्षीण करने वाले, न कि दबाने वाले) मुनि मोह को धीरे-धीरे नष्ट करते हुए जब उसे सर्वथा निर्मूल कर डालते हैं तो उन्हें क्षीणमोह कहते हैं।

१३. **सयोगी केवली**—जो चार घाति कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) का क्षय करके केवलज्ञान और दर्शन प्राप्त कर चुके हैं, जो पदार्थ के जानने देखने में इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं; ये केवली आत्मा के शत्रु घातिकर्मों को जीत लेने के कारण परमात्मा जीवनमुक्त अरिहंत आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

१४. **अयोगी केवली**—जब केवली ध्यानस्थ होकर मन-वचन-काय का सब व्यापार बन्द कर देते हैं, तब उन्हें अयोगी केवली कहते हैं। ये शेष चार कर्मों को भी नष्ट करके मोक्ष लाभ प्राप्त करते हैं।

इन गुणस्थानों में आत्मा का क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है। जैन दर्शन के अतिरिक्त आत्मा के क्रमबद्ध विकास का योगवाशिष्ठ, पातंजल योग सूत्र आदि ग्रन्थों में भी वर्णन है। योगवाशिष्ठ में चौदह भूमिकाओं का विवेचन इस प्रकार है[७०]:—

१. **बीजजाग्रत**—इस भूमिका में अहं एवं ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है, किन्तु बीज रूप में जागृति की योग्यता रहती है।

२. **जाग्रत**—इसमें अहं एवं ममत्वबुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है।

३. **महाजाग्रत**—इसमें अहं एवं ममत्वबुद्धि विशेष रूप से पुष्ट होती है।

४. जाग्रतस्वप्न—इसमें जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है।

५. स्वप्न—निद्रावस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् जो भान होता है, उसे स्वप्न भूमिका कहते हैं।

६. स्वप्न जाग्रत—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है जो शरीर-पात होने पर भी चलता रहता है।

७. सुषुप्तक—प्रगाढ़ निद्रा जैसी अवस्था, इसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्रवासना रूप में रहे हुए होते हैं।

८. शुभेच्छा—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

९. विचारणा—शास्त्र और सत्संग के कारण वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

१०. तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रिय विषयों में आसक्ति कम होना।

११. सत्वापत्ति—सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

१२. असंसक्ति—असंग रूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

१३. पदार्थ भाविनी—इसमें बाह्य और आभ्यंतर सभी पदार्थों पर से इच्छायें नष्ट हो जाती हैं।

१४. पूर्यगा—भेदभाव का बिल्कुल भान भूल जाने से एकमात्र स्वभाव निष्ठा में स्थित रहना। यह जीवन्मुक्त जैसी अवस्था होती है। विदेहमुक्ति का विषय उसके पश्चात् ही नूर्यातीत अवस्था है।

इनमें से अज्ञान की सप्तभूमिकाओं में अज्ञान की प्रबलता से अविकास क्रम में और ज्ञान की सात भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञान की बुद्धि होने से उन्हें विकास क्रम में गिना जा सकता है।[७१] पातंजलयोग प्रदीप में भी जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था, प्रलयावस्था, समाधि प्रारम्भावस्था, सम्प्रज्ञात समाधि (एकाग्रता), विवेकख्याति (सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि के बीच की अवस्था), असम्प्रज्ञान समाधि (स्वरूपावस्थिति) और प्रति प्रसव (पुरुष का शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूप में अवस्थित होना)—इन अवस्थाओं का वर्णन करते हुए आत्मविकास क्रम बताया गया है।[७२] योग दर्शन का पुराणों में अनेक स्थलों पर विस्तृत वर्णन है। पुराणों में अद्वैतमतानुसार दीक्षा प्राप्ति से पूर्णतया लाभ पर्यन्त अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार दिया गया है[७३]:—

(१) दीक्षा, (२) पौरुष, (३) अद्वय—आगमशास्त्र के श्रवण में अधिकार एवं श्रवणादि, (४) बौद्ध ज्ञान का उदय, (५) बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति, (६) जीवन्मुक्ति,

(७) भोगादि के द्वारा प्रारब्धनाश, (८) देहत्याग के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय तथा (९) मोक्ष अथवा परमेश्वरत्व की प्राप्ति।

जीवों की तीन वृत्तियों को वर्णित करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है—तामसी वृत्ति का जीव वस्तु को मूल स्थिति में नहीं जान पाता और तत्त्वदर्शन न कर पाने के कारण विविध बन्धनों में बँधता रहता है। मूल तत्त्व को न समझने का अर्थ है—अनित्य संसार को नित्य समझना, दुःख में सुख-दृष्टि रखना, अभाव में भाव-बुद्धि रखना, अपवित्र वस्तु को पवित्र मानना; यह विपरीत बुद्धि ही ज्ञान दोष अथवा मनोदोष कहलाती है। तमो गुण ही अज्ञान का मूल है। (इस तामसी वृत्ति की तुलना हम जैनानुसार वर्णित मिथ्यात्व से कर सकते हैं।) सत्-असत् कर्मों के समन्वित रूप शुभ-अशुभ फल का नाम रजोगुण है। उन्नत स्थिति की वृत्ति सात्विकी कहलाती है। जीव का सत्वस्थ होना अर्थात् तत्त्व का बोध करना ही ज्ञान है और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है—ज्ञान द्वारा (१) विषयों का वियोग (परित्याग), (२) अनासक्ति, (३) तृष्णाक्षय को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हुए कहा है कि किसी प्रकार के सम्बन्ध न रहने का अर्थ कैवल्य है। इस कैवल्य से मनुष्य निरंजन (अंजन = माया और उस माया से रहित निरंजन) अर्थात् माया मुक्त हो जाता है और निरंजनता का अर्थ ही जीव का शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमहंस बन जाना है।[७४]

आत्मज्ञान की उपादेयता

जैन धर्म तथा पुराणों में आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है तथा अज्ञान को संसार में संसरण का हेतु माना है। पुराणों में आत्मज्ञान का साधन आत्मा ही बताते हुए कहा है:—

"आत्मानं चात्मना वे-त्थ धारयात्मानमात्मना"[७५] कालिका पुराण के इस पद्यांश का यह तात्पर्य है कि अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानिए अर्थात् स्वयं ही अपने आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कीजिए और आत्मा से ही आत्मा को धारण कीजिए। लगभग यही आशय जैन धर्म के इस पद्य से स्पष्ट होता है—"समिक्खए अप्पगं अप्पएण।"

आत्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए पुराणों के लिए कहा गया है कि "एक तरफ उनमें बिल्कुल साधारण तीर्थों का दर्शन मज्जन करने अथवा एकादशी, प्रदोष आदि का व्रत कर लेने से ही स्वर्ग अपवर्ग की प्राप्ति का लाभ बतलाया गया है; दूसरी तरफ ऐसे भी वर्णन मिलते हैं जिनमें तीर्थादि को बहुत निम्नकोटि का पुण्य बतलाया गया है और आत्मज्ञान को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। शास्त्रों में "स्नान और दर्शन करने योग्य तीर्थ, बालबुद्धि वाले (अल्पज्ञान युक्त) व्यक्तियों के लिए ईश्वर का रूप होती है और आत्मज्ञानियों की दृष्टि में उनका आत्मा परमात्मा-स्वरूप

होता है।"[७६] वस्तुतः जिसका अनन्तक चित्त आत्मा में ही व्यवस्थित हो गया है उसको समस्त तीर्थों अथवा आश्रमों की क्या आवश्यकता है?

कि तेषां सकलैस्तीर्थैराश्रमैर्वा प्रयोजनम्
येषां चानन्तकं चित्तमात्मन्येव व्यवस्थितम्॥[७७]

मनुष्य का यह परम धर्म है कि वह आत्मा के सम्बोधस्वरूप वाले सुख में प्रविष्ट हो जाये। सन्त पुरुष आत्म तत्त्व को ही जानने योग्य कहा करते हैं, जिसको प्राप्त करके यह देहधारी समस्त कामनाओं को त्याग दिया करता है।[७८] आत्मतत्त्व से अज्ञान होने से ही भ्रम होता है, अज्ञानदशा में कर्तव्य-अकर्तव्य का सम्यक् विवेक न होने से ही भ्रम होता है एवं ऐसी अज्ञानदशा में पशुवत् अवस्था हो जाती है।[७९] "मैं कौन हूँ" इस प्रकार का मन में भली-भाँति विचार करना चाहिए। यह सब कुछ जानने पर ही आप समझिये कि आपने सब कुछ जान लिया है। (देह आदि) अनात्म वस्तुओं में आत्मा तथा जो वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, उन्हें अपना समझना ही मूर्खता है।[८०] भली-भाँति विमर्श करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। श्रवण के द्वारा, मनन के द्वारा मानना चाहिए। अपनी आत्मा में ही आत्मा का निर्धारण करके सुख-पूर्वक बंध से प्रमुक्त हो जाना चाहिये। आत्म-हित ही सर्वोपरि है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥[८१]

अर्थात् सम्पूर्ण कुल की सुरक्षा के लिए एक (व्यक्ति) का त्याग कर देना चाहिए, पूरे ग्राम की सुरक्षा के लिए कुल को त्याग देवें, जनपद की रक्षा हो तो एक ग्राम का कुछ भी ध्यान न करें; किन्तु अपनी आत्मा का महत्व सबसे अधिक है। आत्मरक्षा (आत्म-कल्याण-सम्पादन) के लिए तो सम्पूर्ण पृथ्वी को भी त्याग देना चाहिए क्योंकि आत्मा ही योगियों के लिए भी दुर्जेय है, अतः पहले ही आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लेना चाहिए।[८२]

आत्म ज्ञान का महत्व जैन धर्म में भी पर्याप्त है। आत्मा को और किसी के द्वारा भी जीता नहीं जा सकता, क्योंकि आत्मा दुर्दमनीय है।[८३] अतः आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लेने पर ही सर्वदा सुख की प्राप्ति होती है।[८४] आत्मविजय प्राप्त होने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।[८५]

साधना के क्षेत्र में आत्मज्ञान नहीं हो और अन्य चाहे जितना ज्ञान हो तो वह साध्य को प्राप्त नहीं करा सकता है। आत्मज्ञान समस्त साधना का केन्द्र-बिन्दु है। आत्मज्ञान ही समस्त ज्ञान की कुंजी है। अतः सर्वप्रथम आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द के कथनानुसार "मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति करनी चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर और योग सब आत्मा को

पाने के साधन हैं, क्योंकि यही आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है।"[८६]

आचारांग सूत्र में आत्मा के विषय में विवेचन करते हुए कहा गया है—"जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है, जानने की इस शक्ति से आत्मा की प्रतीति होती है।"[८७] "मैं कौन हूँ?" कहाँ से आया हूँ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया गया है। इस प्रकार आत्मानुशासन के लिए ही जैन धर्म तथा पुराणों में प्रेरित किया गया है।

पुराण तथा जैन धर्म ही नहीं, समस्त दर्शनों का उद्गम स्रोत आत्मतत्त्व ही है। उसी की खोज में विभिन्न विचारधाराएँ प्रवाहित हुईं। पुराण तथा जैन धर्म में न केवल समान रूप से आत्मा का अस्तित्त्व स्वीकृत है बल्कि आत्मा के बद्ध एवं मुक्त स्वरूप पर चिन्तन करते हुए बंध तथा मोक्ष के हेतुओं का विवेचन किया गया है। आत्मा का नित्य, अजर-अमर, अविनाशी रूप पुराण तथा जैन दर्शन के अतिरिक्त उपनिषदादि साहित्य में भी निरूपण है। जिस प्रकार से जैनदर्शन में आत्माएँ अनेक मानी गई हैं तथा आत्मा के साथ बंधन को आभास मात्र न मानते हुए वास्तविक माना है; उसी प्रकार अनेक आत्माएँ निरूपित करते हुए पुराणों में भी कर्म बंधन को वास्तविक माना है; जो मुक्ति से पूर्व तक आत्मा से सम्बद्ध रहता है। सूक्ष्म शरीर के रूप में कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध उसी प्रकार का है जिस प्रकार का जैन दर्शन में आत्मा के साथ कार्मण शरीर का है। "अप्पा सो परमप्पा" अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य स्वीकृत करते हुए आत्मा में परमात्मा होने की योग्यता तथा उसकी मुक्ति एवं कर्मनाश में हेतुभूत साधना मार्ग भी निर्दिष्ट है। इस प्रकार कई मुख्य समानताएँ आत्म-तत्त्व के चिन्तन में पुराण तथा जैन दर्शन से प्रस्फुट होती हैं। मात्र दर्शनों या धर्मों में ही नहीं; सर्वत्र आत्मतत्त्व की महत्ता स्वीकृत है। मनोवैज्ञानिक शोध मण्डल ने भी इसे स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, भाषा-शास्त्रियों ने भी इस आत्मतत्त्व (अहंतत्त्व 'मैं') को अत्यन्त महत्व दिया है। वह संस्कृत भाषा में अहं के लिए प्रयुक्त उत्तम पुरुष तथा इंग्लिश के 'I', जो सदा बड़े अक्षरों में लिखा जाता है, से भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः आत्मतत्त्व है ही इतना महत्वपूर्ण कि उसी के आधार पर समस्त प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं।

□□□

सन्दर्भ-सूची

१. उद्योतकर "न्यायवार्तिक" पृ. ३६६

२. रतनलाल सिंघवी "भारतीय दर्शनों में आत्मवाद"
"मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ"; द्वितीय अध्याय, पृ. ४००

३. बृहदारण्यक ५, ५१

४. छान्दोग्य ४.३

५. वही, ३.१९.१

६. वही, ६.२

७. वही, १.९.१; ७१२

८. वही, १.११.५; ४.३.३

९. मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. ३९७

१०. सागरमल जैन "जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन" पृ. २०९

११. विशेषावश्यक-भाष्य १५७५, १५७२, १५५७

१२. या. मसीह "पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास", पृ. १९८-२००

१३. आचारांग सूत्र १.५.५

१४. अतत्वं च तदहर्जस्तनेहतो रक्षोदृष्टे भवस्मृतेः
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ —प्रमेयरत्नमाला

१५. "वीतरागजन्मादर्शनात्" —न्यायसूत्र ३.१.२५

१६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक २.८

१७. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो व्यतिरेको विभु ध्रुवम् ।
अस्त्येव कश्चिदात्मेति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः ॥
बुद्धीन्द्रिय—शरीराणां आत्म तासां इरिष्यते
स्मृतेरनित्यज्ञानत्वाद् देहवेदनात् ॥
अतः सर्वानुभूतानामशेष ज्ञेय गोचरः
अन्तर्यामीति वेदेशु वेदान्तेषु च गीयते ॥ —शिवपुराण ७.१.५. ४३-४५
डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी "शिवपुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना"

१८. "जीवति प्राणिति चतुर्भिरिन्द्रिय—बलायुः श्वासोच्छ्वासाख्यैः जीवः"
—जैनदर्शन सार—प्रथमोध्यायः

१९. (अ) "निश्चयनयेन तु स्वचेतनात्मक स्वभावेन जीव"
(ब) "तत्र चेतनालक्षणो जीवः —सर्वार्थसिद्धि" पृ. ४

२०. "जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥" —द्रव्यसंग्रह

२१. शिव पुराण ७.१.५. ४७-५०

२२. डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री —'मार्कण्डेयपुराण' पृ. २३७, ३४.३३, ३९
२३. तत्वार्थसूत्र १.८
२४. "जीवो उवओगलक्खणो" —उत्तराध्ययन २८.११
२५. श्री अमोलक ऋषिजी म. —'जैन तत्व प्रकाश' पृ. ३३६
२६. ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्र.ख. १७.२६
२७. चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिद्रत्वं केन वार्यते ॥
अन्योहमिति जानाति तया मुक्तो भवेत् शिव ॥ —शिव पुराण कोटिरु सं. ४३ अ
२८. शिव पुराण ७.१.५.५७ (शिव पुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना)
२९. जितेन्द्र चन्द्र भारतीय "शिव पुराण में शैवदर्शन तत्व" पृ. १६५-१६६
३०. सांख्यकारिका १८
३१. विशेषावश्यक भाष्य १५८२
३२. "एगे आया" —ठाणांग १
३३. "एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्सवि ॥" —आचारांग १.८.६
३४. 'आत्मा शुद्धोक्षर.....एकस्याखिलजन्तुषु' —विष्णुपुराण २.१३.७१
'स पर्यगाच्छुक्रमकाय.....स्वयम्भूः' —ईशावास्योपनिषद् ४
३५. "आत्मतायाः समत्वेऽपि बद्धा मुक्ताः परे यतः" —शिव पुराण ७.१.३१.६३
३६. पं. दलसुख मालवणिया —"आत्ममीमांसा" पृ. ३८
३७. जैनतत्त्व प्रकाश पृ. ३३६
३८. 'असंख्येयभागादिषु जीवानाम्' —तत्वार्थसूत्र ५.१५
३९. 'प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्' —वही, ५.१६
४०. "जैनदर्शनसार" —प्रथमोध्याय
४१. कठोपनिषद् २.२.१२
४२. छांदोग्य ५.१८.१
४३. मैत्री, ६.३८
४४. बृहदा. ५.६.१
४५. (क) कौषितकी ४.२०
(ख) तैत्तिरीय १.२
४६. (क) कठ. १.२,२०
(ख) छांदोग्य ३.१४.३
४७. ब्रह्मवैवर्तपुराण, गणपतिखण्ड, अध्याय १२
४८. मुनि श्री मिश्रीमल जी म. कर्म ग्रन्थ (५) प्रस्तावना, पृ. ३०
४९. उत्तराध्ययन २०. ३६-३७
५०. "कर्म-माया-नुबन्धो—स्य संसारः कथ्यते बुधैः" —शिव पुराण ७.१.३१.६०
५१. उत्तराध्ययन सूत्र १४.१९
५२. स न छिज्जइ न भिज्जइ न उज्झइ न हम्मइ कं च णं सव्वलोए—आचारांग १.३.३

५३. श्री श्रीमल्लजी महाराज "सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन और उसकी साधना" नामक लेख से
तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ

५४. किमत्र बहुनोक्तेन पुरुषो देहतः पृथक्
अपृथग्ये तु पश्यन्ति ह्यसम्यक् तेषु दर्शनम् ॥ —शिव पुराण ७.१.५.५०

५५. गरुड़ पुराण (२) पृ. ३९३, श्लो. ३१

५६. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यनानि गृह्णाति नवानि देही ॥ —वहीं, पृ. ३०६, श्लो. ४२

५७. भागवत पुराण ११वाँ स्कन्द

५८. वही, १२वाँ स्कन्द

५९. शिव पुराण वि.सं. १६वाँ अध्याय

६०. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय —'शिवपुराण में शैवदर्शन तत्त्व' पृ. १५५

६१. स्थानांग ५७, १.१

६२. तिपयारो सो अप्पा, परमंतर बाहिरो हु देहीणं
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ॥ —'श्रमण' जनवरी-मार्च ९३, पृ. ४

६३. चरणानुयोग—प्रस्तावना

६४. साहंकारस्तथा जीवस्तन्मुक्तः शंकरः स्वयम्
जीवस्तुच्छः कर्मभोगी निर्लिप्तः शंकरो महान् ॥
यथैकं च सुवर्णादिमिलितं रजतादिना
अल्पमूल्यं प्रजायेत तथा जीवोऽप्यर्हयुतः ॥ —शिव पुराण (२) पृ. १४४, श्लो. २३

६५. "बद्धेष्वेव पुनः—ज्ञानैश्वर्यादि वैषम्यं भजन्ते सोत्तरचिराः ॥"
शिव पुराण ७.१.३.६४—(शिव महापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना)

६६. सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणे
हिण्डन्ति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया ॥ —सूत्रकृतांग १.२.३.१८

६७. ब्रह्मवैवर्तपुराण (१) पृ. ४२९, श्लो. २०-२१

६८. X X X X X X

६९. (अ) जैनतत्त्वप्रकाश पृ. ४१०
(ब) डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन "जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्त्व का विकास"
पृ. १३८-१४०
(स) मुनि श्री मिश्रीमलजी म. —द्वितीय कर्मग्रन्थ पृ. ३३-४२

७०. योगवाशिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, श्लो. ५-१५

७१. द्वितीय "कर्मग्रन्थ" पृ. २७-२९

७२. "पातंजलयोग प्रदीप" पृ. १५१-१५२ श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ

७३. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय —'शिव पुराण में शैव दर्शन तत्त्व' पृ. १५३

७४. 'ब्रह्माण्ड पुराण' पृ. १५२-१५३

७५. डॉ. चमनलाल गौतम—"कालिका पुराण" (१) पृ. २०४, श्लो. १०
७६. वामन पुराण (१) पृ. १२-१३ प्रस्तावना
७७. वही, पृ. ४०४
७८. वही, पृ. ४०५
७९. विष्णु पुराण ६. ३. २१-२४
८०. स्कन्द पुराण (१) पृ. १६८, १२.७२-७३
८१. गरुड़ पुराण (१) ३५५, ६५.२
८२. मार्कण्डेय पुराण ३६.९
८३. "अप्पा हु खलु दुद्दमो"
८४. "अप्पणामेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए"
८५. "सव्वं अप्पे जिए जिय"
८६. समयसार १५-१८
८७. "जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया
जेण वियाणई से आया तं पडुच्च पडिसंखाए"

□□□

५

कर्मवाद

प्रत्येक कार्य के पीछे कारण होता है, प्राणियों की परिस्थितियों में वैषम्य का भी एक अदृश्य कारण है, जो कर्म है। कर्म-बंधन और कुछ नहीं, एक क्रिया की प्रतिक्रिया है। जैसे अंकुर का मूल कारण बीज है और उसे जमीन एवं जल आदि मिलने से अंकुर फूटता है वैसे ही विभिन्नतायें परिस्थिति से अवश्य प्रभावित होती हैं, परन्तु परिस्थिति उसका मूल कारण नहीं है, मूल कारण तो कर्म है। प्रो. उपेन्द्र नारायण के अनुसार—"कर्मवाद का सिद्धान्त हिन्दुत्व की रीढ की हड्डी है।"[१]

कर्म — विभिन्न अर्थ

आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मवाद एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, कर्म सिद्धान्त लगभग सभी दर्शनों में दृष्टिगोचर होता है, विभिन्न दर्शनों के अनुसार कर्म के अनेक अर्थ होते हैं।

कर्म का शाब्दिक अर्थ—कार्य-प्रवृत्ति अथवा क्रिया है अर्थात् जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। प्रसिद्ध व्याकरणकार पाणिनि के अनुसार—"कर्त्ता के लिए अत्यन्त इष्ट जो हो वह कर्म है।"[२] कर्म का तात्पर्य मीमांसा-दर्शन में क्रिया-काण्ड या यज्ञादि अनुष्ठान बताया है।[३] वैशेषिक दर्शन में कर्म की परिभाषा है—"जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और संयोग का विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे।[४] सांख्य दर्शन में कर्म का 'संस्कार' अर्थ है।[५] गीता में कर्मशीलता (कर्तव्य) के लिए कर्म शब्द प्रयुक्त है। न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमनरूप पाँच क्रियाओं को कर्म कहा है।[६]

पुराणों में मुख्यतः दो अर्थों में कर्म प्रयुक्त है—(१) धार्मिक व्रत-नियम आदि क्रियाएँ तथा (२) प्राचीन कर्म संस्कार। जैन दर्शन में भी कर्म का मुख्यतः अर्थ—प्राचीन कर्म संस्कार है तथा कहीं-कहीं क्रिया (आचार, कर्तव्य) के लिए भी कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्म का तात्पर्य कर्मग्रन्थ के अनुसार यह है—जीव की अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रिया द्वारा अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय,

योग कारणों से प्रेरित होकर रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से चुम्बक की तरह आत्मा जो करता है, वह "कर्म"-कहलाता है।[७]

कर्मविपाक

कर्म के नाना प्रकार के पाक (उदय) को विपाक कहते हैं—"विपाको अनुभवः"[८] शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप जो परिणाम प्राप्त होता है, वही कर्मविपाक कहलाता है। इन शुभाशुभ कर्मों का तथा उनके परिणामों का पुराण तथा जैन धर्म में प्रचुर विवेचन है।

कर्म ही सुख-दुःख आदि सांसारिक विविधताओं का कारण है। जैनागम आचारांग सूत्र का यह स्पष्ट कथन है—"कम्मुणा उवाही जायई" अर्थात् कर्म से समग्र उपाधियाँ-विकृतियाँ पैदा होती हैं।[९] इसीलिए कहा गया है कि "एको दरिद्रो एको हि श्रीमानिति च कर्मणः"।[१०]

राजा-रंक, बुद्धिमान्-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सबल-निर्बल, रोगी-निरोगी, भाग्यशाली-अभागा इन सबमें मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है वह सब कर्मकृत है। वह कर्म जीव (आत्मा) के बिना नहीं हो सकता। कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? सभी प्राणी अपने कृत कर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं।[११]

जैन धर्म के समान ही पुराणों में भी वैषम्य का कारण कर्म को स्वीकार किया है। उनके अनुसार—यह आत्मा न तो देव है, न मनुष्य है और न पशु है, न ही वृक्ष है—ये भेद तो कर्मजन्य शरीर रूपी कृतियों का है। जीव स्वकर्मानुसार ही उत्पन्न होता है और कर्म से ही मृत्यु को प्राप्त होता है। सुख-दुःख, भय-शोक कर्म से ही होता है। कर्म के बल पर प्राणी इन्द्र, ब्रह्मपुत्र आदि बनता है। वह स्वकर्म से सालोक्यादि, मुक्ति चतुष्टय, सर्वसिद्धत्व तथा अमरत्व को भी प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मणत्व, देवत्व, मनुजत्व, इत्यादि योनियों को प्राप्त करता है।[१२]

कर्मणा जायते जन्तु कर्मण्येव प्रलीयते।
सुखं दुःखं भयं शोकं कर्मण्येव प्रपद्यते॥[१३]

स्वकृत कर्मों का फल व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है। जैनागमों के अनुसार अतीतकाल में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।[१४] सुख या दुःख व्यक्ति के किये गये कार्य के पारिश्रमिक के रूप में अवश्य मिलता है। उनके (कृतकर्मों का) फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि[१५]

जैनागमों के इस मन्तव्य का पुराणों में पर्याप्त समर्थन है। कर्म के फलभोग की अवश्यंभाविता वर्णित करते हुए गरूड़पुराणकार का कथन है—जिस कर्म ने ब्रह्मा

को एक कुम्हार की भांति नियत कर दिया है, विष्णु को अवतार धारण कर महान् संकट में डाल दिया है, रूद्र को भिक्षुक बना दिया है, तथा जिस कर्मवश सूर्य नित्यप्रति गगन में भ्रमण करते हैं, उस परम प्रबल कर्म के लिए हमारा बारम्बार नमस्कार है।[१६] यह कर्मों की रेखा, विधि के वश से अच्छों-अच्छों को भी भ्रमित कर देती है।[१७] कर्मों का फल भोगे बिना उनका सैंकड़ों कल्पों में भी क्षय नहीं होता है। अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।[१८]

कर्म के मुख्यतः दो प्रकार शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, धर्म-अधर्म सभी को मान्य हैं।[१९] पुण्यकर्म से अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं जबकि पापकर्म से प्रतिकूलताएँ मिलती हैं। जैनागमों में वर्णित पुण्य-प्रकृतियों एवं पाप-प्रकृतियों में इन्हीं शुभाशुभ परिणामों का वर्णन है। बुद्धि, उत्तम गति, आयु-गोत्र, शरीर आदि पुण्य प्रकृतियाँ हैं जबकि अज्ञान, मिथ्यात्व, अशुभ गति, आयु, शारीरिक संरचना आदि पाप के परिणाम हैं।

पुण्य तथा पाप के परिणामों को पुराणों में भी बताया गया है। कर्म के अनुसार ही चिरकाल तक जीवित रहने वाला तथा कर्म के प्रभाव से क्षण भर की आयु वाला होता है। कर्म से करोड़ों कल्पों की आयु हो जाती है और कर्म से ही क्षीणायु वाला होता है।[२०] अकरणीय कर्म से जीव रोगी होता है और शुभकर्म से वह रोग रहित रहता है। कुत्सित कर्म से अंधे और अंगहीन होते हैं।[२१] शुभ कर्म से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है तथा अशुभ कर्मों से नरकों में भ्रमण करते हैं।[२२]

कर्म का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व

जैन दर्शन एवं वैदिक दर्शन में कर्म के कर्तृत्व के विषय में भिन्न विचारधाराएँ हैं। जैन दर्शन के अनुसार—जीव को अपने किये कर्मों का फल कोई ईश्वर नाम की विशिष्ट चैतन्यशक्ति नहीं देती। कर्मों में स्वयं में ही वह शक्ति है जिसके कारण जीव को प्राकृतिक रूप से उसके कर्मों का फल मिलता रहता है, इसी सिद्धान्त की पुष्टि गीता में भी हुई है।[२३] जगत के जीवों का कर्तृत्व या उसके कर्मों का सर्जन प्रभु (ईश्वर) नहीं करता, न ही उनसे कर्मफल का संयोग कराता है। यह सब स्वभावतः चलता रहता है।

इसके विपरीत ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शनों की धारणा है कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल देना ईश्वर के अधीन है, उनके द्वारा कई युक्तियाँ रखी गईं, जिनका खण्डन भी जैन दर्शन में किया गया है।

ईश्वर कर्तृत्ववादियों के मुख्य तर्क हैं—[२४]

१. पुरुषकृत कर्म बहुधा निष्फल होते हैं।
   अतः कर्मफल का कारण ईश्वर है।

२. सांसारिक प्राणी अज्ञ है, यह अपने आप में सुख-दुःख रूप फल को स्वयं पाने में असमर्थ है, अतः ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक में जाता है।

३. अपने आप में जड़ होने से कर्म फल नहीं दे सकते, अतः उनका फलदाता ईश्वर है।

४. "जीव अपने बुरे कर्मों का फल स्वयं नहीं भोगना चाहते," अतः भोगवाने वाली विशिष्ट शक्ति ईश्वर होना चाहिए।

इन मतों का जैन दर्शन में खण्डन एवं समाधान किया है कि पुरुषकृत कर्म कई बार निष्फल प्रतीत होते हैं, अतः ईश्वर को फलदाता बनाने की आवश्यकता नहीं, फल के सम्बन्ध में क्या देर नहीं हो सकती? आज का बोया बीज तत्काल फल नहीं देता। इसी प्रकार कर्म का परिपाक होने पर उनका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। कर्म और कर्मफल में कार्य-कारण का व्यभिचार कदापि नहीं हो सकता। वस्तुतः कर्म का सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है। धर्मात्मा के दुःखी तथा पापात्मा के सुखी दीखने में भी क्रमशः उनके पुण्यानुबन्धी पापकर्म तथा पापानुबन्धी पुण्यकर्म कारण है। उनकी धार्मिकता और पापकर्म निष्फल नहीं होते, इस जन्म में नहीं तो भवान्तर में अवश्य फलित होते हैं।[२५]

पद्मपुराणकार का भी इस सन्दर्भ में यही आशय है कि "यहाँ (संसार में) जो भी भला-बुरा कर्म मनुष्य करता है, तदनुसार फल वह परलोक में जाकर अवश्य भोगा करता है। पुण्यकर्म करने वाले पुरुष को भी यदि कोई दुःख उत्पन्न होता है तो उस दुःख के समय में किसी भी प्रकार का संताप नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह दुःख तो उसको पूर्व जन्म के देह के द्वारा किये हुए कर्मों के कारण ही उत्पन्न हुआ है। इसी भाँति पापों का आचरण करने वाले पुरुष को भी संसार में सुख की समुत्पत्ति हुआ करती है, उस सुख से उसे हर्ष नहीं करना चाहिए अर्थात् पापकर्म का कुछ भी बुरा फल नहीं होता—इस भ्रम में पड़कर हर्ष में फूलना नहीं चाहिए।"[२६]

ईश्वर को कर्म फलदाता मानने पर अनेक दोष आएँगे—यथा—ईश्वर प्रेरणा से ही व्यक्ति सब कुछ करता है तो वह दोषी नहीं होगा। जैसे शिकारी, चोर आदि के लिए ईश्वर ने जो निश्चित किया, वही वे करते हैं तो फिर उन्हें दोषी क्यों कहा जाता है? ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो उसे पहले ही दुष्कर्मों को रोक देना चाहिए। वह अपराधकर्मियों को कर्म करते ही फल क्यों नहीं दे देता? ईश्वर कृतकृत्य है, दयालु है, उसे सांसारिक झंझटों में पड़ने का लोभ या राग क्यों लगा। उसके द्वारा भयंकर हिंसात्मक दण्ड दिये जाने पर उसकी दयालुता में बाधा आती है। संसार में अनन्त जीव हैं, प्रत्येक जीव मन-वचन-काया से प्रतिक्षण कोई न कोई कर्म करता रहता है, इन सबका लेखा-जोखा रखना, उनका फल देना इतना दुष्कर है कि वह

अपने आत्मभाव में कभी स्थिर नहीं रह सकेगा।[२७] वस्तुतः इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। भले ही कोई स्वयं के कटु कर्मों का परिणाम नहीं भोगना चाहता है किन्तु उसे नियत समय पर भोगना ही पड़ता है। जैसे किसी स्वादलोलुप द्वारा अस्वास्थ्यकर भोजन कर लेने पर रोग हो जाते हैं, उसे इच्छा विरुद्ध व्याधि भोगनी पड़ती है।

अतः प्राणी के स्वकृत कर्मों का फल देने वाली ईश्वर नामक शक्ति-विशेष को न मानते हुए उस शरीर को माना है, जो आत्मा के साथ परलोक जाते समय भी साथ रहता है, वह समस्त कर्मफलदाता, कर्मपुद्गल के अतिसूक्ष्म परमाणुओं से बना कार्मण शरीर है। जैन दर्शन की भाँति ही मीमांसा दर्शन, सांख्य दर्शन आदि ईश्वर कर्तृत्व को अमान्य करते हैं।

आत्मा के कर्तृत्व को सिद्ध करते हुए हरिभद्रसूरि का यह कथन है कि "कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है, इसी कारण आत्मा पर कर्तृत्व घटित होता है। यदि ऐसा न होता तो अतिप्रसंग दोष आता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है। यदि इसे अन्यथा—अन्य प्रकार से माना जाए तो वह सब, जो हमारे जीवन में घटित होता है, औपचारिक मात्र होगा, वास्तविकता के न होने से वह अशोभन-अनिष्ट या अवांछित होगा।"[२८] जैनागमों का यही मन्तव्य है कि कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता स्वयं कर्मबद्ध आत्मा है।[२९] अन्य किसी के द्वारा उसके कर्म करने, भोगने का कार्य सम्भव नहीं। एक के बदले दूसरा, उस कर्म का फल नहीं भोग सकता। अतः स्वकृत कर्मों का भोग स्वयं को ही करना पड़ता है—

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं[३०]

स्वयं आत्मा ही अपने सुख या दुःख का कर्त्ता है।[३१] प्राणी स्वकृत कर्मों को ही भोगता है, अतएव किसी को, दूसरे के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का कारण मानना मात्र एक कल्पना है, अज्ञान है। आचार्य अमितगति के अनुसार व्यक्ति स्वकृत कर्म द्वारा ही शुभाशुभ फल प्राप्त करता है। दूसरों के द्वारा दिया गया (किया गया) यदि प्राप्त होता हो तो उसके स्वकृत कर्म निरर्थक ही साबित हो जाते हैं। स्वकृत कर्मों को छोड़कर आत्मा को कोई कुछ नहीं देता।[३२] इस प्रकार जैनदर्शन के कर्मवाद का यह निश्चित मत है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

जैन दर्शन के इस मन्तव्य का समर्थन पुराणों में भी दृष्टिगत होता है। पुराणों के अनुसार भी—"सुख-दुःख का देने वाला या इनके हरण करने वाला कोई भी नहीं है। मनुष्य अपने ही किये हुए कर्मों के अनुसार, चाहे वह पहिले जन्मान्तरों के किये हों या इस जन्म के हों, सुख-दुःख का भोग करते हैं—

न दाता सुख-दुःखानां, न हर्तास्ति कश्चन
स्वकृतान्येव भुञ्जन्ते, दुःखानि च सुखानि च॥[३३]

जैन दर्शनवत् ही कर्मस्वातन्त्र्य सम्पादित करते हुए ब्रह्मवैवर्त पुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि देही (आत्मा) ही कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है—

कर्त्ता भोक्ता च देही[३४]

पुराणों में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि शुभ या अशुभ जैसा भी फल व्यक्ति प्राप्त करता है, वह उसके स्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप ही मिलता है, अतः उसमें उसे व्याकुल नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार कर्मों के कर्तृत्व भोक्तृत्व के सम्बन्ध में उपनिषदों में भी जीव के लिए कर्त्ता और भोक्ता का प्रयोग हुआ है।[३५]

कर्म का असंविभाग

जैन दर्शन की कर्म सम्बन्धित विचारधारा का यह स्पष्ट मत है कि एक व्यक्ति के कर्म के फल दूसरा नहीं प्राप्त कर सकता अथवा एक के लिए दूसरा कर्म नहीं कर सकता है। वस्तुतः आत्मा ही स्वयं अपना उत्थान-पतन करता है। विभावदशा में रमण करने वाला आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है और स्वभाव दशा में रमण करने वाला आत्मा ही कामधेनु और नन्दनवन है। शुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा ही स्वयं का मित्र है और उन्मार्ग पर चलने वाला आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है।[३६]

इसके विपरीत वैदिक विचारधारा के अनुसार एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् एक व्यक्ति अपने कर्मफल दूसरे को दे सकता है। श्राद्ध आदि प्रसंगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्मार्त धर्मानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। परन्तु जैन दर्शन इस विचारधारा का खण्डन करता है। वैदिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन की तरह वह कर्मफल के संविभाग में विश्वास नहीं करता। यदि विभाग को स्वीकार किया जाये तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? इसलिए कहा गया है कि कर्म सदा कर्त्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं। अपने स्वयं के कर्मों से ही आत्मा बंधन में पड़ता है।

इस मन्तव्य का समर्थन पुराणों में भी दृष्टिगत होता है यद्यपि श्राद्ध आदि का वर्णन भी उनमें है, किन्तु फिर भी यह तो माना ही है कि—"पहले किया हुआ कर्म उसके करने वाले के साथ ही रहता है। जिस तरह सहस्रों धेनुओं में बछड़ा अपनी माता के पास ही पहुँच जाता है; इसी प्रकार से स्वकृत कर्म उसके करने वाले के समीप पहुँचता है और वह कहता है कि हे मूढ! अपने स्वकृत कर्म-फल भोगने में ही क्या परिताप कर रहा है?"[३८]

यह जो कुछ भी पापकर्म करता है, उसका कुफल भी यह अकेला ही भोगता है। इस भोग में और आवागमन में कोई भी अन्य साथी नहीं होता है।[३९]

पद्मपुराण में वैदिक धर्म के विरोध में मायामोह द्वारा दैत्यों को समझाया गया है। उसमें तीर्थ, वेद, यज्ञ, श्राद्ध आदि कई प्रमुख वैदिक सिद्धान्तों की आलोचना भी की गई है। इस सन्दर्भ में वहाँ कहा गया है कि "यज्ञ में वध किये हुए पशु से जो स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा की जाती है; यदि ऐसा ही है तो यजमान के द्वारा वहाँ पर अपने पिता का हनन क्यों नहीं किया जाता है? यदि अन्य के द्वारा खाये हुए से पितृगण की तृप्ति होती है तो प्रवास में रहने वाले को भी श्राद्ध दिया जाने से वह प्रवासी भी उसे प्राप्त कर तृप्त हो जाना चाहिए।"[४०]

भाग्य-पुरुषार्थ

कर्मवाद के स्थान पर अन्य भी कुछ कारणों की कल्पना दार्शनिकों द्वारा की गई है। उनमें मुख्यतः हैं—कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, भूतवाद, पुरुषवाद, अज्ञानवाद आदि। इनको भी विश्ववैचित्र्य का एकमात्र कारण माना गया था।[४१] जैन परम्परा के दार्शनिक काल में कर्म के साथ कालादि कारणों के समन्वय का प्रयत्न किया गया। कर्म को मुख्य कारण मानते हुए कालादि (काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ) को उसके सहकारी कारण माना है। आचार्य सिद्धसेन के अनुसार—"काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ, इन पाँच कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाए और शेष कारणों की उपेक्षा की जाए, यह मिथ्यात्व है।"[४२]

पूर्वोक्त कारणों में से नियतिवाद का ही अपर पर्याय भाग्यवाद अथवा दैववाद है। भाग्यवाद पोषक अनेक उक्तियाँ भारतीय साहित्य में प्रचलित हैं। यथा "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या, न च पौरुषम्" "भाग्यहीनाः न पश्यन्ति बहुरत्ना वसुंधरा," "यद् भाव्यं तद् भविष्यति।" गरूड़पुराण में भाग्य को सर्वोपरि मानते हुए[४३] कहा गया है कि इसके आगे किसी का वश नहीं चलता है। जिस अवस्था में, जिस समय में, जिस दिन, जिस रात, जिस मुहूर्त और जिस क्षण में जो भी जैसा होने वाला है, वही होकर रहता है, चाहे अन्तरिक्ष में चला जाये या महीतल में प्रवेश करे अथवा किसी भी दिशा में चला जाये। जो नहीं दिया है वह कहीं भी नहीं मिल सकता। पहले जन्म में जो विद्या का अध्ययन किया है, जो धन दान दिया है तथा जो कर्म किये हैं, वे सभी आगे दौड़कर चलते हैं।[४४] जिसका समय नहीं आया, वह सैकड़ों बाणों से भी नहीं मरता, अन्यथा एक कुशा के अग्र भाग से भी मर जाता है और किसी उपाय से वह जीवित नहीं रहता। मृत्यु का एक नियत समय होता है। शेष सब तो केवल निमित्त मात्र होते हैं।[४५] वास्तव में होता वही है जो होना है—

लब्धव्यमेव लभते, गन्तव्यमेव गच्छति
प्राप्तव्यमेव प्राप्नोति, दुःखानि च सुखानि च॥[४६]

जैन दर्शन में नियतिवाद तो है परन्तु वह एकान्त नहीं है। कर्म में कई प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना भी व्यक्त की गई है। सामान्यतया यही निश्चित है—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" अर्थात् जैसे कर्मों का व्यक्ति ने अर्जन किया है, उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा।[४७] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति कुछ भी पुरुषार्थ नहीं कर सकता। व्यक्ति के जीवन में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही स्पष्टतः समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यही मानना वास्तव में युक्तियुक्त है।[४८]

भाग्य वास्तव में और कुछ भी नहीं है, प्राचीनकाल का पुरुषार्थ मात्र है, पूर्व जन्म या भूतकाल में किया गया कर्म दैव या भाग्य कहा जाता है तथा वर्तमान जीवन में जो कर्म किया जाता है, वह पुरुषकार या पुरुषार्थ कहा जाता है।[४९] कभी ऐसा होता है कि थोड़ा सा प्रयत्न करते ही सफलता मिल जाती है और कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती। इसका कारण अतीत में किये गये विभिन्न प्रकार के कर्म हैं, जो वर्तमान में हितकर या अहितकर, सद्भाग्य और दुर्भाग्य, सफलता या विफलता के रूप में प्रकट होते हैं।

जीवन में किये जाने वाले अनेक प्रकार के कार्य पुरुषार्थ रूप हैं जो अवश्य ही कालान्तर में फल देते हैं।[५०] तात्पर्य यही है कि भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों अन्योन्याश्रित—एक दूसरे पर टिके हुए हैं। अतः एकान्ततः भाग्य पर ही आश्रित न रहकर यदि कोई अपने पुरुषार्थ को बलवान करे तो कुछ परिवर्तन हो सकता है। यदि पुरुषार्थ का कुछ महत्त्व न होता तो आत्माएँ, जो अनादिकाल से कर्मबद्ध होती हैं, कभी भी मुक्त नहीं होतीं, किन्तु ऐसा होता नहीं। पौराणिक एवं जैन दोनों ही मान्यताओं में पुरुषार्थ द्वारा व्यक्ति के कर्ममल का दूर होना स्वीकृत है। पुराणों में नियतिवाद वर्णित है परन्तु फिर भी जैन दर्शन के समान पुरुषार्थवाद भी मान्य है। महर्षि मनु के प्रश्न के समाधान में दैव तथा पुरुषार्थ में बड़ा कौन है—यह बताते हुए मत्स्यावतार का कथन है कि दैव नामक जो है, वह अपना ही कर्म समझना चाहिए क्योंकि वह वही अपना किया हुआ कर्म है जो अन्य (पूर्व) देह के द्वारा अर्जित किया गया है, इसलिए मनीषी लोग संसार में पौरुष को ही श्रेष्ठ कहते हैं। यदि दैव प्रतिकूल भी होता है तो उसका पौरुष के द्वारा हनन हो जाता है। ऐसा देखा जाता है कि जो मंगल आचरण से युक्त और नित्य ही उत्थानशील लोग होते हैं वे पौरुष से प्रतिकूल दैव को विनष्ट कर देते हैं। जिन पुरुषों का पूर्व जन्मों में किया हुआ सात्विक कर्म होता है, ऐसे कुछ पुरुषों का अच्छा फल बिना पौरुष किये ही देखने में आता है। पौरुष के द्वारा भी मनुष्यों को आर्थिक फल की प्राप्ति हो जाती है। जो पौरुष से वर्जित होते हैं, वे तो केवल एक दैव को ही जानते हैं। अतः त्रिकाल से संयुक्त दैव सफल (फलदाता) होता है तथा पौरुष दैव की सम्मति से समय पर फल दिया करता है।[५१]

इसीलिए विष्णुपुराण में कहा गया है कि कौन किसके द्वारा मारा जाता है या रक्षित होता है? शुभाशुभ आचरणों से यह आत्मा स्वयं अपनी रक्षा अथवा विनाश करने में समर्थ है। कर्मों के कारण ही सबका जन्म तथा शुभाशुभ गतियाँ होती हैं। अतः शुभ कर्म (कार्य) करने का ही प्रयत्न करना उचित है।[५२]

इस प्रकार पुरुषार्थ का महत्त्व पुराण तथा जैन दर्शन दोनों में प्रतिपादित है। पुरुषार्थ के बल पर व्यक्ति कर्मों के उदय के रूप को भी परिवर्तित कर सकता है। उदाहरणस्वरूप हम जैनागमों में वर्णित कर्म की अन्य अवस्थाएँ—अपवर्तना, उद्वर्तना, उदीरणा, निर्जरा आदि में इसकी सार्थकता देख सकते हैं तथा पुराण साहित्य में योगी द्वारा योगसाधना द्वारा कर्म करते हुए भी कर्मबद्ध न होना तथा प्राचीन कर्मों का ध्वंस करना भी यही बताता है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

आत्मा तथा कर्म में पहले कौन था तथा इनका सम्बन्ध कब से हुआ, यह जानने के लिए उनके प्रारम्भ सम्बन्धी धारणाएँ जान लेना उचित है।

वैदिक परम्परा में मान्य "वेद और उपनिषदों तक का सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि वह सृष्टि किसी एक या किन्हीं अनेक जड़ अथवा चेतन तत्त्वों से उत्पन्न हुई। इससे विपरीत कर्म सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जड़ अथवा जीव की सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है।"[५३] उपनिषदों के अनन्तरकालीन वैदिक मतों में भी जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्मतत्त्व की मान्यता की देन है। जिस अनादि कर्मसिद्धान्त को बाद में सभी वैदिक दर्शनों ने स्वीकार किया, वह इन दर्शनों की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन परम्परा में विद्यमान था। इन अनन्तरकालीन परिवर्तित विचारधाराओं के सम्बन्ध में हिरियन्ना आदि का मत है कि इनमें ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं, जो वेदों व ब्राह्मण-ग्रंथों में नहीं थे। उनमें संसार और कर्म-अदृष्ट विषयक नूतन विचार भी दृष्टिगोचर होते हैं। कर्म कारण है ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मत वाद हो, यह भी नहीं कहा जा सकता।[५४] समस्त इतिहास को दृष्टि सन्मुख रखे तो वैदिकों पर जैनपरम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है।[५५]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सृष्टि की अनादिता बाद में सभी को स्वीकृत हो गई। अतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में यही मान्य है कि ये दोनों अनादि हैं एवं इनका सम्बन्ध भी अनादि है। आत्मा (कर्मणात्मक) कर्मों के साथ बद्ध होकर अनादिकाल से चला आ रहा है। पंचाध्यायी में इसको स्पष्ट किया है:—

यथानादिः स जीवात्मा
यथानादिश्च पुद्गलः

द्वयोर्बन्धोऽप्यनादि स्यात्
सम्बन्धो जीवकर्मणः ।।[५६]

कर्म सन्तति की अपेक्षा से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। किसी एक कर्म विशेष का अनादिकाल से सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्म स्थिति के पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, नवीन कर्म का बंध होता रहता है, इस प्रकार प्रवाह रूप से यह सम्बन्ध अनादि है।[५७] परन्तु यह सम्बन्ध अनादि होते हुए सान्त भी है। कर्म व आत्मा का पुरुषार्थ द्वारा पृथक्करण हो सकता है।[५८]

इस जैन विचारधारा के समान ही पुराणों का भी मत है कि "आत्मा के साथ मल का संयोग अनादि है, किन्तु आत्मा की मुक्ति के साथ इस संयोग का विनाश अवश्य होता है—"

"अनादिमल भोगान्तं.............."[५९]

आत्मा की यह मलिनता अनादि होते हुए भी इसका विनाश आत्मा के द्वारा अपनी सत्य प्रकृति के पहचान लेने पर ही होता है।

कर्म के प्रकार

जैनागमों के अनुसार कर्मों के मुख्य भेद आठ हैं—[६०]

१. जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करे, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। यह जगत् के बौद्धिक विभिन्नता का कारण है।
२. जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं।
३. जिस कर्म के द्वारा जीव को सांसारिक इन्द्रिय-जन्य सुख-दुःख का अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म कहलाता है।
४. जो कर्म जीव को स्व-पर-विवेक में तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाता है अथवा चारित्रगुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके कारण जीव विपरीत बुद्धि वाला बनकर शरीर को आत्मा तथा आत्मा को शरीर रूप मानकर दुःखी होता है।
५. जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है और क्षय होने से मरता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। इसके द्वारा जीव की मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में नियत काल पर्यन्त अवस्थिति होती है।
६. जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि कहलाये, उसे नामकर्म कहते हैं। एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक चौरासी लाख योनियों में जो जीवों की अनन्त आकृतियाँ हैं, उसका निर्माता नामकर्म है। आचार्य

भगवज्जिनसेन ने "इस नामकर्म को वास्तविक ब्रह्मा, सृष्टा अथवा विधाता कहा है।"[६१]

७. जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल में जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से पूज्यता-अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च-नीच कहलाये, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

८. जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूपी शक्तियों का घात करता है या दानादि में अन्तराय रूप हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय—ये चार कर्म आत्मा के ४ मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य-शक्ति) का घात करने से घाती कहलाते हैं। शेष चार अघाती कर्म-प्रकृतियाँ आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती हैं किन्तु वे आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करती है, जो उसका निजी नहीं है अपितु पौद्गलिक भौतिक है।

कर्म के प्रकारों का वर्णन अन्यरूप में भी उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार कर्म के प्रमुखतः तीन प्रकार हैं—अशुभ, शुभ एवं शुद्ध, जिन्हें पौराणिक भाषा में क्रमशः विकर्म, कर्म तथा अकर्म कहा गया है। जैन दर्शन में इन्हें पापकर्म, पुण्यकर्म तथा ईर्यापथिक कर्म कहा जाता है।

(१) पापकर्म/विकर्म

जैनागमों में पाप कर्म के १८ प्रकार बताये हैं—[६२]

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) मृषावाद (असत्य भाषण), (३) अदत्तादान (चौर्यकर्म), (४) मैथुन (काम-विकार), (५) परिग्रह (ममत्व या संचयवृत्ति), (६) क्रोध, (७) मान (अहंकार), (८) माया (कपट), (९) लोभ, (१०) राग (आसक्ति), (११) द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्यादि), (१२) क्लेश (संघर्ष, कलह), (१३) अभ्याख्यान (दोषारोपण), (१४) पिशुनता (चुगली), (१५) परपरिवाद (परनिन्दा), (१६) रति-अरति (हर्ष और शोक), (१७) माया मृषा (कपटसहित असत्य भाषण), (१८) मिथ्यादर्शन शल्य (अयथार्थ दृष्टि)।

पाप की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे—आत्म शक्तियों को क्षय करे, वह पाप है।[६३]

पुराणों में भी विकर्म अर्थात् पापकर्मों का वर्णन "पापाय परपीड़नम्" कहकर किया है अर्थात् व्यक्ति की जिस क्रिया के द्वारा किसी को पीड़ा पहुँचे, वही पाप है। भविष्यपुराणकारानुसार—मनुष्य के अधम कार्यों से ही उसका अधः पतन होता है—अर्थात् जिनसे अधः पतन हो वे ही अधम अथवा नीचकर्म हैं। जिन कर्मों से नर्क के समुद्र की यातना भोगनी पड़े, वह पाप कहलाता है।[६४] अधम या पापकर्मों

की संख्या का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म अथवा अतिसूक्ष्म आदि भेदों की दृष्टि से पाप असंख्य हो सकते हैं। स्थूल दृष्टि से पाप तीन प्रकार के होते हैं—

(१) **मानसिक**—परस्त्री चिंतन, पर अनिष्ट चिंतन, पर धनहरण की इच्छा, अकार्य करने का विचार आदि मानसिक पाप हैं।

(२) **वाचिक**—झूठ बोलना, परनिन्दा, अप्रिय वचन तथा पैशुन्य (चुगली करना) आदि वाचिक पाप हैं।

(३) **कायिक**—अभक्ष्य-भक्षण, हिंसा, परधन हरण तथा मिथ्या (झूठे) कार्य करना आदि कायिक पाप हैं।[६५]

(२) पुण्यकर्म/कर्म—

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार "पुण्य कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो, बंध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।"[६६]

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा है।[६७] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्यों का निरूपण है—[६८]

(१) अन्नपुण्य—भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा निवृत्ति करना।

(२) पानपुण्य—तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।

(३) लयनपुण्य—निवास के लिए स्थान देना।

(४) शयनपुण्य—शय्या बिछौना आदि देना।

(५) वस्त्रपुण्य—वस्त्र का दान देना।

(६) मनपुण्य—मन से शुभ विचार करना।

(७) वचनपुण्य—प्रशस्त एवं सन्तोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।

(८) कायपुण्य—रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।

(९) नमस्कारपुण्य—गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिनन्दन करना।

पुण्य के सन्दर्भ में पुराणों के लिए यह कथन विख्यात है:—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकारो पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

पुण्य से यहाँ भी तात्पर्य परोपकार लिया गया है। सेवा, दानादि के द्वारा पुण्य प्राप्ति का उल्लेख पुराणों में कई जगह उपलब्ध होता है।

(३) ईर्यापथिक कर्म/अकर्म

जैन दर्शन के अनुसार—राग, द्वेष एवं कषाय ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म, अकर्म बन जाता है। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बंधनकारक नहीं हैं। जबकि साम्परायिक कियाएँ आसक्त व्यक्ति की होती हैं जो कषाय सहित होने से बन्धनकारक होती हैं। कर्म-अकर्म के विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का *अभाव—ऐसा नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।*"[६९] "जो आस्रव या बन्धनकारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।"[७०] उदाहरणस्वरूप दशवैकालिक सूत्र में यह प्रश्न पूछे जाने पर कि आवश्यक क्रियाएँ (जो कि करना जरूरी हैं जैसे चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि) कैसे करे ताकि उनसे पापकर्म का बंध न हो? उत्तर इस प्रकार दिया गया है:—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई॥[७१]

अर्थात् चलना आदि क्रियायें विवेकपूर्वक करने से पापकर्म का बंध नहीं होता। तात्पर्य यही है कि बंधकत्व मात्र क्रियाओं पर ही निर्भर नहीं है। अप्रमत्त अवस्था में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है जबकि प्रमत्तदशा में निष्क्रियता भी कर्म (बंधन) बन जाती है। अतः क्रिया के पीछे रहे हुए कषाय-भाव या आसक्ति भाव ही बंधन का कारण है; जो अन्तर से राग-द्वेषरूप भावकर्म नहीं करता, उसे नये कर्म का बंध नहीं होता।[७२]

आसक्ति रहित निष्काम कर्म का, अकर्म के रूप में पुराणों में भी वर्णन है। योगी जनों में इस अवस्था की प्राप्ति को दिखाते हुए मार्कण्डेय पुराण का कथन है—"पुण्यों और अपुण्यों के उपभोग के पश्चात् निष्काम भाव से नित्यकर्म करने चाहिए, इससे पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय एवं नवीन कर्मों का असंचय होने से शरीर बार-बार कर्मबन्धन प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार के निष्काम कर्म करने से मोक्ष की

प्राप्ति होती है और इसके विपरीत आचरण करने से पुनः जन्म होता है।"[७३] वस्तुतः बंध का कारण मानसिक आसक्ति है:—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै-र्निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात् विषयों में आसक्त मन द्वारा बंध होता है तथा निर्विषय (विषयों में अनासक्त निष्काम) मन द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है।[७४] पद्मपुराण में निष्काम कर्म से अबंध का निरूपण करते हुए कहा गया है—कुछ लोग मन से ही तरित हो जाते हैं और कुछ लोग मन से ही पतित हो जाया करते हैं। योगी अन्दर से सबका (मन से सभी आसक्तियों का) परित्याग तथा बाह्य में कर्म का समाचरण करते हुए भी लिप्त नहीं होता है, जिस प्रकार नीर के लेशों से भी पद्म का पात्र लिप्त नहीं हुआ करता है।[७५]

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है, मुख्यतः उन्हें ग्यारह भागों में विभक्त किया गया है—[७६]

(१) **बंधन**—आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का बंधन अर्थात् नीरक्षीरवत् एकरूप हो जाना बंधन कहलाता है। बंधन चार प्रकार का है—प्रकृतिबंध = बद्ध कर्म परमाणुओं का आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के आवरण रूप में परिणत होना। प्रदेशबंध = गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना। अनुभागबंध = कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं के फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता-मंदता का निश्चय करना अनुभागबंध है। स्थितिबंध = कर्मविपाक (कर्मफल) के काल की मर्यादा को बताना स्थितिबंध है।

(२) **सत्ता**—बद्ध परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षयपर्यन्त आत्मा में सम्बद्ध रहते हैं, इस अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए भी विद्यमान रहते हैं।

(३) **उदय**—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते है उदय में आने वाले कर्म पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

(४) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है।

(५) **उद्वर्तना**—बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग। इसका निश्चय बंध के साथ विद्यमान कषाय की तीव्रता और मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की

स्थिति-विशेष, अथवा भाव-विशेष, अध्यवसाय-विशेष के कारण उस स्थिति के अनुभाग में वृद्धि हो जाना उद्वर्तन (उत्कर्षण) कहलाता है।

(६) **अपवर्तना**—यह अवस्था उद्वर्तना से बिल्कुल विपरीत है। बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना (अपकर्षणा) है।

(७) **संक्रमण**—एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है।

(८) **उपशमन**—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती, उसे उपशमन कहते हैं। इस अवस्था में भी उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण की संभावना का अभाव नहीं होता। उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

(९) **निधत्ति**—कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते हैं। इस स्थिति में उद्वर्तना और अपवर्तना की संभावना रहती है।

(१०) **निकाचन**—उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा—इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है। इस अवस्था का अर्थ है—कर्म का जिस रूप में बंध हुआ, उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना—इस अवस्था को "नियति" भी कह सकते हैं। किसी-किसी कर्म की यह अवस्था भी होती है।

(११) **अबाध**—कर्म के बंधन के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना अबाध अवस्था है। यद्यपि कर्मवाद का जितना सयुक्तिक, विस्तृत, सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण जैन दर्शन में है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है; किन्तु फिर भी कर्म सिद्धान्त का वर्णन करते हुए पुराणों में भी कर्म की कुछ अवस्थाओं का वर्णन है जिनका साम्य उपर्युक्त अवस्थाओं से है।

पौराणिक साहित्य में कर्म की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। वर्तमान क्षण के पूर्व तक किये गये समस्त कर्म संचित कर्म कहे जाते हैं। संचित कर्म के जिस भाग का फलभोग शुरू हो जाता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। नवीन कर्म संचय को क्रियमाण कर्म कहते हैं। इनमें से संचित कर्म की तुलना जैन दर्शन वर्णित कर्म की सत्ता अवस्था से, प्रारब्ध कर्म की तुलना उदयकर्म से तथा क्रियमाण कर्म की तुलना बंधमान कर्म से हो सकती है।[७७] जैनदर्शन वर्णित निकाचित अवस्था पुराणों में वर्णित नियतिवाद (दैववाद) के तुल्य है तथा कर्मों में परिवर्तन सम्बन्धी अवस्थाओं की तुलना पुरुषार्थवाद से हो सकती है।

कर्मबंध

कर्ममल का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादि है किन्तु कर्म विशेष का सम्बन्ध अनादि न होने से पूर्वबद्ध कर्म अपनी स्थिति पूर्ण हो जाने पर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तथा नये कर्मों का बन्ध चलता रहता है। कर्मबन्ध के प्रमुख दो कारण जैन धर्म में बताये गये हैं—कषाय एवं योग।[७८] इनमें से भी कषाय ही कर्मबन्ध का मुख्य हेतु है।[७९] कषाय के अभाव में कर्म आत्मा से सम्बद्ध नहीं रह सकते। जैसे सूखे वस्त्र पर धूल अच्छी तरह से न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है वैसे ही आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म परमाणु भी सम्बद्ध न होते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाते हैं। वैसे तो कषाय चार प्रकार का होता है—क्रोध, मान, माया और लोभ;[८०] किन्तु संक्षिप्त में इसके दो भेद हैं—राग और द्वेष;[८१] जिनके द्वारा कर्म बंध होता रहता है।

कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म तथा द्रव्यकर्म। जीव के जिन राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण हैं। जीव अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों से कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। त्रियोग की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव कर्म-सम्बद्ध हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति अर्थात् द्रव्यकर्म से भावकर्म एवं भावकर्म से द्रव्यकर्म की परम्परा (बीज-वृक्ष के समान) चलती रहती है।

राग-द्वेष मय आन्तरिक परिणामों से बंध होता है—"परिणामे बंधः" राग-द्वेष में निरत मन कर्मबंध का कारण है। मन एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति है जिसका उपयोग दोहरा होता है अर्थात यह दुधारी तलवार है; जिसके सदुपयोग से सफलता मिलती है, वहीं दुरुपयोग से विनाश, ह्रास एवं पतन की प्राप्ति होती है। मन को दुष्ट घोड़े की उपमा दी गई है, जिसे धर्मशिक्षा और स्वविवेक द्वारा वशीभूत किया जा सकता है।[८२] मनोविजय के सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य का यह कथन है—निरंकुशमनराक्षस है-जो निःशंक होकर दौड़-धूप करता रहता है और तीनों जगत् के जीवों को संसार रूपी गड्ढे में गिराता है।[८३] मिथ्यात्व या अज्ञान की अवस्था में आन्तरिक विवेक प्रसुप्त हो जाता है।

कर्मबंध के कारण पर पुराणों में भी चिन्तन किया गया है। पूर्ववत् कर्मबंध का प्रमुख कारण अज्ञान को माना है—

अद्भिराप्लावितं क्षेत्रं जनयत्यंकुरं यथा।
अज्ञानाप्लावितं कर्म देहं जनयते तथा॥

अर्थात् जिस प्रकार जल से आप्लावित क्षेत्र अंकुर को उत्पन्न करता है उसी प्रकार अज्ञानाप्लावित (अज्ञानपूर्वक किया गया) कर्म ही जन्म का कारण होता है।[८४]

मानसिक कषाय—विकारों द्वारा बन्धन का प्रतिपादन करते हुए पुराणों का भी यही मन्तव्य है कि मन द्वारा बद्ध पापकर्म वज्रलेप के समान होते हैं, जो कई कल्पों तक पीछा नहीं छोड़ते, ऐसा पाप केवल ध्यान से ही नष्ट होता है।[८५] इसीलिए विषयों में आसक्त मन को बंधन का कारण माना है।[८६]

जिस प्रकार जैन दर्शन में कर्म को पौद्गलिक मानते हुए उसे कार्मण शरीर कहा जाता है, जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के पुद्गल-समूह से बनता है; वैसे ही पुराणों में कर्मदेह को सूक्ष्म शरीर कहा गया है, जो जड़ है।[८७]

आश्रव

शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आश्रव कहते हैं। आश्रव के दो भेद हैं—द्रव्याश्रव तथा भावाश्रव; शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभाशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्याश्रव और कर्मों के आने के द्वाररूप जीव के शुभ-अशुभ परिणामों को भावास्रव कहते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं। यह तीन प्रकार का योग आश्रव है। शुभयोग पुण्य कर्म का तथा अशुभयोग पापकर्म का आश्रव है, कषाय-सहित जीव के सांपरायिक आश्रव और कषाय रहित के ईर्यापथ आश्रव होता है।[८८]

आश्रव का नाम से तो नहीं किन्तु कर्मों के आगमन के रूप में उल्लेख पुराणों में भी पाया जाता है। भावरूप राग-द्वेषादि विकार के कारण तथा अज्ञान-मोहादि से कर्म का शुभ या अशुभ रूप में आगमन होता रहता है,[८९] जो सूक्ष्म शरीर के रूप में आत्मा के साथ रहता है।

संवर

आश्रव का निरोध संवर है। संवर के दो भेद हैं—भाव संवर, द्रव्य संवर। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भाव संवर तथा कर्म पुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्य संवर कहते हैं अर्थात् जिन कारणों से आश्रव होता था, उन कारणों को दूर कर देने से जो कर्मों का आना बन्द हो जाता है, उसे संवर कहते हैं। यह तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और पाँच चारित्र से होता है।[९०]

पुराणों में आश्रव के समान ही संवर का भी नामशः उल्लेख न होकर कर्मों का आगमन रुकने के रूप में वर्णन इस प्रकार है—"जो अपनी आसक्ति का परित्याग कर देते हैं, वे आवश्यक कर्म करते हुए भी कर्मलिप्त नहीं होते अर्थात् संयम, इन्द्रिय संवरण आदि द्वारा आने वाले नवीन कर्म उनमें प्रवेश नहीं करते हैं।"[९१]

निर्जरा

आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्मपुद्गलों का एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। आत्मप्रदेशों से कर्मों का एकदेश पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा = फल देकर स्थिति पूर्ण हो जाने पर आत्मा से कर्म का पृथक् होना सविपाक निर्जरा कहलाती है। अविपाक निर्जरा = उदयकाल प्राप्त न होने पर भी तप आदि उपायों से कर्मों के क्षय करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसके अनशन, उनोदर आदि बारह प्रकार भी जैनागमों में वर्णित हैं।[९२]

पुराणों में वर्णित कर्मों का निर्मूलन जैन धर्म वर्णित निर्जरा के सदृश ही है।[९३] योगी द्वारा तप तथा ध्यानादि योग मार्ग से पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्मों का क्षय किया जाना अर्थात् मुक्ति के लिए समस्त कर्मों को नष्ट करने का यही तात्पर्य है।

मोक्ष

चारों पुरुषार्थों में से अन्तिम तथा परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करने के हेतुओं का निर्देश लगभग सभी कर्मवादी दर्शनों में दृष्टिगोचर होता है। असत् कर्मों का भयंकर परिणाम तथा सत्कर्मों का सुन्दर विपाक सामने रखकर ही दार्शनिक सन्तुष्ट नहीं हुए। इससे भी आगे के लक्ष्य प्राप्ति का ध्येय सामने रखते हुए सुख एवं दुःख दोनों को नश्वर मानते हुए शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति पर बल दिया।

कर्म-संलग्न आत्मा अशुद्ध है। जैन दर्शन के अनुसार "संवर के द्वारा नये कर्मों का आगमन रुक जाने पर तथा निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था है, वही मोक्ष है—"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष है।"[९४] कर्मक्षय या नाश का अर्थ यहाँ पृथक्करण है।

भारत के अन्य दर्शनों ने भी मोक्ष के विषय में यही चिन्तन प्रस्तुत किया है। सांख्य दर्शनकार ने "प्रकृति वियोगो मोक्षः" कहकर आत्मा रूप पुरुषत्व से प्रकृति रूप अचेतन तत्त्व का अलग हो जाना मोक्ष कहा है। वेदान्तिक आचार्य के अनुसार—परब्रह्म स्वरूप ईश्वरीय शक्ति में आत्मा का लीन हो जाना मुक्ति है—"आत्मण्येव लयो मुक्तिर्वेदान्तिक मते मताः"।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने संसार एवं मोक्ष को परिभाषित किया है—"कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मोक्ष कहा जाता है।"[९५] "मुच्" धातु से निष्पन्न मोक्ष का शाब्दिक

अर्थ—मुक्ति, स्वतन्त्रता, छुटकारा एवं निवृत्ति है। इसके लिए अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं—मुक्ति, सिद्धि, निर्वाण, अमृतत्त्व, बोधि, विमुक्ति, विशुद्धि, कैवल्य आदि।

जिस प्रकार जैन धर्म में सम्पूर्ण कर्म क्षय को मोक्ष कहा गया है, वैसे ही पुराणों में मोक्ष की प्राप्ति का सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर ही उल्लेख है।[९६] पूर्वजन्मों में अर्जित शुभ या अशुभ कर्मों के प्रभाव से स्वर्गादि या नरकादि में भ्रमण होता है। कर्मों का निर्मूलन होने पर ही मुक्ति होती है।[९७] पुण्य-पापमय जो कर्म हैं, वे मोक्ष के प्रतिबंधक हैं अतः योगी पुरुष योग के द्वारा पुण्यापुण्य का परित्याग कर दें, जब शुभ तथा अशुभ दोनों ही कर्मों का क्षय हो जाता है तभी जीव को सच्चा मोक्ष प्राप्त होता है। योगी लोग पुण्य-पाप से विनिर्मुक्त होकर उसको प्राप्त करके फिर पुनर्जन्म नहीं लेते हैं।[९८]

मोक्ष प्राप्ति के साधन

मुक्ति प्राप्ति के मार्ग अथवा हेतु अथवा साधनों पर विभिन्न दर्शनों के विभिन्न विचार हैं। जैन दर्शन में मोक्ष-मार्ग का निर्देश इस प्रकार से है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र—ये मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।[९९] मात्र ज्ञान अथवा मात्र दर्शन या चारित्र से ही मुक्ति प्राप्त नहीं होती अपितु ये तीनों संयुक्त रूप से मोक्ष के हेतु हैं। अतः इन्हें रत्नत्रय कहा जाता है। इन तीनों की परस्पर सापेक्षता महात्मा भगवानदीन के शब्दों में इस प्रकार से है—"कोरा एतकाद (श्रद्धा) कुछ नहीं कर सकता; न अकेले इल्म (ज्ञान) से कुछ बन सकेगा। सिर्फ अमल से तो कुछ होता ही नहीं, विश्वास और ज्ञान मिलकर अमल न होने से कोई फायदा नहीं। विश्वास और अमल बिना ज्ञान के न मालूम कहाँ पटक दे। ज्ञान और अमल बिना विश्वास के बेस्टीम (भाप रहित) के इंजन हैं। विश्वास एक जोर है जो काम में लगाता ही नहीं, आगे ढकेलता रहता है। गरज कामयाबी के लिए तीनों ही जरूरी हैं।"[१००]

उपासना के तीनों साधनों का निरूपण पुराणों में भी है। शिव पुराण के अनुसार—ज्ञानयोग, क्रियायोग तथा भक्तियोग, ये तीन उपासना के मार्ग हैं। कर्म से भक्ति तथा भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति होती है।[१०१] इसमें तीनों का समन्वय भी स्पष्ट है। तीनों की परस्पर निर्भरता इस प्रकार है—"कर्म तथा ज्ञान का मध्यवर्ती पदार्थ भक्ति है और ज्ञान का प्रधान सम्बन्ध आत्मा से है। शुद्ध सात्विक ज्ञान के उदय होने पर आत्मा शाश्वतिक सुख प्राप्त कर सकता है। सात्विक ज्ञान के उदय में विहित कर्मानुष्ठान कारण बनता है।"[१०२]

पूर्ववर्णित तीनों साधनों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

(१) सम्यग्दर्शन

जो महत्त्व नगर के लिए द्वार का, चेहरे के लिए चक्षु का, वृक्ष के लिए मूल का है, वही महत्त्व धर्म के लिए सम्यग्दर्शन का है। दर्शनपूर्वक ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप होता है।[१०३] संसार में ऐसा कोई रत्न नहीं, जो सम्यक्त्वरत्न से बढ़कर हो। सम्यक्त्व से बढ़कर कोई मित्र, बंधु या लाभ हो ही नहीं सकता। ज्ञान तथा चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशंसा के योग्य है, किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित ज्ञान और चारित्र प्रशंसित नहीं होते।[१०४] सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र का बीज है, व्रत, महाव्रत और उपशम के लिए जीवनस्वरूप है, तप और स्वाध्याय का आश्रयदाता है। इस प्रकार शमादि सभी को यह सफल करने वाला है।[१०५] वस्तुतः दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं, उसमें चारित्रिक गुण नहीं होते, ऐसे गुणहीन पुरुष की मुक्ति नहीं होती एवं मुक्ति के बिना शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं होती।[१०६]

सम्यग्दर्शन की परिभाषा उमास्वाति के अनुसार इस प्रकार है—"तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।"[१०७] यहाँ श्रद्धा, विश्वास का तात्पर्य अन्धश्रद्धा से नहीं, सम्यग्दृष्टि से है। उत्तराध्ययन में सम्यग्दर्शन को स्पष्ट करते हुए कहा है—स्वयं ही अपने विवेक से अथवा किसी के उपदेश से सद्‌भूत तत्त्वों के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा या विश्वास करना सम्यक्त्व है।[१०८] सम्यक्त्व की एक परिभाषा यह भी है—देव के विषय में देवबुद्धि रखना, गुरु के प्रति गुरुबुद्धि रखना तथा धर्म में शुद्ध धर्मबुद्धि सम्यक्त्व कहलाती है।[१०९] सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यात्व को परम शल्य, परम विष तथा बंध का कारण बताते हुए लिखा है कि मिथ्यात्वरूपी महादोष जीवन के लिए जितना भयंकर दुःखदायी है, उतनी न अग्नि भयकारक है, न हलाहल विष और न विषधर कृष्ण भुजंग ही है। जितने उत्कृष्ट लाभ सम्यक्त्व से हैं, उतनी ही निकृष्ट हानियाँ मिथ्यात्व से हैं।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति मूढ़ताओं (लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, पाखण्डी मूढ़ता), अंधविश्वासों से मुक्त रहता है, उसके पाँच लक्षण बताये गये हैं—(१) शम (उत्तेजित होते हुए क्रोधादि कषाय भावों को शांत करना), (२) संवेग (मोक्ष की अभिलाषा), (३) निर्वेद (संसार से उदासीनता, वैराग्य), (४) अनुकंपा (दुःखियों के दुःख मिटाने की भावना) तथा (५) आस्था (धर्म में दृढ़ विश्वास)।[११०]

सम्यग्दर्शन के कारण आसक्ति घटती जाती है। व्यक्ति निराकांक्षी होता जाता है। सूत्रकृतांग के अनुसार—"व्यक्ति विद्वान, भाग्यवान तथा पराक्रमी होने पर भी यदि उसका दृष्टिकोण मिथ्या (असम्यक्) है, तो उसका दान तप समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा से होने के कारण अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न ले जाकर बंधन की ओर ही ले जायेगा।"[१११] सम्यग्दर्शन के अभाव में व्यक्ति में आत्मा में

अनात्मबुद्धि तथा अनात्मा में आत्मबुद्धि एवं इस प्रकार के अनेक वैपरीत्य दृष्टिगत होते हैं।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व जैन संस्कृति के अतिरिक्त वैदिक संस्कृति में भी स्वीकृत है। महर्षि मनु के अनुसार सम्यग्दर्शन के अभाव में संसार में भ्रमण होता है।[११२] पुराणों में सम्यग्दर्शन का सत्यदृष्टि (विवेक), श्रद्धा (आस्था), समत्व (शम), वैराग्य (निर्वेद), अनुकम्पा तथा मोक्षाभिलाषा (संवेग)—इन लक्षणों के रूप में प्रचुर वर्णन है।

विवेक—विवेक की प्राप्ति होना परम दुर्लभ है।[११३] अनात्मा में आत्मज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मा में अनात्मज्ञान से ही व्यक्ति दुःखी होता है, सुख-दुःख की यथार्थता न समझते हुए तथा उन्हें अपना मानते हुए वास्तविक तथ्य से वंचित रह जाता है।[११४]

आस्था—श्रद्धा का महत्त्व इतना है कि उसके अभाव में किये गये सभी धार्मिक कार्य व्यर्थ हो जाते हैं। श्रद्धा बिना दिया गया दान फलशून्य तथा तपस्या मात्र अपने देह को कष्ट देती है।[११५]

समत्व—समत्व मोक्ष का एकमात्र उपाय है, अतः चित्त को समदर्शी बनाना चाहिए।[११६] मिथ्या प्रवर्तित न होने वाला जो मन इष्ट-संयोग में प्रसन्न एवं अनिष्ट-संयोग में उद्विग्न न हो—यही शम का लक्षण है।[११७]

वैराग्य—क्षय होने के स्वभाव वाली वस्तु में रुचि न होना वैराग्य है।[११८] जगत् के सुख भी वस्तुतः दुःखरूप हैं, अतः वैराग्य से बढ़कर कोई सुख नहीं है।[११९]

अनुकम्पा—सज्जनों में दया स्वभावतः होती है। वे शत्रु-मित्र का भेद मिटाकर सभी के लिए दया का स्रोत प्रवाहित करते हैं। सहनशील, सब पर दया करने वाले, सबके प्रिय, जिनका कोई शत्रु नहीं, ऐसे शान्त स्वभाव साधु सब साधुओं के आभूषण रूप हैं।[१२०]

मोक्षाभिलाषा—समस्त शुभाशुभ कर्मों का निर्मूलन करके उस मुक्ति रूपी परम-पद को अमूढ़ व्यक्ति ही प्राप्त करता है।[१२१] इतना ही नहीं, सम्यग्दर्शन का नामशः भी उल्लेख है—"सम्यग्दर्शन सम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते।"[१२२]

(२) सम्यग्ज्ञान

जो पदार्थ को न्यूनता, अधिकता—विपरीतता—सन्देहरहित जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है।[१२३] सम्यग्दर्शन का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है तथा सम्यग्ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है। सम्यग्ज्ञान कार्य है तथा सम्यग्दर्शन कारण है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में भी मति, श्रुतज्ञान पदार्थ को जानते थे पर वे कुमति और कुश्रुत थे। यद्यपि दीपक का जलना और प्रकाश एक ही साथ होता है, जब तक दीपक जलता रहता है तब तक ही उसका प्रकाश रहता है, परन्तु दीपक का जलना प्रकाश का

कारण है और प्रकाश कार्य है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान एक ही समय में होते हुए भी कारण तथा कार्य हैं।[१२४] ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है "पढम नाणं तओ दया"[१२५] अर्थात् चारित्र-पालन से पूर्व ज्ञान आवश्यक है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के बीच की कड़ी है, उससे इन दोनों में निखार आता है। जिस प्रकार धागे में पिरोई सुई गिर जाने पर गुम नहीं होती, वैसे ही ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा संसार में भटकती नहीं।[१२६] ज्ञानी आत्मा ही स्व एवं पर के कल्याण में समर्थ होता है।[१२७]

ज्ञान का महत्त्व पुराणों में वर्णित है। समस्त बाह्याचरणों से ज्ञान को श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—समस्त दान, अशन, व्रत, उपवास—तप तथा तीर्थस्नान—ये सब किसी अज्ञानी को ज्ञान के दान की सोलहवीं कला के भी समान योग्य नहीं है।[१२८] ज्ञान ही परब्रह्म है।[१२९] इस संसार रोग की औषध एक मात्र ज्ञान ही है।[१३०] अज्ञान मलपूर्वक होने से पुरुष मलिन कहा गया है। उस अज्ञान के क्षय होने से मुक्ति होती है अन्यथा करोड़ों जन्मों में भी मुक्ति नहीं हो सकती है।[१३१] ज्ञान के अभ्यास से बुद्धि निर्मल हो जाती है। ज्ञान सहित योगी का इस लोक और परलोक में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, ब्रह्मवेत्ता परमार्थ रूप से जीवन्मुक्त हो जाता है।[१३२] ज्ञान से बढ़कर पापों का विनाश करने वाला अन्य कोई साधन नहीं है। ज्ञानी पुरुष के समस्त पाप जीर्ण हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष कर्म करता हुआ भी नाना प्रकार के पापों से बद्ध नहीं होता। जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही ध्यान होता है।[१३३] ज्ञान से ही वैराग्य की उत्पत्ति होती है तथा वैराग्य से परमज्ञान होता है। सत्वनिष्ठ ज्ञान तथा वैराग्ययुक्त योगी योग-सिद्धि प्राप्त करता है।[१३४]

जैनागमों में ज्ञान के पाँच प्रकारों का वर्णन आता है[१३५]—

मतिज्ञान—मन तथा इन्द्रियों की सहायता से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान—जो ज्ञान श्रुतानुसारी हो, जिसमें शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञानपूर्वक होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—इन्द्रियादि की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा सीमा को लिए हुए पदार्थ के विषय में अन्तःसाक्ष्य-रूपज्ञान अवधिज्ञान है। इससे रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है।

मनःपर्ययज्ञान—संज्ञी (समनस्क) जीवों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है।

केवलज्ञान—ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर जिस ज्ञान के द्वारा भूत, वर्तमान तथा भावी (त्रिकालवर्ती) समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें एक साथ जानी जायें, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

इनमें से प्रथम दो ज्ञान मति और श्रुत परोक्ष ज्ञान हैं जो इन्द्रियों तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं जो मात्र आत्मा पर आधारित हैं।

ज्ञान के इन प्रकारों में से कुछ समानता रखते हुए पुराणों में ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का अधोलिखित रूप से वर्णन है—

श्रुति, स्मृति (स्मृति भी मति का पर्यायवाची शब्द है) ये विप्रों के दो नेत्र हैं। यदि इनमें से एक का ज्ञान हो तो काना तथा एक का भी ज्ञान न हो तो वह अन्धा है।[१३६] योग-साधन के अन्तर्गत योगी द्वारा समस्त पदार्थों को जान लेने का उल्लेख मिलता है।[१३७] इसके अतिरिक्त सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तिम मुक्ति के रूप में ज्ञानमयी कैवल्यमुक्ति का वर्णन है, जिसकी प्राप्ति पूर्ण वासना क्षय होने पर ही होती है तथा स्थायी होती है।[१३८]

सम्यक्चारित्र

"चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्"[१३९] तथा "चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं"[१४०] कर्मरूपी संचय को रिक्त करने वाला चारित्र है अर्थात् आत्मा की मलिनता को समाप्त करने वाला चारित्र है। निश्चय दृष्टि से चारित्र समत्व की उपलब्धि, आत्मरमण है। व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध मानसिक, वाचिक, कायिकशुद्धि एवं शुद्धि कारक नियमों से है। "यह नैतिक अनुशासन के नियमों का प्रतिनिधित्व करता है, उत्तम व्यवहार का नियमन करता है और मन-वचन-काय की गतिविधियों की संरचना करता है।[१४१] चारित्र से पहले सम्यग्ज्ञान नहीं हो तो वह सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। जैसे बिना जानी औषधि सेवन से मरण संभव है वैसे ही बिना ज्ञान के चारित्र से संसार में वृद्धि होना संभव है। बिना जीव के मृत शरीरस्थ इन्द्रियों के आकार जैसे निष्प्रयोजन हैं; वैसे ही बिना ज्ञान के वेष, क्रिया-कांड साधन, शुद्धोपयोग प्राप्ति के साधक नहीं हो सकते।"[१४२] इसी प्रकार मात्र ज्ञान से भी कुछ नहीं होता. यदि धर्म सिद्धान्तों को जानते हुए भी कोई उनका पालन न करे। चारित्र के दो प्रकार जैन धर्म में बताये गये हैं—

(१) **देशविरति चारित्र**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह धर्म का एकदेश अर्थात् सम्पूर्ण रूप से पालन न करने से गृहस्थ का चारित्र देश चारित्र कहा जाता है।

(२) **सर्वविरति चारित्र**—उन्हीं व्रतों को पूर्ण रूप से धारण करने से श्रमण का चारित्र सकलचारित्र, सर्वदेश चारित्र अथवा सर्वव्रती चारित्र कहा जाता है।

आचार को ही परम धर्म, परम धन, परम विद्या तथा परम गति[१४३] बताते हैं। पुराणों के अनुसार भी ज्ञान का फल ही सदाचार है। जीवन में उतारे बिना मात्र

पण्डिताई के लिए, दिखावे के लिए प्राप्त किया गया ज्ञान कभी भी मुक्ति प्रदान नहीं करता है। आचरण भेद की अपेक्षा से प्रत्येक वर्णाश्रम के पृथक्-पृथक् आचार घोषित किये गये हैं तथा कुछ सामान्य आचारों का भी विधान है जिनका पालन सभी के लिए आवश्यक है।

कर्मवाद का महत्त्व

जैनदर्शन में कर्म की चर्चा ही नहीं, कर्म सम्बन्धी अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी जैन दार्शनिकों द्वारा लिखे गये हैं। बंधन तथा मुक्ति के कारण स्वयं आत्मा में ही बताये गये हैं—"बंध-प्पमोक्खो अज्झत्थेव।"[१४४] ऐसी कोई अन्य शक्ति नहीं है जो उसे राजा से रंक और रंक से राजा बना दे। पराश्रय की प्रवृत्ति से विपरीत स्वनिग्रह को महत्त्व दिया गया है, जिससे दुःख विमुक्त होकर आत्मस्थ बना जा सके। इस प्रकार आत्मविश्वास पैदा करते हुए जैन संस्कृति का कथन है—"पुरिसा! तुमं मेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि" अर्थात् हे मानव! तू स्वयं ही अपना मित्र है, बाहर सहायकों की खोज में क्यों भटक रहा है?[१४५] कर्म सिद्धान्त की महत्ता प्रतिपादित करते हुए हिरियन्ना का कथन है "कर्म के सिद्धान्त के अनुसार हमारा भविष्य पूरी तरह से हमारे ही हाथों में रहता है। फलतः यह सिद्धान्त सदा सम्यक् आचरण के लिए प्रोत्साहन देता है।"[१४६]

इसी दृष्टि को सम्मुख रखते हुए पुराणों में भी असत्कार्यों से बचने की प्रेरणा दी गई है। उनके अनुसार "प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करना चाहिए क्योंकि अपने द्वारा किये गये पाप-पुण्य का फल सभी प्राणियों को भोगना होता है। किसी को सताना कदापि उचित नहीं है क्योंकि पीड़ित करने वाले को सुख की प्राप्ति नहीं होती।"[१४७] जो मनुष्य दूसरों का बुरा नहीं करना चाहता, उसका अकारण ही कभी अनिष्ट नहीं होता।[१४८] संसार के कारणभूत कर्म की प्रभुता व्यक्त करते हुए पद्मपुराणकार का आशय है कि कुछ लोग ग्रहों की प्रशंसा करते हैं, और कुछ प्रेत तथा पिशाचों की तारीफ करते हैं, कुछ देवों के प्रशंसक हैं, तो कुछ लोग औषधियों की प्रशंसा का बखान करते हैं। कुछ मंत्र की, कुछ सिद्धि की, कुछ लोग बुद्धि की, तो कुछ लोग पराक्रम की तारीफ किया करते हैं। उद्यम-साहस-धैर्य-नीति और बल के विषय में कुछ-कुछ लोग प्रशंसा के पुल बाँधते हैं, ऐसा भिन्न दिमागों का विचार भी विभिन्न होता है। किन्तु मैं तो सर्वोपरि विराजमान एक कर्म की ही प्रशंसा करता हूँ कि सभी कर्मों के अनुवर्ती हुआ करते हैं।[१४९]

वस्तुतः पुराणों में वर्णित कर्म सिद्धान्त का जैन दर्शन वर्णित कर्म सिद्धान्त से कई प्रकार का साम्य परिलक्षित होता है। जिस प्रकार से जैन दर्शन में कर्म एवं आत्मा का संयोग अनादि माना गया हैं; उसी प्रकार से आत्मा को पुराणों में भी

अनादिकालीन कर्मबद्ध कहा है तथा उन कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता भी जैन दर्शन के समान स्वयं आत्मा को माना है।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन पुराण तथा जैन धर्म में है। इस कर्म-तत्त्व ज्ञान द्वारा वे विश्व-वैचित्र्य का समाधान तर्कानुकूल पद्धति से करते हैं। कर्म सिद्धान्त इनका अविभाज्य अंग है। कर्म सिद्धान्त को न केवल भारतीय धर्मों ने अपनाया बल्कि पाश्चात्य धर्मों ने भी माना है। एक सुप्रसिद्ध अँग्रेज लेखक का कथन है—"कर्म एक वैज्ञानिक नियम है। इसे एशियाई धर्मों ने अपनाया था और यूरोप की धार्मिक श्रद्धा में भी उसका स्थान था, परन्तु ईसा के पाँच सौ वर्ष बाद कुस्तुन्तुनिया की धर्म संगति ने ईसा के उपदेशों से उसे निकाल दिया। इस प्रकार कुछ मूर्ख मनुष्यों के मण्डल ने पश्चिम को इस वैज्ञानिक सिद्धान्त से वंचित किया।

इस समझ से नैतिक जीवन स्वतः उद्‌भूत होगा। पश्चिम को पूर्वजन्म और कर्म के सिद्धान्त शीघ्र ही अपनाने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि ये सिद्धान्त व्यक्ति एवं राष्ट्र को अपने उत्तरदायित्व का जो भान कराते हैं, वह कोई भी असंगत वाद या मत नहीं करा सकता।"[१५०]

कर्म विज्ञान का महत्त्व यद्यपि कई धर्मों में स्वीकृत है परन्तु जैन धर्म में इसकी विशेष व्याख्या को देखकर किसी ने कहा है "जैन धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता देने में हर अन्य धर्म से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिए जाने के बाद कर्म हमारे प्रभु बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ेंगे। मेरा स्वातन्त्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, पर मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से मैं बच नहीं सकता।"[१५१]

□ □ □

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. ए बी. शिवाजी "भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त"—जयगुञ्जार—जुलाई-अगस्त, १९८०

२. "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" —अष्टाध्यायी १.४.७९

३. उमेश मिश्र —'भारतीय दर्शन' पृ. २४७

४. वैशेषिक दर्शन भाष्य १.१७ अ. ३५

५. सांख्यतत्त्वकौमुदी ६७

६. उमेश मिश्र —'भारतीय दर्शन' पृ. २३६

७. "कीरइ जीएण हेऊहिं जेण तु भण्णए कम्मं ॥" —कर्मग्रन्थ १.१

८. तत्त्वार्थसूत्र ८.२१

९. आचारांग १.३.१

१०. पंचाध्यायी २.५०

११. 'सव्वे सयकम्मकप्पिया' —सूत्रकृतांग १.२.१८

१२. ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २६६, श्लो. ३३-३९

१३. गरुड़ पुराण (२) पृ. ४०७, श्लो. ७१

१४. "जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं
तमेवं आगच्छति संपराए ॥" —सूत्रकृतांग १.५.२.२३

१५. उत्तराध्ययन ४.३

१६. "ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतार गहने क्षिप्तो महासंकटे
रुद्रो येन कपाल पाणिरपरो भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥" —गरुड़पुराण

१७. "को वा कस्मिन्समर्थो भवति विधिवशाद् भ्रामयेत्कर्म रेखा" —वही प १.३८३, श्लो. १४

१८. "मा भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्"
—ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृति खण्ड, अध्याय ६५, श्लो. ४७

१९. (अ) जैन पंचम कर्मग्रंथ १५-१७
(ब) सांख्यकारिका ४४
(स) योग सूत्र २.१४
(द) न्याय मंजरी पृ. ४७२
(य) मत्स्य पुराण (१) पृ. १७५, श्लो. १९
(र) ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २७५, श्लो. १८

२०. कर्मणा चिरं जीवो च क्षणायुश्च स्वकर्मणा
कर्मणा कोटिकल्पायुः क्षीणायुश्च स्वकर्मणा —ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २६६, श्लो. ३९

२१. "रोगी अकर्मणा जीवाश्चारोगी शुभकर्मणा
......अन्धादयश्च वाग्हीना कुत्सितेन च कर्मणा ।।" ब्रह्मवैवर्तपुरुण (१) पृ. २७५, श्लो. २०-२१

२२. वही, पृ. २७५, श्लो. १९

२३. "न कर्तृत्व कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः
न कर्मफल संयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।" —गीता

२४. श्री मधुकर मुनिजी —'कर्ममीमांसा' पृ. ३९

२५. "परलोगकडाकम्मा इहलोए वेइज्जंति
इहलोग कडाकम्मा, परलोए वेइज्जंति" —भगवती सूत्र १६

२६. "इह यत्कुरुते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते
पुण्यमाचरतः पुंसो यदि दुःखं प्रजायते ।।
तदा तापो न कर्तव्यस्तत्कर्म पूर्वदेहजम्
पापमाचरतो पुंसो जायते सुखमेव च
न कर्तव्यस्तदा हर्ष सुखे तत्र सुरेश्वरि ।।
....कर्मणा वा तथा जन्तुर्नीयते सुखदुःखयोः
प्राणी स्वकर्मभिर्बद्धो........" —पद्म पुराण (२) पृ. ४०९, श्लो. १४, १५, १९

२७. श्री मधुकर मुनिजी —'कर्ममीमांसा' पृ. ४०-४३

२८. आचार्य हरिभद्र सूरि "योगबिन्दु" श्लो. १३-१४ —जैनयोग ग्रन्थ चतुष्टय

२९. "कत्तारमेवमणु जाइ कम्मं" —उत्तराध्ययन १३, २३

३०. सूत्रकृतांग १, ५, २, २२

३१. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।। उत्तराध्ययन—२०, ३७

३२. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीय लभते शुभाशुभम्,
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा
निजार्जितकर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषी
—आचार्य अमितगति "द्वात्रिंशिका" —३०-३१

३३. गरुड़ पुराण (१) पृ. १४२, श्लो. ८

३४. ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २७१, श्लो. १६

३५. प्रश्नोपनिषद् ४.९; कठोपनिषद् १, ३, ४,

३६. "अप्पा नइ वेयरणी अप्पा मे कूडसामली
अप्पा कामदूहा धेनु अप्पा मे नन्दनं वनं ।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठि य सुपट्ठि य ।।" —उत्तराध्ययन २०, ३६-३७

३७. सूत्रकृतांग १, २, १४

३८. भूतपूर्व कृतं कर्म कर्त्तारमनुतिष्ठति
यथा धेनुसहस्रेषु बत्सो विन्दति मातरम् ।।

एवं पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुतिष्ठति
सुकृतं पूर्वकृतं भुक्ष्व मूढ! किं परितप्यसे ॥ —गरुड़ पुराण (१) पृ. ३९१, श्लो. ५४-५५

३९. एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते
एको हि भुंक्ते सुकृतमेव एवं च दुष्कृतम् ॥ —वही (२) पृ. २५६, श्लो. २२

४०. निहतस्य पशोर्यज्ञ स्वर्गप्राप्तिं यदीहते
स्वपिता यजमानेन किं वा तत्र न हन्यते ॥
तृप्तते जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेद्यदि
दद्याच्छाद्ध प्रवसतो न वहेयुः प्रवासिनः ॥ —पद्म पुराण (१) पृ. १२३, श्लो. १०९-११०

४१. दलसुख मालवणिया —'आत्ममीमांसा' पृ. ८६

४२. वही, पृ. ९४

४३. गरुड पुराण (१) पृ. ३८३, श्लो. १४

४४. यस्मिन्वयसि यत्काले यद्दिवा यच्च वा निशि।
यन्मुहूर्ते क्षणे वापि तत्तथा न तदन्यथा ॥
गच्छति चान्तरिक्षे वा प्रविशन्ति महीतले।
धायन्ति दिशः सर्वानादत्तमुपलभ्यते ॥
पुराधीता च या विद्या पुरा दत्तञ्च यद्धनम्
पुराकृतानि कर्माणि अग्रे धावन्ति धावतः ॥ —गरुड़ पुराण (१) पृ. ३८६, श्लो. २२-२४

४५. नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि
कुशाग्रेण संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ —वही पृ. ३९०, श्लो. ४८

४६. वही, पृ. ३९०, श्लो. ४९

४७. "नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं" —सूत्रकृतांग १, २, १, ४

४८. दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम्
एवं व्यवस्थिते युज्यते न्यायतः परम् ॥ —हरिभद्रसूरि "योगबिन्दु" ३१८

४९. वही, ३२५

५०. वही, ३२२, ३२३

५१. स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्
तस्मात्पौरुषमेवेह, श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥
प्रतिकूलन्तथा दैवं, पौरुषेण निहन्यते
मंगलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥
येषां पूर्वकृतं कर्म सात्विकं मनुजोत्तम।
पौरुषेण बिना तेषां केषाञ्चिद् दृश्यते फलम् ॥
कृच्छ्रेण कर्मणा बिद्धि तामस्य तथा फलम्
पौरुषेणाप्यतो राजन्! प्रार्थितव्यं फलं नरैः
दैवमेव विजानाति, नराः पौरुषवर्जिताः ॥ —मत्स्य पुराण (२), पृ. ३०५, श्लो. २-७

५२. कः केन हन्यते जन्तुः कः केन रक्ष्यते
हति रक्षति चेवात्मा ह्येतत्साधु समाचरन् ॥

कर्मणा जायते सर्व कर्मैर्न गतिसाधनम्
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधुकर्म समाचरेत् ॥ —विष्णु पुराण (१) पृ. २०६, १, १८, ३२
५३. दलसुख मालवणिया —'आत्म-मीमांसा' पृ. ८२
५४. Hiriyanna—"Outlines of Indian Philosophy" P. 60
Belvelkar—"History of Indian Philosophy" P. 82
५५. दलसुख मालवणिया —'आत्म-मीमांसा' पृ. ८२
५६. "पंचाध्यायी" २.३५
५७. वही, २, ४५
५८. "खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य" —उत्तराध्ययन २५, ४५
५९. शिव पुराण ७, १, ५, २६
६०. "अट्ठ कम पगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा—
णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं,
आउयं, नामं, गोयं, अन्तराइयं" —प्रज्ञापना, पद २१, उ. १, सू. २२८
६१. "विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ॥" —जिनसेन—"महा पुराण" ३७, ४
६२. कर्ममीमांसा, पृ. ९८
६३. अभिधान राजेन्द्र कोष (५) पृ. ८७६
६४. डॉ. सतीश चन्द्र जोशी —'भविष्य पुराण' पृ. १३३
६५. शिव पुराण (२) पृ. १५१, श्लो. ३-७
६६. डॉ. सागरमल जैन "जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन" पृ. ३३४
६७. भगवती सूत्र ७, १०, १२१
६८. स्थानांग सूत्र ९
६९. सूत्रकृतांग १, ८, ३
७०. आचारांग १, ४, २, १
७१. दशवैकालिक ४, ८
७२. "अकुव्वओ णवं णत्थि" —सूत्रकृतांग १, १५, ७
७३. उपभोगेन पुण्यानामपुण्यानां च पार्थिव
कर्तव्यमिति नित्यानामकरणात् तथा ॥
असंचयादपूर्वस्य क्षयात् पूर्वार्जितस्य च
कर्मणो ऽबंधमाप्नोति शरीरं च पुनः पुनः ॥
कर्मणा मोक्षमाप्नोति वैपरीत्येन तस्य तु ॥ —मार्कण्डेय पुराण ३६, ६-८
७४. विष्णु पुराण (२) पृ. ३९७, श्लो. २८
७५. पद्म पुराण (२) पृ. ४०४, श्लो. ८७-८८
७६. श्री मधुकर मुनिजी "कर्ममीमांसा" पृ. १०५
तथा कर्मग्रन्थ भाग १, भूमिका पृ. ५७
७७. नथमल टाँटिया —'स्टडीज इन जैन फिलोसोफी' पृ. २६०

७८. समवायांग २

७९. तत्वार्थ सूत्र ८, २

८०. प्रज्ञापना २३, १, २९०

८१. उत्तराध्ययन ३३, ७

८२. मणो साहसिओ मीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥ —उत्तराध्ययन—२३, ५८

८३. योगशास्त्र—चतुर्थ प्रकाश

८४. शिव पुराण ७, १, ५, ५३

८५. "मानसं च तथा पापं तादृशं नाशयेद् द्विजाः
मानस वज्रलेपं तु कल्प कल्पानुगं तथा" —शिव पुराण, विद्येश्वर संहिता, १२, ३८, ३९

८६. विष्णु पुराण (२) पृ. ३९७, श्लो. २८

८७. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय —'शिव पुराण में शैवदर्शन तत्त्व' पृ. १४२

८८. "कायवाङ्मनः कर्मयोगः"
"स आस्रवः" "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" "सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः"
—तत्त्वार्थसूत्र ६, १-४

८९. "शुभाशुभं च यत्किंचित्
स्वकर्मफलभुक् पुमान्" —ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २१५, श्लो. १९

९०. (अ) "आस्रवनिरोधंसः संवरः"
"स समितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" —तत्त्वार्थसूत्र ९, १-२
(ब) उत्तराध्ययन ३, ३०

९१. पद्म पुराण (२) पृ. ४०४, श्लो. ८८

९२. भगवती सूत्र २५, ७, ८०१

९३. "कर्मनिर्मूलने मुक्तिः"
—ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २१५, श्लो. १९

९४. तत्त्वार्थ सूत्र १०, ३

९५. योगशास्त्र ४, ५

९६. शिव पुराण, कोटिरुद्रसंहिता, अध्याय २३

९७. "शुभाशुभ भुञ्जते च कर्मपूर्वार्जितं परम्
कर्मनिर्मूलने मुक्ति......" —ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २७५, श्लो. १९

९८. पुण्य पापं विनिर्मुक्ताय प्राप्य च पुनर्भवम्
न योगिनः प्राप्नुवन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥ —वामनपुराण (२) पृ. ३८२, अ. ८६, श्लो. ७८

९९. तत्त्वार्थ सूत्र १,१

१००. महात्मा भगवानदीन "जैनसंस्कृति का व्यापक रूप" पृ. २८

१०१. शिव पुराण, उमा संहिता, अ. ५१

१०२. कल्याण—भक्ति अंक पृ. ९०, जनवरी ,१९५८

१०३. णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जहं मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणं चरणवीरतवाणं ॥ —भगवती आराधना ७३६

१०४. ज्ञानार्णव ५५

१०५. वही, ५४

१०६. नादंसणिस्स नाणं, नाणेन विणा न हुंति चरणगुणा
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ —उत्तराध्ययन २८, ३०

१०७. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" —तत्त्वार्थ सूत्र १, २

१०८. तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं
भावेण य सद्दहंतस्स सम्मतं तं वियाहियं ॥ —उत्तराध्ययन —२८, १५

१०९. या देवे देवता बुद्धिर्गुरौ च गुरुता मति
धर्मे च धर्मधी: शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ —रतनलाल डोशी "मोक्षमार्ग" पृ. ६४

११०. शमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणा:
लक्षणै: पंचभि: सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ —योगशास्त्र २, १५

१११. सूत्रकृतांग १, ८, २३-२३

११२. मनुस्मृति ६, ७४

११३. "सर्वेषामेव जन्तूनां विवेको दुर्लभ: पर: ।" —गरुड पुराण (२), पृ. २५४, २, ८

११४. लिंग पुराण (१) पृ. ८९, श्लो. ८

११५. नारद पुराण (१) पृ. ७७, श्लो. १, ८, ९

११६. "तन्मन: समतालम्बि कार्य्यसाम्यं हि मुक्तये" —विष्णु पुराण (१) पृ. ३५५, श्लो. ३१

११७. लिंग पुराण (१) पृ. १०३, श्लो. २६

११८. स्कन्द पुराण (१) पृ. ३८३, अ. ३६ श्लो. १

११९. स्कन्द पुराण (१) पृ. २६३, श्लो. ५८

१२०. श्रीमद्भागवत पुराण, तृतीय स्कन्ध

१२१. कूर्म पुराण (१) पृ. ३९९

१२२. कूर्म पुराण (१) पृ. ६७

१२३. (क) कर्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं यत् ॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३५

(ख) द्रव्यसंग्रह ३, ४२

(ग) "नाणेण जाणइ भावे"

(घ) "जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानम्" —सर्वार्थसिद्धि पृ. २

१२४. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ३२-३४

१२५. दशवैकालिक ४, १०

१२६. उत्तराध्ययन २९, ५९

१२७. "अलमप्पणो होति अलं परेसि" —सूत्रकृतांग १, १२, १९

१२८. ब्रह्मवैवर्त पुराण (१) पृ. २८०, श्लो. ६

१२९. "ज्ञानमेव परब्रह्म" —शिव पुराण (२) पृ. २१६, श्लो. ३९

१३०. "अस्य रोगस्य भैषज्यं ज्ञानमेव न चापरम्" —शिव पुराण ७, १, ३१, ८१

१३१. अज्ञानमल पूर्वत्त्वान्पुरुषो मलिन: स्मृत:
तत्क्षयाद्धि भवेन्मुक्तिर्नान्यथा जन्मकोटिभि: ॥ —लिंग पुराण (२) पृ. ३८, श्लो. ६०

१३२. लिंग पुराण, पृ. ३९, श्लो. ७१, ७३, ७४

१३३. वही, पृ. ४०-४१, श्लो. ८४-८६

१३४. वही, पृ. ४५, श्लो. १०८-१०९

१३५. (क) नाणं पंचविहं पण्णत्तं—
आभिणिबोहियणाण सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलणाणं —नंदीसूत्र
(ख) स्थानांगसूत्र २, १, १०३; ५, ३, ३४१
(ग) तत्त्वार्थसूत्र १, ११-१२
(घ) विशेषावश्यक भाष्य ८५-८६

१३६. डॉ. सतीशचन्द्र जोशी —'श्री भविष्य पुराण' पृ. ८९-९०

१३७. शिव पुराण ७, २, ३८, ९

१३८. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय —'शिव पुराण में शैवदर्शन तत्त्व' पृ. १४२.....

१३९. सर्वार्थसिद्धि पृ. २

१४०. उत्तराध्ययन २८, ३३

१४१. डॉ. शिवमुनि —'मुक्ति—एक अनुशीलन' पृ. १८

१४२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३८

१४३. कल्याण, शिव पुराणांक (जनवरी, १९६२) पृ. ५१२

१४४. आचारांग १, ५, २

१४५. वही, १, ३, ३

१४६. Hiriyanna M. "Outlines of Indian Philosophy" (Hindi translation) P. 78

१४७. देवीभागवत पुराण (१) पृ. ४७०, श्लो. ११-१२

१४८. विष्णु पुराण (१) पृ. २०९, १९, ५-६

१४९. पद्म पुराण (२) पृ. ४१२, श्लो. १२८-१३०

१५०. "Although Karma is really a scientific law, it was appropriated by the Asiatic religions........The west has great and quick need for the acceptance of Karma and rebirth because they make men and nations ethically self-responsible as no irrational or incoherent dogma can make them.......Hence the urgency of popularizing the Karma doctrine."
"The Hidden Teaching Beyond" P. 335-6
(मुनि श्री अमरेन्द्रविजयजी —"विज्ञान और अध्यात्म" पृ. ७९)

१५१. J. Jaini : "Outlines of Jainism"
(M. Hiriyanna : "Outlines of Indian Philosophy" Hindi translation P. 172)

□□□

६

आचार सिद्धान्त : सामान्य आचार

आचार का जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार का सामान्य अर्थ है—व्यावहारिक जीवन में आचरण योग्य वे नियम जो चारित्र का गठन करते हैं, आचार के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार आचार से तात्पर्य अच्छे चाल-चलन से है।

महाभारत में आचार को धर्म का लक्षण कहा गया है। आचार से धर्म उत्पन्न होता है।[१] श्रुतियों और स्मृतियों में भी आचार को सबसे बड़ा धर्म बतलाया गया है। सदाचार भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है। सज्जनों के आचार को सदाचार कहा जाता है—"सज्जनानां आचारः सदाचारः"।

आचार माहत्म्य

जैन एवं पौराणिक साहित्य में भी आचार पर बहुत बल दिया गया है। पुराणकार के अनुसार सदाचार का सभी को पालन करना चाहिए। आचार रहित को यज्ञ, तप, दानादि करने पर भी कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। यह एक वटवृक्षवत् है, जिसने इसका भली-भाँति सेवन किया है, वह बहुत ही अधिक पुण्यभागी होता है। इसका मूल धर्म है, शाखाएँ धन है, तथा मोक्ष इसका फल है। आचार का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करते हुए दुराचाररत व्यक्ति की हानियाँ बताई गई हैं कि वह निन्दा का पात्र, व्याधिग्रस्त, अल्पायु, सदा दुःख भोक्ता होता है। अतः व्यक्ति को सावधानीपूर्वक स्वेच्छा से अवश्य सदाचार का पालन करना चाहिए। आचार ही परम धर्म, परम विद्या, परम धन तथा परम गति है—

आचारः परमो धर्मः, आचारः परमं धनम्।
आचारः परमो विद्या, आचारः परमा गतिः॥

वेद ज्ञान, भगवद् भक्ति भी आचारभ्रष्ट पुरुष को पवित्र नहीं कर सकती है। उसकी रक्षा तीर्थ, यज्ञादि कोई भी नहीं कर सकते हैं। सदाचार से ही स्वर्ग, सुख, मोक्ष आदि सभी प्राप्त होता है। सदाचारपूर्वक ही सभी अर्हतायें (योग्यतायें) पूर्ण होती हैं। विद्वेष तथा राग से रहित जो सम्यक् आचरण किया जाता है, उसे ही स्कन्दपुराणकार ने सदाचार कहा है। सदाचार के पालन में भी भावना होना आवश्यक

है क्योंकि आचार का विचार से सम्बन्ध अवश्य है, अन्यथा नारदपुराण में लिखा है कि दूसरों के वैभव से अपने हृदय को सन्तप्त करने वाले, केवल दम्भ के लिए सदाचार का प्रदर्शन करने वाले मिथ्याचारियों से भगवान् बहुत दूर रहते हैं। आचार को प्रथम धर्म बताते हुए आचार से श्रेष्ठत्व तथा सत्कर्म की प्राप्ति बतलाई गई है। श्रेष्ठ जाति में उत्पन्न भी यदि आचारहीन हो तो वह शूद्र-तुल्य ही होता है।[२]

जिस प्रकार पुराणों में आचार का माहात्म्य निरूपित है उसी प्रकार जैनधर्म में भी आचार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रत्नत्रयी जिसे मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है, उसमें सम्यक्चारित्र भी है, जिसका सम्बन्ध आचार से ही है। मोक्ष प्राप्ति जैन धर्मानुसार मात्र ज्ञान से या मात्र चारित्र से नहीं होती है वरन् इन दोनों के संगम से ही होती है। जैसा कि सूत्रकृतांग में कथन है—"आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं"।

अर्थात् ज्ञान और कर्म (विद्या एवं आचरण) से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।[३] यही व्यवहार भाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य का भी कथन है। इस प्रकार दर्शन-पूर्वक ज्ञान तथा चारित्र द्वारा आत्मा को चरम तथा परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। मोक्ष के हेतुभूत इन साधनों का उत्तराध्ययन तथा तत्त्वार्थसूत्र में भी निर्देश है।[४]

यदि व्यक्ति में ज्ञान बहुतसा है किन्तु उसका फल सदाचार नहीं है तो वह उस मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी अज्ञान ही बताया गया है। यह सत्य ही कहा गया है—"हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया" अर्थात् आचरण के अभाव में ज्ञान व्यर्थ साबित हो जाता है तथा ज्ञान के अभाव में आचरण व्यर्थ है। आचार्य भद्रबाहु ने स्वरचित ग्रन्थ "आवश्यक निर्युक्ति" में यही बात दृष्टान्तों द्वारा समझाई है—यथा वन में आग लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अन्धा दौड़ता हुआ भी आग से बच नहीं पाता, जलकर नष्ट हो जाता है, वैसे आचारहीन ज्ञान तथा ज्ञानहीन आचार भी विनाश को प्राप्त होता है। यदि जीवन में शास्त्रों का ज्ञान तो बहुत है किन्तु फिर भी जो साधक चारित्रहीन है, वह संसार-सागर में डूब जाता है। जैसे करोड़ों दीपक जला देने पर भी अन्धे को कोई प्रकाश नहीं मिल सकता है, तदनुसार ही शास्त्रों का बहुत-सा अध्ययन भी चारित्रहीन के लिए किस काम का? शास्त्रों का थोड़ा-सा अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाश देने वाला होता है। जिसकी आंखें खुली हैं, उसको एक दीपक भी काफी प्रकाश दे सकता है। अतः संयोग सिद्धि (ज्ञान और क्रिया का संयोग) ही फलदायी (मोक्ष रूपी फल देने वाला) होता है। एक पहिए से कभी रथ नहीं चलता। जैसे अन्धा और पंगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर में सुरक्षित पहुँच सकते हैं, वैसे ही साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है।

आचरण के अभाव में ज्ञान सिर्फ भारतुल्य ही है, यथा गधे पर चन्दन का भार होते हुए भी उसे सुगन्ध का पता नहीं चलता, वह उसे सिर्फ ढोता रहता है। वस्तुतः आचार का इतना महत्त्व है कि उसके अभाव में अन्य साधन साधक को सहायक नहीं होते हैं। तैरने की कला का ज्ञानमात्र प्राप्त करने से व्यक्ति तैर नहीं सकता, यदि वह हाथ-पाँव हिलाकर कोई कायचेष्टा नहीं करे।[५]

आचारांग—निर्युक्तिकार ने सम्पूर्ण जिनवाणी (आगम साहित्य) का सार ही "आचार" को माना है तथा आचरण का सार निर्वाण (मुक्ति) बताया है। आचरणहीन ज्ञानी वस्तुतः अज्ञानी है, किन्तु चारित्रयुक्त ज्ञान अल्प होते हुए भी महान् फल देने वाला है। चाहे भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्यगति को प्राप्त करता है। समस्त सामान्य या विशेष धर्म सदाचार (शील) के ही अंग हैं। इसी के आधार पर अन्य गुणों की भी स्थिरता संभाव्य है, किन्तु इस गुण के अभाव में दुःशील दुराचारी व्यक्ति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र का कथन है कि जो दुःशील व्यक्ति होता है वह स्वादिष्ट चावलों का भोजन छोड़कर विष्ठा खाने वाले शूकर के तुल्य ही होता है, क्योंकि वह भी सदाचार को छोड़कर दुराचार को पसन्द करता है। ऐसा दुःशील, उद्दण्ड, मुखर वाचाल मनुष्य सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है; जैसे सड़े कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है दुत्कार कर निकाल दी जाती है। इस प्रकार दुराचारी स्वयं ही स्वयं का अहित कर लेता है। पूर्व वर्णित पुराणानुसार आचारहीन साधक की रक्षा तीर्थ, यज्ञादि कोई भी नहीं कर सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी कहा गया है—चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ, कंथा और सिरोमुण्डन; यह सभी उपक्रम आचार रहित साधक की (दुर्गति से) रक्षा नहीं कर सकते हैं।[६]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पुराण तथा जैन साहित्य में आचार का पर्याप्त महत्त्व है, किन्तु साथ ही एक अपेक्षा भी है कि वह धर्मसम्मत हो; अन्यथा अधर्मयुक्त आचार दुराचार कहा जाता है। यहाँ धर्माचरण के विषय में पुराण तथा जैन धर्म के मन्तव्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

धर्म : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'धृ' धातु से निष्पन्न धर्म शब्द का वैयाकरणों ने विविध प्रकार से व्युत्पन्नार्थ निर्दिष्ट किया है। यथा—१. वह कर्म जिसके आचरण से इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। २. जिससे लोक धारण किया जाये, वह धर्म है। ३. जो लोक को धारण करें, वह धर्म है। ४. जो अन्यों से धारण किया जाये, वह धर्म है। महाभारतानुसार धारण करने से यह धर्म कहा गया है। आशय

यह है कि धर्म समस्त चराचर जगत् को धारण करता है तथा सब को धारण करने की योग्यता रखने के कारण ही उसे धर्म कहा जाता है। प्राचीन महर्षियों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। महामहोपाध्याय डॉ. पी. वी. काणे ने अपने ग्रन्थ "धर्मशास्त्र का इतिहास" में प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखा है कि "धर्म" से तात्पर्य मानव के उन विशेषाधिकारों एवं विशिष्ट कर्त्तव्यों से है जो कि वह एक आर्यों के समाज के सदस्य के रूप में, किसी विशेष वर्ग के सदस्य के रूप में, अथवा जीवन की विशेष अवस्था में पूर्ण करता है।[७]

धर्म का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ स्वभाव होता है, यथा अग्नि का धर्म है उष्णता। इसी प्रकार आत्मा का जो ज्ञानरूप स्वभाव है वही उसका धर्म भी है। ऐसे आत्मधर्म को प्राप्त करने के लिए, प्रकट करने के लिए जो व्यावहारिक तौर पर साधनाएँ प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा बतलाई गई हैं, उन्हें भी "धर्म" नाम से अभिहित किया जाता है यद्यपि वह अभ्यास ही है। जैनागमों में कहा गया है "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का अपना स्वभाव धर्म है। दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म "धर्म" कहा जाता है।

जो विविध कर्मावरणों से आच्छादित है, उसको प्रकट करने में सहायक होने से अर्थात् जिससे आत्मा की शुद्धि हो, उसे भी धर्म कहते हैं।[८] पुराण तथा जैन साहित्य में धर्म को सबसे श्रेष्ठ तथा जीवन में प्रमुख पुरुषार्थ बताया गया है।

धर्महीन व्यक्ति के अर्थ, काम वन्ध्यासुतवत् निष्फल होते हैं। धर्म से ही सब कुछ प्राप्त होता है। प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही प्रयाण करता है। उस समय उसके साथ कोई भी धन, परिजन, मित्रादि नहीं होते हैं। केवल एक धर्म ही उसके जीवन में सहायक होता है। मनुष्य के लिए माता-पितादि कोई भी सहायक नहीं है इसलिए सभी को नित्यप्रति धर्माचरण करना चाहिए।

लिंगपुराणकार ने धर्म का अर्थ बताते हुए लिखा है कि कुशल कर्म ही धर्म है तथा अकुशल कर्म ही अधर्म है। अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण सम्पादनार्थ जिस साधन को धारण किया जाये, वह धर्म है।[९]

धर्म का महत्त्व

जैन साहित्य में धर्म का महत्त्व वर्णन करते हुए उसे जीवन के प्रमुख ध्येय रूप में दिखलाया है। उसे ही एक मात्र शरण बताते हुए बताया है कि जरा-मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणी के लिए एक मात्र धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा-आधार है, गति है और उत्तम शरण है। जो वर्तमान में इसका आचरण नहीं करता, उसे भविष्य में पश्चात्ताप करना पड़ता है। यही धर्म अबन्धुओं का बन्धु है, अमित्रों का मित्र है, अनाथों का नाथ है तथा इस जगत् में परमवत्सल धर्म ही है।[१०]

धर्माचरण : एक विवेचन

धर्म के प्रधानतः दो रूप होते हैं—

१. सामान्य धर्म २. विशेष धर्म

सामान्य धर्म—सार्वकालिक एवं सर्वजनपालनीय होता है एवं विशेष धर्म—देश, काल, परिस्थिति एवं सम्बन्ध आदि के अनुसार एक वर्ग अथवा व्यक्ति का अपना धर्म है। यह विभिन्न व्यक्ति या स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

विभिन्न धर्माचारों का वर्णन करते हुए देवीभागवतपुराण में कहा गया है—शास्त्रीय और लौकिक के भेद से आचार दो प्रकार का है। जो अपना शुभ चाहते हैं, वे इन दोनों में से एक का भी त्याग न करें। सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे ग्राम धर्म, जाति धर्म, देश धर्म, कुल धर्म—इन सभी का पालन करें।[११]

पुराणों में वर्णित इन धर्मों का विवरण जैनागम स्थानांगसूत्र में भी है। इस सूत्र में धर्म के दस प्रकार लिखे हैं[१२]—

१. **ग्राम धर्म**—गाँव की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

२. **नगर धर्म**—नगर की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

३. **राष्ट्र धर्म**—राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का पालन करना।

४. **पाखंड धर्म**—पापों का खण्डन करने वाले आचार का पालन करना।

५. **कुल धर्म**—कुल के परम्परागत आचार का पालन करना।

६. **गण धर्म**—गण की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

७. **संघ धर्म**—संघ की मर्यादा या व्यवस्था का पालन करना।

८. **श्रुत धर्म**—द्वादशांग श्रुत की आराधना या अभ्यास करना।

९. **चारित्र धर्म**—संयम की आराधना करना, चारित्र पालना।

१०. **अस्तिकाय धर्म**—अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी द्रव्यों का धर्म (स्वभाव)।

उपर्युक्त धर्मों में से कुछ लौकिक कर्त्तव्यों को इंगित करते हैं तथा कुछ पारमार्थिक लक्ष्य हेतु हैं।

व्यक्ति पर जब जिस कर्त्तव्य के पालन का समय आता है, उसे अवश्य पालन करना चाहिए, यही बताना पुराण एवं जैन साहित्य में वर्णित ग्रामादि धर्मों का हेतु है।

पुराणों में आश्रम, वर्ण आदि भेदों द्वारा प्रत्येक के पृथक् कर्त्तव्य घोषित किए गये हैं। यथा क्षत्रिय का धर्म है सुरक्षा करना आदि। जैन धर्म में भी गृहस्थ, संन्यासी आदि सभी के लिए कई कर्त्तव्य (नियम) निर्धारित किये गये हैं। उनमें कुछ आवश्यक

तथा कुछ ऐच्छिक होते हैं। सामान्य धर्म तो प्रत्येक जन के लिए आवश्यक ही है। उन सामान्य धर्मों का यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

धार्मिक आचारों के दो रूप हैं जिनमें कुछ विधेयात्मक आचार हैं तथा कुछ निषेधात्मक। वस्तुतः तो विधेय के अन्तर्गत ही निषेध है तथा निषेध में ही विधेय भी समाहित होता है यथा धर्म का विधेयरूप है अहिंसा पालनीय है। सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना तथा निषेध रूप है प्राणी वध न करना, इस प्रकार दोनों परस्पर समन्वित हैं। दोनों रूप पुराण तथा जैन साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। सामान्य धर्मों में सबसे प्रथम धर्म है अहिंसा। अतः उसी का सर्वप्रथम विवेचन किया जा रहा है—

अहिंसा

अहिंसा को धर्म का मूल या प्राण माना गया है। पुराणों को देखने से पता लगता है कि इनमें भी अहिंसा का सिद्धान्त पूर्ण विकसित एवं समृद्ध है। यह साधारण धर्म का प्रमुख अंग बन गया है।

तथापि जैन धर्म में जितना अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन है उतना अन्यत्र कहीं मिलना संभव नहीं है। वहाँ निश्चय दृष्टि से जो प्रमत्त है, वह हिंसक है तथा जो अप्रमत्त है, वही अहिंसक है।

हिंसा की परिभाषा देते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा"[१३] प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। हिंसा के तीन रूप हैं—मानसिक, वाचिक, कायिक। पुराणों में इन तीनों प्रकार की हिंसा का स्पष्टतया निषेध है। अर्थात् हिंसा के विचार पहले मन में आते हैं। तत्पश्चात् वचन तथा काय द्वारा व्यक्त होता है। वायुपुराण में हिंसा के उद्देश्य से नहीं होने वाली तथा अनजान में होने वाली भूल को भी क्षम्य नहीं कहा है। वहाँ लिखा है कि—मन, वाणी एवं कर्म से सभी जीवों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु अनिच्छा से भी किसी पशु की हिंसा कर डालता है तो इस दोष या पाप से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित स्वरूप उसे चान्द्रायण आदि कठोर व्रतों को करना चाहिए।[१४]

जैनागमों में भी त्रिविध हिंसा का निषेध करते हुए लिखा है कि मन, वचन और काय, इन तीनों से प्राणियों को नहीं मारना चाहिए। अनजान में हुई हिंसा का यहाँ भी प्रायश्चित विधान किया गया है। हिंसा का विशिष्ट रूप यह बताया गया है कि हिंसा केवल दिखाई देने वाली ही नहीं है बल्कि आत्मा के अशुभ परिणाम ही हिंसा है। हिंसा के दो रूप होते हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में (क्रोधादि) जागृत होना भावहिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रियारूप देना द्रव्यहिंसा

कहलाती है। अर्थात् कोई प्राण के द्रव्यरूप ही नहीं, भाव रूप का भी घात करे तो वह हिंसा के क्षेत्र में ही आयेगा। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्य-भाव-रूपाणाम्।
व्यवरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

इसे श्री नाथूराम जी ने अपने शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया है "जिस पुरुष के मन में, वचन में व काय में क्रोधादि कषाय प्रकट होते हैं, उसके शुद्धोपयोग रूप भावप्राणों का घात तो पहले होता है क्योंकि कषाय के प्रादुर्भाव से भावप्राण का व्यवरोपण होता है, यह प्रथम हिंसा है; पश्चात् यदि कषायों की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छ्वास से हस्तपादादि से वह अपने अंग को कष्ट पहुँचाता है अथवा आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्यप्राणों का व्यवरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है; फिर उसके कहे हुए मर्म-भेदी कुवचनादिक से व हास्यादि से लक्ष्य पुरुष के अंतरंग में जो पीड़ा होकर उसके भाव प्राणों का व्यवरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है; और अन्त में उसके तीव्रकषाय व प्रमाद से लक्ष्य पुरुष को जो शारीरिक अंगच्छेदन आदि पीड़ा पहुँचायी जाती है तो परद्रव्य प्राण व्यवरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। सारांशतः कषाय से अपने पर के भाव प्राण व द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा का लक्षण है।"[१५]

प्रस्तुत अंश से स्पष्ट है कि अहिंसा बहुत सूक्ष्म है। ज्ञान का सार ही अहिंसा है। अहिंसा एक सहस्रवाहिनी धारा है जिसके हजारों रूप हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"दया, समाधि, क्षमा, सम्यक्त्व, आराधना, धृति (चित्त की दृढ़ता), समृद्धि (आत्मिक आनन्द), प्रमोद, रक्षा, समिति, आश्वासन, विश्वास, अभय, समत्व, प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव—यह समस्त अहिंसा का परिवार है। हिंसक न केवल पर-अहित करता है बल्कि स्वयं अपने लिए कई हानियाँ पैदा कर लेता है। पर-अहित हो या न हो, यह कोई जरूरी नहीं; परन्तु जिसको हिंसा के विचार आते हैं, वह उसी क्षण स्वहिंसा कर लेता है अर्थात् अन्य का अहित (अनिष्ट) करने के लक्ष्य से स्वयं का ही अनिष्ट हो जाता है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में यही कहा है कि जो छली अपने सुखों के लिए दूसरों को दुख देते हैं, उन्हें वे हिंसित जीव बाद में (अन्य जन्मों में) वैसे ही कष्ट पहुँचाते हैं, मारते हैं।"[१६]

अहिंसा के पीछे मूल भावना यही है कि जिस प्रकार हम सुखी रहना चाहते हैं या जीवित रहना चाहते हैं, वैसे ही अन्य जीव भी सुख या जीवन चाहते हैं। अतः उनकी रक्षा करना वस्तुतः हमारे कल्याण (श्रेय) की ही रक्षा है। सभी प्राणियों को सुख प्रिय तथा दुःख अप्रिय लगता है, इसलिए प्राणियों में मैत्री भावना रखनी चाहिए। आचारांग सूत्र में यही बात जरा विस्तृत रूप से समझाई गई है कि स्व और पर को एक ही तुला पर रखना चाहिए। जो स्व सुख-दुःख को जानता है, वह अन्य के भी

सुख-दु:ख मानता है। व्यक्ति और किसी को मार नहीं सकता, न शासित कर सकता है तथा न ही परिताप दे सकता है, क्योंकि जिसे भी मारना आदि चाहे वह खुद ही है।[१७] क्योंकि स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं, यह अद्वैतभावना (अभेदानुभूति) ही अहिंसा का मूलाधार है।

जिस प्रकार जैनागमों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि अर्थात् स्थावर-जंगम सभी को सजीव मानकर उनके प्रति अहिंसा पालन करने के लिए कहा है। यही बात पुराणों में भी कही गई है। पर्वतादि समस्त स्थानों पर विष्णु है—

जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुर्पर्वतमस्तके
जालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

गीता का भी यही आशय है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं "चैतन्य, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल, वनस्पति एवं चलने-फिरने वाले सभी प्राणियों मैं हूँ। इस प्रकार मुझे सर्वव्यापक जानकर जो मेरी हिंसा नहीं करता है, मैं उसे नहीं मारता। विष्णु को सर्वव्यापक मानते हुए विष्णुपुराण ने भी यही इंगित किया है कि चूंकि विष्णु सर्व व्यापक है, अतः हिंसा करने वाला इन्हीं की हिंसा करता है। जो व्यक्ति हिंसा से अपने को अलग रखता है, उससे हमेशा ही विष्णु सन्तुष्ट रहते हैं।"

हिंसा को सब पातकों की जड़ माना है। इसे एक प्रतीकात्मक कथा द्वारा विष्णुपुराण में बताया गया है कि अधर्म की पत्नी हिंसा थी। उसके पुत्र अनृत तथा निकृति से भय व नरक नामक पुत्र हुए, जिनकी पत्नियाँ माया और वेदना थीं। माया ने संहारकर्ता मृत्यु को जन्म दिया और वेदना से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार संसार के समस्त दुःखों के मूल में हिंसा ही है।[१८]

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि हिंसा केवल कार्य से ही नहीं, भाव से भी होती है। इस सन्दर्भ में पुराणों में भी कहा गया है कि मन के द्वारा पाप (हिंसा) का विचार करना भी हिंसा है। जो मनुष्य दूसरों का अनिष्ट नहीं सोचता, उसका भी कभी अनिष्ट नहीं होता। अतः कभी किसी का अहित चिंतन न करें तथा सभी के साथ मैत्री भाव रखें। वाचिक हिंसा का भी प्रतिरोध किया गया है।[१९]

पुराणवत् जैन धर्म में भी वाचिक हिंसा को प्रतिषिद्ध करते हुए उसके दुष्परिणाम बताये हैं। लोहे का शूल चुभा हो तो दो घड़ी दुःख होता है और उसे सहजता से निकाला जा सकता है, परन्तु कठोर वाणीरूपी शूल चुभ जाए तो उसे सहजता से नहीं निकाला जा सकता है। वह वैर वध करने वाला तथा महा भय उत्पन्न करने वाला होता है।[२०]

इस प्रकार पुराणानुसार भी मन, वचन, कर्म तीनों द्वारा अहिंसा पालनीय है तथा जो इस प्रकार सर्वत्र और सर्वदा हिंसा का परिहार करता है, उसकी सभी रक्षा

करते हैं तथा जो हिंसा करने वाला है, उसे सभी बाधा पहुँचाते हैं। अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए कहा है कि किसी वेद के पारगामी विद्वान को सम्पूर्ण त्रैलोक्य का दान करने से जो फल प्राप्त होता है, उस फल से भी कोटिगुणा फल सदा अहिंसक मानव द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतएव मन, वचन और कर्म से सदा समस्त प्राणियों के हित में अनुराग रखने के अनुरागवाले पुरुष सद्गति को प्राप्त किया करते हैं। त्रियोग द्वारा हिंसा का निषेध विष्णु पुराण, स्कन्द पुराण, नारद पुराण आदि में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है।[२१] अग्नि पुराण में अहिंसा की तुलना हस्ती पद से की गई है अर्थात् जिस प्रकार "सर्वे पदा हस्ती पदे निमग्ना"—हाथी के पाँव में सभी के पाँव समाहित हैं—वैसे ही अहिंसा में अन्य सभी गुण आ जाते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर पूजन, प्राणियों को कष्ट न देना आदि सभी अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं—

भूतपीड़ा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः।
यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम्॥[२२]

ज़ैन धर्म के अनुसार भी अहिंसा में ही अन्य सभी धर्म समाहित हैं। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी का समावेश अहिंसा में हो जाता है। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही सब धर्म अहिंसा में समा जाते हैं। जिस प्रकार जगत् में मेरूपर्वत से ऊंचा और आकाश से विशाल और कुछ भी नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।[२३]

अहिंसा की गरिमा मत्स्य पुराण के शब्दों में इस प्रकार है—जितना पुण्य चार वेदों के अध्ययन से या सत्य बोलने से अर्जित होता है, उससे कहीं अधिक पुण्य की प्राप्ति अहिंसा व्रत के पालन से होती है।[२४]

जैन धर्मानुसार हिंसा के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। "इसने मुझे मारा", कुछ लोग इस विचार से अर्थात् प्रतिशोध की भावना से हिंसा करते हैं। "यह मुझे मारता है" कुछ इस विचार से प्रतिकार की भावना से हिंसा करते हैं। "यह मुझे मारेगा" कुछ लोग इस भय की भावना से हिंसा करते हैं। कोई लोभवश, कोई द्वेषवश या स्वार्थवश अथवा कोई-कोई अज्ञानवश धर्म के लिए भी हिंसा करते हैं।[२५]

धर्म के नाम पर की गई हिंसा से लाभ की कामना रखना उसी प्रकार है, जैसे कोई जड़ (मूल) को काटते हुए वृक्ष को विकसित करने की बात सोचता है। इसके अतिरिक्त एक हिंसा ऐसी भी है जिसे गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं (क्षुधादि) की पूर्ति हेतु करता है, जिसे आरम्भिकी नाम दिया है, परन्तु इसमें भी सावधानी, उपयोग या ध्यान रखने के लिए प्रेरित किया है। यदि अन्तःकरण दया के रस से युक्त हो तो सावधानी स्वतः रखी जाती है। दया के अभाव में ही हिंसा का उद्गम होता है। अहिंसा का मूल दया है। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जो कठोर हृदय दूसरे

को पीड़ा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकंपित नहीं होता, वह निरनुकंप कहलाता है, चूंकि अनुकंपा का अर्थ ही है—काँपते हुए को देखकर कंपित होना।

हिंसा के इन विभिन्न हेतुओं में से आरम्भिकी (आवश्यक) हिंसा में भी किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए, इस सन्दर्भ में लिंग पुराण में निर्दिष्ट है यथा "जल सूक्ष्म जन्तुओं से मिश्रित होता है, अतः अपूत जल से सम्पूर्ण पाप प्राप्त होता है, क्योंकि सूक्ष्म जन्तुओं की वहाँ हिंसा होती है। गृहस्थों को सम्मार्जन में अर्थात् घर की सफाई करने में, अग्नि जलाने में, धान्यादि पीसने में और जल संग्रह में नित्यप्रति हिंसा हुआ ही करती है। अतः जलादि, वस्त्रादि से पवित्र कर छान कर ग्रहण करना चाहिए।"[२६] इस प्रकार पुराणों में भी आवश्यक कार्यों में भी जागृति का सन्देश दिया गया है।

हिंसा का ही एक प्रकार है—सांकल्पिकी हिंसा अर्थात् द्वेषपूर्वक हिंसा करना। पुराण तथा जैन धर्म दोनों में इसको पूर्णतया वर्जित बताया है। यहाँ तक कि जिसने अपकार किया है, ऐसे व्यक्ति की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। दिल में भी उसके प्रति दुर्भावना नहीं रखकर समभाव रखना चाहिए।

हिंसा सप्रयोजन तथा निष्प्रयोजन दोनों प्रकार की होती है।[२७] स्वार्थादि किसी भी प्रयोजन से कृत हिंसा भी उचित नहीं मानी गई है तो निष्प्रयोजन का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। हिंसा चाहे जिस प्रयोजन से की जाये, वह हिंसा ही है। यद्यपि प्राचीन वैदिक श्रुतियों में वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी गई किन्तु जैनधर्म में ही नहीं, पुराणों में भी इस उक्ति का खण्डन किया गया है। मत्स्य पुराण में एकदम स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया है—

अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया वत।
नवः पशुविधिस्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम॥

पशुवध का निषेध करते हुए कहा गया है कि यज्ञ में पशु हिंसा करने से धर्म के नाम पर बहुत बड़ा अधर्म होता है। मुनि [illegible] भी हिंसा या हिंसापरक यज्ञ का अनुमोदन नहीं करते।[२८] यज्ञादि की हिंसा का तिरस्कार करते हुए भागवत में प्राचीनवर्हि नामक राजा को नारद ऋषि द्वारा दिया गया यह उपदेश यहाँ दृष्टव्य है—"हे राजन्! तूने घोर अन्याय किया है। कुगुरुओं के मिथ्या उपदेश के जाल में फँसकर, वेद की आज्ञा का रहस्य समझे बिना, उसका उल्टा अर्थ करके दीन पशुओं की ओर नजर न करके यज्ञ के नाम पर, अर्राट करने वाले हजारों पशुओं को जला डाला है। वे सब पशु तुझसे बदला लेने के लिए तेरी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। तेरी आयु समाप्त होते ही वे अलग-अलग तेरा वध उसी प्रकार करेंगे, जैसा तूने उनका वध किया है।" यह सुनते ही प्राचीनबर्हि राजा ने हिंसाधर्म का त्याग कर दिया। यज्ञ के समान ही बलि के बहाने भी जो निर्दय लोग प्राणियों की हिंसा करते

हैं, वे मरकर घोर दुर्गति में जाते हैं। वास्तव में हिंसा न कभी धर्म हुआ है और न कभी होगा ही।[२९]

जैन धर्म भी इन हिंसक बलि-यज्ञादि का एक स्वर से विरोध करता है। मूलाचार में इसे मूढ़ता (मिथ्यात्व) कहकर परित्याग योग्य बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने "यज्ञार्थे पशवः सृष्टा" आदि विधान के रचयिता क्रूरकर्मा ऋषियों को चार्वाकादि नास्तिकों से भी अधम माना है। उनके अनुसार देवपूजा, यज्ञादि के बहाने बलि चढ़ाने तथा जीव हिंसा करने वाले निर्दय लोग नरकादि घोर दुर्गतियों को प्राप्त करते हैं तथा श्राद्ध, बलि, यज्ञादि में पूजादि का तो बहाना मात्र है, वस्तुतः वे अपनी मांसलोलुपता की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं। जिह्वा के लिए माँसाहार पाप है तो धर्म के नाम पर यह महापाप हो जाता है।[३०]

उत्तराध्ययन के १२वें अध्याय में हरिकेशी मुनि इन कर्मकाण्डों को करते हुए ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम क्यों अग्नि का आरम्भ करते हो? इन्द्रियों का दमन करने वाले छः जीवकाय की हिंसा नहीं करते। यदि यज्ञ करना है तो ऐसा यज्ञ करना चाहिए जो पूर्णरूपेण अहिंसक हो। उस यज्ञ का स्वरूप इस प्रकार है—पाँच संवर से युक्त, असंयमी जीवन को नहीं चाहने वाला, शरीर ममत्व का त्याग करने वाला, निर्मल व्रत वाला, महानजय वाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करता है। उस यज्ञ में तप रूपी अग्नि, जीव अग्नि का स्थान और मन, वचन, काया के शुभ व्यापार कुड़छी रूप हैं, शरीर कंडा रूप है और आठ कर्म लकड़ी रूप हैं, संयम चर्या शांति पाठ रूप है, ऐसा यज्ञ ऋषियों द्वारा प्रशंसित है।[३१]

आन्तरिक परिणामों (भावों) द्वारा यज्ञ का वर्णन भागवत में भी है। भागवत में निर्दोष यज्ञ के सम्बन्ध में महर्षि व्यास का कथन है—"जीव रूपी कुण्ड में स्थित दमरूपी पवन से प्रज्ज्वलित की हुई, ध्यान रूपी अग्नि में अशुभ कर्म रूपी समिधा (लकड़ियाँ) डालकर उत्तम होम करें। धर्म, काम और अर्थ का नाश करने वाले दुष्ट कषाय रूपी पशुओं का शान्ति रूपी मन्त्र पढ़कर यज्ञ करो, ऐसे यज्ञ का ही ज्ञानियों ने विधान किया है। अश्वमेधादि यज्ञों का सत्यार्थ इस प्रकार बताया है—मन रूपी घोड़े का यज्ञ करना अश्वमेध यज्ञ है, असत्य रूपी गाय का यज्ञ गोमेध है, इन्द्रिय रूपी अज का यज्ञ करना अजमेध यज्ञ है, कामदेव रूपी पुरुष का यज्ञ नरमेध यज्ञ है, इस प्रकार के यज्ञ पूर्वोक्त रीति से करने चाहिए। हिंसात्मक यज्ञ म्लेच्छता का परिचायक है। विष्णु पुराण में इसको निम्नस्तर का बताया है—यदि यज्ञ में बलिदान होने वाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का बलिदान करके उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त करा देता है?"[३२]

अहिंसा पालन में ये समस्त मूढतायें बाधक होती हैं। सब प्राणियों के प्रति स्वयं को संयत रखना, यही अहिंसा का पूर्णदर्शन है। जैन धर्म के समान ही पुराणों

में भी त्रिकरण (करना, कराना एवं अनुमोदन करना) तथा त्रियोग (मन, वचन तथा शरीर) द्वारा हिंसा को त्याज्य प्रतिपादित किया है। यहाँ तक कि वामन पुराण में कहा गया है "प्राणों का त्याग कर देना श्रेष्ठ है परन्तु दूसरों की हिंसा करना कभी भी अभिमत नहीं है।"[३३] जैनधर्मानुसार भी अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है। वस्तुतः जितनी सूक्ष्म दृष्टि से देखें, अहिंसा उतना ही व्यापक विषय है। इसका पूर्ण विवेचन कर पाना असंभव लगता है।

सत्य

सत्य माहात्म्य

महाभारत में आख्यात है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है, अतः सत्य का लोप न करें। सत्य की महिमा का वर्णन सभी ने किया है। पुराण तथा जैन धर्म में सत्य का इतना माहात्म्य बताया है कि सब कुछ सत्य से ही प्राप्त होता है। सत्य के बिना कुछ नहीं, सत् पर ही आगे का सभी निर्माण है, दुनिया में असत् कुछ भी नहीं है। सत्य के माहात्म्य की पुष्टि करते हुए अनेक प्राचीन कथानक भी लिखे गये हैं।

हरिवंशपुराणकार ने सत्य के विषय में लिखा है कि देवता सदा सत्य में तत्पर रहते हैं किन्तु महान् असुर सदैव असत्य में ही आसक्त रहते हैं। जहाँ धर्म, तप और सत्य होता है, वहाँ निश्चय ही विजय होती है। इसका आशय यह है कि सत्यवादी मानव देवतुल्य कहे जाते हैं और मिथ्यावादी जन "असुर" की संज्ञा प्राप्त करते हैं। सत्य बोलना सामाजिक व्यवस्था का मूल उन्नायक है। सत्य बोलना वाणी का तप है। शिवपुराण में सत्य को ही परमब्रह्म, परमतप, सबसे बड़ा यज्ञ माना है। सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है। सत्य पर ही सब कुछ निर्भर है। एक हजार अश्वमेध के फल को, एक लाख यज्ञ के फल को तराजू के एक पलड़े पर रखा जाये और दूसरे पर सत्य को, तो सत्य ही भारी सिद्ध होगा। सत्य ही परमधर्म, परमपद तथा परमब्रह्म है। अतः इन सबकी प्राप्ति के लिए सदा सत्य बोलना चाहिए। स्वर्ग (पुण्य लोक) के भागी वे ही होते हैं जो अपने लिए, अन्य के लिए, पुत्र के लिए भी कभी झूठ नहीं बोलते। सत्य से ही सूर्य, चन्द्र प्रकाशित हो रहे हैं। यह सत्य ही उनकी तपश्चर्या है जिसके कारण वे अपने प्राकृत नियम पर चल रहे हैं। सत्याचरण से उन्नति तथा मिथ्याचरण से अवनति होती है। सत्य में तपादि सभी प्रतिष्ठित होते हैं। सत्य से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उत्तम दक्षिणायुक्त अनेक यज्ञादि से या अन्य किसी उत्तम कार्य से प्राप्त नहीं होता है।[३४]

पुराणवत् ही जैन धर्म भी सत्य को प्रमुख व्रत मानता है। उसे साक्षात् भगवान् ही कह दिया है। सत्य ही संसार में सारभूत है तथा महासमुद्र से भी अधिक

गम्भीर है। सत्यवादी की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि सत्यवादी माता की तरह विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह लोगों का पूज्य तथा स्वजन की तरह सभी को प्रिय लगता है। आचार्य हेमचन्द्र ने सत्यवादी का प्रभाव व्यक्त किया है कि जो सत्पुरुष ज्ञान और चारित्र के कारणभूत सत्य वचन ही बोलते हैं, उनके चरणों की रज पृथ्वी को पावन बनाती है तथा सत्यरूपी महाधन युक्त महापुरुष का भूत, प्रेत, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। सत्य को ही यश का मूल कारण, विश्वास प्राप्ति का मुख्य साधन, स्वर्ग का द्वार एवं सिद्धि का सोपान माना है।

इसके विपरीत असत्य को निकृष्टतम बताते हुए कहा है कि एक ओर जगत् के समस्त पाप एवं दूसरी ओर असत्य का पाप इन दोनों को तराजू में तोला जाये तो बराबर होंगे। विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद (असत्य) की निन्दा की है। जिस प्रकार सत्य विश्वास का कारण है, वैसे ही असत्य अविश्वास का मूल कारण है। असत्य वचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढ़ता है और मन में संक्लेश होता है। असत्य का आचरण ही नहीं बल्कि प्ररूपणा (प्रतिपादन) करने वाले भी संसार से पार नहीं हो सकते।[35] पुराणवत् सत्य के सुख आदि अनेक सुपरिणाम तथा असत्य की हानियाँ भी विविध दृष्टान्तों द्वारा इस प्रकार बताई हैं—जैसे कड़ुवे तूम्बे का एक ही बीज एक भार गुड़ का मीठापन नष्ट कर देता है; जैसे मनुष्य के सामुद्रिक श्रेष्ठ लक्षण लाखों हों परन्तु उनमें कौए के पाँव का एक लक्षण भी हो तो वे लाखों शुभ लक्षण व्यर्थ हो जाते हैं; वैसे ही असत्यभाषण सभी उत्तम गुणों को अप्रामाणिक बना देता है। यथा विषों में तालपुट एवं व्याधियों में क्षेत्रक (विक्षिप्त या उन्माद) व्याधि असाध्य है; वैसे ही असत्य भयंकर तथा असाध्य होता है। मृषावादी (असत्यवादी) जहाँ जाता है या उत्पन्न होता है, अप्रिय होता है तथा परभव में वह दुर्गन्धित शरीर वाला, दुर्गन्धित मुख वाला, अनादेय, अनिष्ट वचन वाला, कठोर कर्कश वचन वाला, जड़, बधिर, गूंगा, तोतला होता है तथा इस लोक में जिह्वा छेद, वध बंधन, अपयश और धननाश आदि से दुःख पाता है।

सत्य का स्वरूप

सत्य क्या होता है, कैसा सत्य बोलना चाहिए और कैसा नहीं बोलना चाहिए, इसके विवेक के अभाव में सत्याचरण का विधिवत् पालन नहीं हो सकता। सत्य का तथ्य बताते हुए कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

विष्णु पुराण में ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए कहा है कि वह उसी प्रकार का सत्य बोले, जिससे दूसरों को सुख मिले। यदि किसी सत्य वाक्य

से दूसरों का अहित होता हो तो मौन रहना ही उचित है। यदि प्रिय वाक्य भी सत्य तथा हितकारी न हो तो उसे भी न कहे। केवल हित करने वाले वाक्य ही कहना चाहिए, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो।

अर्थात् सत्य अप्रिय, अहितकारी न हो अथवा केवल प्रिय ही न हो, उसके साथ हित का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए। सत्य के लिए हरिश्चन्द्रादि ने अपने सारे सुखों को बलिदान कर दिया। अपने सुखों को या स्वार्थ को महत्त्व न देकर सत्य को महत्त्व देना चाहिए—इस सन्दर्भ में विष्णुपुराण में ही वर्णित एक घटना "देव-दैत्य युद्ध" उद्धरणीय है—

युद्धपूर्व देव तथा दैत्य ने ब्रह्मा से अपना भविष्य पूछा तो उन्हें बताया गया "जिस पक्ष में राजा रजि शस्त्र धारण करके लड़ेगा, वह जीतेगा।" दैत्य रजि के पास गये। रजि ने शर्त रखी "विजयी होने पर मैं दैत्यों का इन्द्र बन सकूँ तो मैं तुम्हारी ओर से युद्ध करने के लिए तैयार हूँ।" इस पर दैत्यों ने स्पष्ट रूप से कहा "हम जो कह देते हैं, उससे विपरीत आचरण कभी नहीं करते। हमारे इन्द्र प्रह्लाद हैं, उन्हीं के लिए हम युद्ध में तत्पर हुए हैं।" दैत्य हार गये, परन्तु उन्होंने कपट (असत्याचरण) का आलम्बन नहीं लिया। इस आख्यान से ज्ञात होता है कि सत्य के लिए कितना साहस तथा स्पष्टवादिता आवश्यक है।[३६]

सत्य पालन में वाणी-विवेक आवश्यक है। सत्य तथा मधुर वचन बोलने वाला ही वेदपाठ का सच्चा अधिकारी और ज्ञाता होता है। शीतल मलय (चन्दन), चन्द्रिका, छाया, जल से भी नहीं प्राप्त होने वाला आनन्द मधुर स्नेहपूर्ण वाणी से प्राप्त होता है। अतः कटुक वचन, किसी के अन्तर (मन) को दुःखी करने वाले, *अवमानित करने वाले वचन नहीं बोलने चाहिएँ। ऐसा सत्य एवं मधुर बोलने वाला* ही कल्याण को प्राप्त करता है।[३७]

जैन धर्म में सत्य का स्वरूप व्याख्यात है। सत्य बोलने में हित तथा प्रियत्व का ध्यान रखने के लिए पुराणों के समान ही बताया गया है। ऐसा ही सत्य वचन बोलने योग्य हैं जो हित, मित (प्रिय) एवं ग्राह्य हो, असत्य केवल झूठ को ही नहीं कहा है। असत्य की व्यापक परिभाषा करते हुए—स्वप्रशंसा तथा परनिन्दा को भी असत्य के ही समकक्ष माना है। कहना कुछ, और करना कुछ (कपट) भी असत्य है। सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य (हिंसा रहित वचन) को ही श्रेष्ठ माना है तथा मन में कपट रखकर झूठ बोलना, वाचालता, पैशुन्य (चुगली), परनिन्दा, मायामृषा आदि सभी असत्य ही हैं। दशवैकालिक में भाषाशुद्धि विषयक एक पूरा अध्याय है जिसका तात्पर्य व्याकरण की शुद्धि से नहीं बल्कि भाव शुद्धि से है अर्थात् उन शब्दों या वाक्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिनके सुनने से सुनने वालों को कष्ट हो।

सत्य होने पर भी जो बात अन्य प्राणियों को दुःख देने वाली हो, उसे भी कभी नहीं बोलना चाहिए।[३८]

यहाँ भी पुराणों के समान अहितकारी, पीड़ादायक सत्य बोलने की अपेक्षा मौन को उत्तम माना गया है। जैनागमों में मेतार्य मुनि आदि की घटनायें हैं। जिसमें उन्होंने देखा कि मेरे सत्य बोलने से किसी को कष्ट होगा तो वे मौन रह गए, भले ही उन्हें भयंकर कष्ट के साथ मृत्यु भी आ गई, परन्तु उन्होंने अपने सत्य धर्म को नहीं छोड़ा और न असत्य ही बोले।

सत्य बोलना कितना दुर्लभ है, इसका उल्लेख हरिवंश पुराण में इस प्रकार से है कि संसार में देश-कालानुरूप हितकर और मधुर वचन बोलने वाले मनुष्य दुर्लभ हैं। सत्य बोलने वाले अपने स्नेही जनों को हमेशा हित की बात बतायें, चाहे वह सुनने में अप्रिय ही क्यों न हो। किन्तु जो लोग असत्य भाषी, धर्म मर्यादा को भंग करने वाले, सुनने की इच्छा न रखने वाले और सबके अप्रिय हों, उनसे न तो प्रिय बात कहनी चाहिए और न हित की ही—ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है।[३९]

समुच्चय रूप से वर्जित वचन जैनागम स्थानांगसूत्र में अग्रलिखित बताये हैं—असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, उपशान्त मनुष्यों को फिर से भड़काने वाले कलह वचन—इन छः प्रकार के वचनों को नहीं बोलना चाहिए।

संक्षेप में कहें तो वाचिक अहिंसा का पालन ही सत्य है। "सत्य की साधना करने वाला साधक सब ओर से दुःखों से घिरा रहकर भी घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता है। वह मार-मृत्यु का प्रवाह तैर जाता है, अतः सत्य में धृति करे, स्थिर हो।"[४०]

वस्तुतः यह कथन तथ्यतः सत्य ही है—"सत्यमेव जयते नानृतम्।"

अचौर्य (अस्तेय)

किसी के द्वारा बिना दी हुई कोई वस्तु वह चाहे बड़ी हो या छोटी, अपने अधिकारों में कर लेना स्तेय (चौर्य) है। इसके विपरीत अस्तेय का स्वरूप है, जो सद्‌गुणों का कारण तथा परद्रव्य-हरण से निवृत्ति कराने वाला है। पतंजलि के अनुसार "अस्तेय व्रत का साधक दिव्य दृष्टि वाला बन जाता है। पृथ्वी में स्थित गुप्त रत्न-भण्डार भी उसे दीखने लगते हैं।" आध्यात्मिक लाभ के अतिरिक्त लोक में वह प्रामाणिक तथा विश्वासपात्र समझा जाता है। सभ्य एवं विश्वस्त होने से वह सभी जगह सम्माननीय होता है।

पुराणों के अनुसार आपत्ति के समय में भी विचारपूर्वक पराया धन ग्रहण नहीं करना चाहिए और वह भी मन, वचन तथा कर्म के द्वारा नहीं लेना अचौर्य कहा जाता है।[४१] अनेक स्थलों पर "परद्रव्येषु लोष्ठवत्" कहकर दूसरों की वस्तुओं की आकांक्षा नहीं रखने का सन्देश दिया गया है।

जैनधर्म में भी चौर्य के परिहार हेतु स्थूल एवं सूक्ष्म समस्त वस्तुओं को वस्तु के अधिकारी की इच्छा-अनुमति के बिना लेने का स्पष्ट शब्दों में निषेध है। श्रमण के सन्दर्भ में अस्तेय महाव्रत का सूक्ष्म विवेचन किया है कि ग्राम, नगर अथवा अरण्य में (कहीं भी) दूसरे की वस्तु देखकर उसे ग्रहण करने का भाव (विचार) त्याग देने वाले साधु के तीसरा अचौर्यव्रत होता है। सचेतन या अचेतन, अल्प या बहुत, यहाँ तक कि दांत साफ करने की सींक भी साधु बिना दिये ग्रहण नहीं करते।[४२] आचार्य हेमचन्द्र ने भी किसी भी प्रकार की अदत्त वस्तु ग्रहणं करने का निषेध किया, चाहे वह गिरी हुई हो, भूली हुई हो, खोई हुई हो या रखी हुई हो।

न केवल अचौर्य कर्म का परिहार ही पुराण तथा जैन धर्म में किया गया, बल्कि निंदा भी की है। वामन पुराण में लिखा है कि भिक्षा करके जीवनयापन करना कहीं अधिक अच्छा है, परन्तु पराये धन का हरण करके सुखोपभोग करना अच्छा नहीं होता है। जैन धर्म में चौर्य कर्म की निन्दनीयता इस प्रकार से है—परधन अपहर्ता अपने इस लोक, परलोक, धैर्य, स्वास्थ्य, हिताहित विवेक को हरण करता है तथा निन्दा को प्राप्त करता है। परलोक में दुःखभोगी, धर्म, धीरज एवं सन्मति का नाश कर देता है। चोरी पापरूप पादप के फल दो भागों में विभक्त होकर मिलते हैं। इस लोक में वध, बंधनादि तथा परलोक में नरक की भीषण वेदना का संवेदन। परन्तु जो अचौर्य का पालन करता है, उनके सामने स्वयं लक्ष्मी स्वयंवरा की भाँति चली आती है, अनर्थ दूर हो जाते हैं, लोक में उसकी प्रशंसा होती है तथा स्वर्ग सुख प्राप्त करता है।

इस प्रकार पुराण[४५] तथा जैन धर्म[४६] में चोरी के निषेध के साथ-साथ चोर के नरक गमन एवं चोर के संग को भी त्याज्य बताया है। वस्तुतः अदत्तादान (चोरी) भी एक प्रकार से हिंसा ही है। किसी को मारने पर तो उसे अकेले को, कुछ क्षण का ही दुःख होता है, किन्तु किसी का धन हरण करने पर उसे तथा उसके पुत्र-पौत्रों को जीवन भर के लिए दुःख होता है।[४७] इसीलिए आत्मा को कलुषित करने वाले इस चौर्य का निषेध करते हुए सभी धर्मों में अस्तेय का विधान किया गया है।

ब्रह्मचर्य

पुराण तथा जैन धर्म में इसका अर्थ, स्वरूप, माहात्म्यादि विस्तृत रूप से वर्णित है, इन्हीं का आगे विश्लेषण किया जा रहा है।

अर्थ एवं स्वरूप

भारतीय धर्मशास्त्रों में मन, वचन एवं कर्म से, सभी अवस्थाओं में, सर्वकाल में "मैथुन" का परित्याग करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। शिव पुराण में महेश्वर द्वारा देवगणों से कथित वक्तव्य के अनुसार जहाँ तक भी बन सके, मनुष्यों को विवाह के बंधन से बचना चाहिए।[४८] लिंग पुराणानुसार मन, वाणी और कर्म के द्वारा ब्रह्मचारी और यतियों की मैथुन-अप्रवृत्ति को ब्रह्मचर्य कहते हैं।[४९] तात्विक रूप से इसका अर्थ इस प्रकार है—"चित्तवृत्तियों के ब्रह्म में लीन रहने को ही सूक्ष्म ब्रह्मचर्य कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्म ही समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म से ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है।" यहाँ मैथुन ८ प्रकार का बताया है—स्त्री का स्मरण, कीर्तन, प्रेक्षण, केलि, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय एवं क्रिया—उक्त ८ प्रकार के मैथुन का सर्वथा त्याग ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है।[५०] यही विवेचन जैन धर्म में भी है। ब्रह्मचर्य का सूक्ष्म अर्थ है—ब्रह्म = आत्मा, आत्मा में चर्या—रमण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी की परदेह में प्रवृत्ति और तृप्ति नहीं होती है।[५१] पूर्ववत् जैनागमों में भी नवबाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन विहित है—स्त्री युक्त स्थान में रहना, स्त्रीकथा, परिचय, अंगोपांग देखना, शब्द-गीतादि सुनना, भुक्तभोग स्मरण, कामवर्धक भोजनपान, अधिक भोजन पान एवं शरीर-शृंगार—ये सब ब्रह्मचारी के लिए वर्ज्य हैं।[५२]

ब्रह्मचर्य के पालन में तरतमता (पूर्णता-अपूर्णता) भी व्यक्त की गई है। ब्रह्मचारियों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—

१. ऊर्ध्वरेता, २. योगी, ३. ब्रह्मचारी

ऊर्ध्वरेता उन ब्रह्मचारियों को कहा जाता है जिनके वीर्य में कम्पन या विकार कभी होता ही नहीं। इस प्रथम श्रेणी में सनकादि ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी आते हैं। द्वितीय श्रेणी के ब्रह्मचारी योगी कहे जाते हैं। जिनके विकार तो अवश्य उठते हैं किन्तु वे अपने कठोर संयम, प्रज्ञा और योग साधनादि के द्वारा उन विकारों को ब्रह्म में लीन कर देते हैं। नारद और भीष्मादि द्वितीय श्रेणी के ब्रह्मचारी माने जाते हैं। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे सभी साधक आते हैं जो कि कामशक्ति का मार्गान्तरीकरण करके उसे व्रत-तप में लगाते हैं। वे स्त्री संसर्ग एवं सन्तानोपत्ति भी करते हैं।[५३]

पात्र (साधक) की अपेक्षा इनके पालन में तरतमता जैन धर्म में भी बतलाई गई है, जिन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. खण्डतः २. सर्वतः।

खण्डतः से तात्पर्य है—परस्त्री या परपुरुष का त्याग एवं स्वस्त्री या स्वपुरुष के साथ मर्यादायुक्त् व्यवहार।

सर्वतः से तात्पर्य है—मन, वचन और कर्म द्वारा सर्वदा एवं सर्वत्र ब्रह्मचर्य का पालन करना अर्थात् मैथुन से पूर्ण विरक्ति। केवल द्रव्य ही नहीं, भाव रूप ब्रह्मचर्य भी आवश्यक है। अज्ञानी साधकों का चित्तशुद्धि के अभाव में किया जाने वाला केवल जननेन्द्रिय निग्रह-रूप द्रव्यब्रह्मचर्य है क्योंकि वह मोक्ष के अधिकार से शून्य है। इस ब्रह्मचर्य को अल्प शक्ति वाले, सदाचार रहित, दीन, इन्द्रियों द्वारा जीते गये लोग स्वप्न में भी पालन नहीं कर सकते।

जो शुद्ध भाव से इसका पालन करता है, वस्तुतः वही भिक्षु है।[५४]

मैथुन शब्द का वास्तविक अर्थ विस्तीर्ण है—वासना को उत्तेजित करने वाली कोई भी कामराग-जनित चेष्टा मैथुन ही कहलाती है। जैन तथा पुराण साहित्य विषयों को विषम विष मानकर आत्महितेच्छुओं को उनसे बचने की प्रेरणा देता है। विष तो खाने पर मारता है किन्तु विषय तो स्मरण मात्र से ही घात कर देते हैं। इनकी यथार्थता दर्शाते हुए लिंगपुराण का कथन है कि विषयों के भोग करने से उसका रसास्वादन करते हुए मन ऊब जायेगा ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि विषयों के साथ इन्द्रियों का संस्पर्श करते रहने से विरक्ति कभी नहीं हुआ करती है। विषयों से तृप्ति नहीं होती, अतः विचार से भी विषयों का त्याग करना चाहिए। काम की वासना कामों के उपभोग करते रहने से कभी शान्त नहीं होती प्रत्युत उपभोग करने से वह और अधिक बढ़ती है; जैसे अग्नि में हवि के डालते रहने से विशेष प्रज्ज्वलित हो जाया करती है। इसलिए योगियों को अमृतत्त्व की प्राप्ति के लिए विषयोपभोग का त्याग सर्वदा ही कर देना चाहिए। जो मनुष्य विरक्त न होकर विषयों में ही सदा लिप्त रहता है, वह नाना योनियों में जन्म लेकर आवागमन की असह्य पीड़ा को सहा करता है। शिव पुराण का मत है कि यदि इन महाबन्धनकारी विषयों की बाढ़ निरन्तर बढ़ती चली जाये तो स्वप्न में भी मोक्ष की आशा रखना दुर्लभ है। यदि मतिमान् मनुष्य सच्चा सुख चाहता है तो उसे सविधि विषयों का त्याग कर देना चाहिए। ये विषय विष के तुल्य मारक होते हैं। विषयी पुरुष के साथ वार्तालाप करने मात्र से मनुष्य का एक क्षण में पतन हो जाता है। महामनीषी आचार्यों ने विषयों को मिश्री से मिश्रित साक्षात् सुरा बतलाया है।[५५]

विषयासक्ति के दुष्परिणाम जैनागमों में भी बताये गये हैं। विषयासक्त इस लोक में भी नष्ट हो जाते हैं और परलोक में भी अच्छे से अच्छे सुखोपभोग करने वाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त में कामभोगों से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त

करते हैं। कामभोगों को किम्पाक फल के समान दुःखदायी माना है। ये प्रारम्भ में रमणीय प्रतीत होने पर भी परिणाम में अत्यन्त भयानक है; जैसे किम्पाक फल सुन्दर दिखलाई देता है किन्तु उसे खाने से मृत्यु हो जाती है। पुराणवत् ही यहाँ भी कहा गया है कि जो पुरुष विषय-वासना का सेवन करके कामज्वर का प्रतीकार करना चाहता है, वह घी की आहुति के द्वारा आग को बुझाने की इच्छा करता है। उत्तराध्ययन में काम का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त है—कामभोग शल्य रूप है, विष रूप है और आशीविष सर्प के समान है। कामभोग के अभिलाषी, कामभोगों का सेवन नहीं करते हुए भी दुर्गति में जाते हैं।[५६]

आसक्ति (मोह) के बंधनों की दृढ़ता तभी कम होती है जब प्रेम के साथ विवेक बुद्धि का सामन्जस्य स्थापित हो तथा प्रेम रूपी अमृत प्राणीमात्र पर छिड़का जाए परन्तु जैसे संकीर्ण घेरे में रहने वाला पानी सड़ जाता है, वैसे ही तुच्छ स्वार्थों को प्रेम का रूप देने से उसका स्वरूप विकृत हो जाता है, जो कि निश्चय ही एक प्रकार के बंधन एवं दुःख को प्रदान करता है। इस बंधन में बड़े-बड़े त्यागी भी भ्रमित हो गए। इनसे बचना कितना दुष्कर है यह इस कथन में दृष्टव्य है—विषय रूपी वृक्षों से प्रज्ज्वलित कामाग्नि तीनों लोकरूपी अटवी को जला देती है। यौवन रूपी तृण पर संचरण करने में कुशल कामाग्नि जिस महात्मा को नहीं जलाती, वह धन्य है। स्त्रियों के सर्वांगों को देखता हुआ भी जो इनमें दुर्भाव नहीं करता, विकार को भी प्राप्त नहीं होता, वही वास्तव में दुर्द्धर ब्रह्मचर्य भाव को धारण करता है।[५७]

इसी प्रकार पुराण भी इस व्रत को दुष्कर बताते हैं। उनके अनुसार—कामदेव के पुष्प बाणों द्वारा पूरी सृष्टि ही मोहित है। देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, महोरग, असुर, दैत्य, विद्याधर, राक्षस, यक्ष, पिशाच, भूत, विनायक, गुह्यक, मनुष्य, पक्षी, पशु, मृग, कीट, पतंग, जलज ही नहीं, यहाँ तक कि वासुदेव, स्थाणु, पुरुषोत्तम सभी इसके वश में हो जाते हैं। विष्णु पुराण में महर्षि सौभरी जो अन्यन्त तपस्वी थे, कालान्तर में उन्हें भी इस मोह जंजाल में आसक्त एवं दुःखी होते हुए दिखलाया गया है।[५८]

विषयों में अनासक्ति के उपदेश के अन्तर्गत स्त्री को एक पाशतुल्य बताया है। स्त्री के अनेक दोषों को बताते हुए उससे मुक्त रहने का तथा इसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष से मुक्त (निवृत्त) रहने का उपदेश दिया है। कामासक्ति के आकर्षण-भूत हेतु स्त्री संसर्ग के अनेक दोष देवीभागवत ने इस प्रकार से बताये हैं—स्त्री तो पुरुष को बंधन में डालने वाली शृंखला है। लोहे की जंजीरों से कसा हुआ व्यक्ति कभी मुक्त हो सकता है, किन्तु स्त्री के बंधन में पड़ा हुआ पुरुष कभी भी मुक्त नहीं होता। यही आशय शिव पुराण का भी है। कालिका पुराण में नारी को अनुराग का, काम-क्रोधादि का एवं रागवृक्ष का मूल कहा है। अतः अनासक्ति हेतु प्रेरित करते हुए कहा है—बहिर्भूमि में मल और मूत्र के त्याग करते समय जैसी मति होती है,

वैसी ही भावना अपनी स्त्री के साथ रति में रखनी चाहिए, अन्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। नारी सर्वदा जलते हुए अंगारे के समान होती है और पुरुष घृत से पूर्ण कुम्भ के तुल्य होता है। अतः नारियों का संसर्ग सर्वदा दूर से ही परिवर्जित कर देना चाहिए।[५९]

इसी प्रकार योगशास्त्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी कुछ स्त्री दोष बताये हैं—जिन स्त्रियों में छल-कपट, कठोरता, चंचलता, स्वभाव की दुष्टता आदि दुर्गुण स्वाभाविक हैं, उनमें कौन बुद्धिमान् रमण करेगा? जिसका किनारा नहीं दिखाई देता, उस समुद्र का तो किनारा पाया जा सकता है, किन्तु स्वभाव से कुटिल स्त्रियों की दुष्ट चेष्टाओं का पार पाना कठिन है। यौवन में उन्मत्त दुराचारिणी स्त्रियाँ बिना स्वार्थ अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए अपने पति, पुत्र, पिता, भ्राता के प्राण ले लेती हैं या संकट में डाल देती हैं। केवल दुराचारिणी स्त्रियों के अवगुण गान ही नहीं किये गये, सदाचारिणी स्त्रियों की प्रशंसा भी पर्याप्त की गई है।[६०]

परस्त्री गमन का निषेध करते हुए पुराणों में कई स्थलों पर "मातृवत् परदारेषु" कहते हुए परस्त्री गमन का स्पष्ट निषेध है।

वामन पुराण का तो यहाँ तक कथन है कि संसार में नपुंसक होकर जीवन बिताना उत्तम है किन्तु पराई स्त्रियों के साथ गमन करना अच्छा नहीं है।[६१] इससे होने वाली हानियों से भी अवगत कराया गया है। जैन धर्म में परस्त्री त्याज्य बताते हुए कहा है कि श्रावक (गृहस्थ) को स्वस्त्री का सेवन भी आसक्तिपूर्वक नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में समस्त पापों की खान परस्त्रियों का सेवन कैसे योग्य हो सकता है? इसी प्रकार स्त्रियों के लिए परपुरुष त्याज्य कहा है—ऐश्वर्य से कुबेर के समान, रूप से कामदेव के समान सुन्दर होने पर भी स्त्री को परपुरुष का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए जैसे सीता ने रावण का त्याग किया। उससे होने वाली हानियाँ भी बताईं। परस्त्री गमन से इस भव में वध, बंधन, ऊंचाई पर लटकाना, नासिका-छेद, इन्द्रियछेद और धर्मक्षय इत्यादि अनेक यातनाएं होती हैं तथा परलोक में शाल्मली वृक्ष, तीक्ष्ण कंटक आलिंगन आदि दुःख नरक में भोगते हैं।[६२]

इस प्रकार नैष्ठिक (अध्ययन के पश्चात् गार्हस्थ्य में जाने वाला) एवं उपकुर्वाणक (मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने वाला) दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा गृहस्थ आदि सभी के लिए ब्रह्मचर्य मूलगुण के रूप हैं।[६३]

ब्रह्मचर्य माहात्म्य

जीवन रूपी भवन की नींव होने के कारण ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्व है। शक्ति-संचय, ज्ञान-संचय, स्वास्थ्य-निर्माण, विद्योपार्जन जैसे प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति इस ब्रह्मचर्याश्रम में ही होती है। ब्रह्मचर्य में ही धैर्य, तप प्रतिष्ठित हैं। इस संसार

में ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। अतः इन्द्रियों के समूह को तथा शब्द आदि सूक्ष्मभूतरूप उसके विषय-समूह को वश में करके ब्रह्मचर्य का पालन करें।[६४]

जैन धर्म में भी ब्रह्मचर्य माहात्म्य अनेकप्रकारेण वर्णित है। ब्रह्मचर्य को तपों में सर्वोत्तम माना है। एक ब्रह्मचर्य के नष्ट हो जाने पर सहसा अन्य सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब शील, तप, विनय आदि आराधित हो जाते हैं। देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते हैं, क्योंकि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है। आज्ञा (आदेश) प्रवर्त्तक (अधिपत्यता), ऋद्धि, राज्य, कामभोग, कीर्ति, बल, स्वर्ग और आसन्नसिद्धि ये सभी लाभ ब्रह्मचर्य पालन से प्राप्त होते हैं। लोगों को लड़ाकर, क्लेश उत्पन्न करने वाला, मरवाने वाला, और सावद्य योग में तत्पर ऐसे नारद की भी मुक्ति होती है। यह निश्चय ही विशुद्ध शील का ही माहात्म्य है।[६५]

इस सन्दर्भ में पतिव्रत-माहात्म्य उल्लिखित करना भी प्रासंगिक होगा। शिव पुराण में इसका विवेचन करते हुए बताया है कि पतिव्रत धर्म का अनिर्वचनीय महत्त्व है। पतिव्रता नारी के चरण पृथ्वी पर जहाँ पड़ते हैं, वहीं वह पापों का हरण कर पवित्र करती है। सर्वत्र व्यापक सूर्य, चन्द्र, और पवन देव भी अपने आपको पवित्र बनाने के लिए पतिव्रता स्त्री के शरीर का स्पर्श करने के इच्छुक होते हैं। सबकी शुद्धि करने वाला जल भी सर्वदा पतिव्रता का स्पर्श करना चाहता है, जिससे वह अपनी जड़ता का नाश करे। सही अर्थ में उसी व्यक्ति को गृहस्थाश्रमी मानना चाहिए जिसके घर में पतिव्रता पत्नी है; वैसे तो स्त्रियाँ सबके ही होती हैं जो अहर्निश जरा राक्षसी के तुल्य ग्रास करती हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार समस्त देवताओं एवं मुनियों का तेज सती स्त्रियों में विद्यमान रहता है। वराह पुराण में यमराज का कथन है कि पतिव्रता स्त्री देवताओं के लिए भी पूजनीय है।[६६]

संक्षिप्ततः जैनशास्त्रों एवं पुराणों में ब्रह्मचर्य की महिमा-गान करते हुए अब्रह्मचर्य की निन्दा इसीलिए की गई है कि यह संसार वृद्धि के मूल कारण आसक्ति को बढ़ाता है। जैन दर्शन में इसका एक अन्य भी हेतु है अहिंसा पालन का। बिना हिंसा के अब्रह्म (मैथुन) होता ही नहीं है। उसमें कई प्रकार से हिंसा घटित होती है।[६७] अतएव उससे बचने के लिए भी ब्रह्मचर्य का पालन विहित है।

अपरिग्रह

"परि समन्तात् मोहबुद्ध्या गृह्यते यः स परिग्रहः" अर्थात् मोह (ममत्व) बुद्धि के द्वारा जो (पदार्थादि) चारों ओर से ग्रहण किया जाये, वह परिग्रह है। भगवान् महावीर द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में प्रतिपादित अपरिग्रह का सिद्धान्त एक सर्वव्यापक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सत्य है।[६८] इसको पुराणों में भी अन्तिम

यम के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। परिग्रह का मूल कारण ममत्व आसक्ति या तृष्णा है।

यह उक्ति प्रसिद्ध है "न तृष्णायाः परो व्याधि न संतोषात्परं सुखम्" अर्थात् तृष्णा से बड़ी कोई व्याधि नहीं एवं संतोष से बड़ा कोई सुख नहीं। तृष्णा द्रौपदी के चीर के समान है, जो छोड़ने के बाद ही समाप्त होती है। यह बिना पाल के तालाब जैसी है जिसमें कितना भी पानी आ जाये, वो भरता नहीं है। परिग्रह के इस मूल कारण को समाप्त करने का निर्देश पुराण तथा जैन धर्म में दिया गया है। अपरिग्रह का स्वरूप आदि का विवेचन किया जा रहा है।

अपरिग्रह स्वरूप

हरिवंश पुराण में ७ चक्रवाक पक्षियों के नाम निर्दिष्ट किये हैं, जिनके मनन करने पर ब्रह्मचारी के सात गुणों का बोध होता है। उनमें से पंचम है "निष्परिग्रह"। यहाँ गीता के "त्यक्त सर्वपरिग्रह" की चरितार्थता दृष्टिगोचर होती है। जिसने समस्त भौतिक संग्रहों (संचयों) का त्याग कर दिया हो, वह निष्परिग्रही या अपरिग्रही कहा जाता है। ब्रह्मचारी को सांसारिक वस्तुओं जैसे धन, वस्त्र आदि का संग्रह अभीष्ट नहीं होता। अतः इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु पक्षी (ब्रह्मचारी) का नाम "निष्परिग्रह" रखा गया है।[६९]

इसी प्रकार जैनसूत्र प्रश्नव्याकरण में भी अपरिग्रह की भावना से संवृत होकर रहने का निर्देश है। जैनागमों में सन्त को निष्परिग्रह होने से "भारण्ड" पक्षी की उपमा देते हुए अप्रमत्त विचरणशील कहा है[७०]—

तात्विक रूप से परिग्रह और अपरिग्रह क्या है, यह स्पष्ट किया गया है—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"[७१] अर्थात् आसक्ति (मूर्च्छा-गृद्धता) को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है। इसी का समर्थन तत्त्वार्थसूत्र, प्रशमरति प्रकरण, त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित, समयसार, विशेषावश्यक भाष्य इत्यादि अनेक ग्रन्थों में किया गया है। इसका यही तात्पर्य है कि निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा भाव है तो परिग्रह है, मूर्च्छा भाव नहीं है तो परिग्रह नहीं है। इस प्रकार—ममत्व भाव (आसक्ति) को पदार्थ पर से हटा लेना अपरिग्रह व्रत है। अपरिग्रही के लिए कहा गया है—जिसको मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है, जिसको तृष्णा नहीं होती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। जिसको लोभ नहीं होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है। परिग्रह का मूल मोह है, आसक्ति ही है। बाह्य परिग्रह कभी भी बाधक नहीं होते। यदि मोह क्षीण हो जाता है तो व्यक्ति के लिए परिग्रह कोई महत्व नहीं रखता। इसी मूल पर ध्यान देने हेतु प्रेरित किया है—जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही

सींचिए, वह हरा-भरा नहीं होता। मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर हरे-भरे नहीं होते।[७२] मूल को सींचने पर ही फल लगते हैं, मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार पुराण भी परिग्रह की मूल भावना आसक्ति को (तृष्णा को) त्याज्य बतलाते हैं। उनके अनुसार जल की आशा वाली मृगतृष्णा के समान ही दुःख को (आसक्तिवश) लोग सुख मानते हैं और उससे सन्ताप ही प्राप्त होता है। उसी आसक्ति के कारण राज्य पृथ्वी, सेना, कोष, मित्र, पुत्र, स्त्री, भृत्य, शब्दादि विषयों को अविनाशी और सुख मानकर ग्रहण करते हैं, परन्तु वे ही बाद में दुःख रूप सिद्ध होते हैं।

तृष्णा की कभी भी तृप्ति नहीं होती है—अग्नि में ईंधन के समान ही विषयोपभोग से तृष्णा कभी शांत नहीं होती। भूमण्डल पर जितने भी धान्य, स्वर्ण, पशु, स्त्रियाँ आदि हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी तृप्तिकारक नहीं हैं। कामनाओं के त्याग से ही मानव श्रीमान् (समृद्ध) होता है। केश, दंत, चक्षु, कर्ण सभी के जीर्ण हो जाने पर भी बुढ़ापे में एक तृष्णा ही तरुण रूप से रहती है। मनुष्य का स्वभाव ऐसा होता है कि जिसके पास सौ रुपये होते हैं वह सहस्र की इच्छा करता है, सहस्र वाला लक्ष का अधिपति होना चाहता है, लक्षाधिपति एक विशाल राज्य प्राप्त करने की इच्छा रखता है, राजा चक्रवर्ती सम्राट बनने की लालसा रखता है, चक्रवर्ती भी सुरत्व तथा सुरत्व की प्राप्ति के बाद इन्द्रपद की चाह रखता है; तत्पश्चात् भी तृष्णा शान्त नहीं होती।[७३]

जैनागमों में भी कामनाएँ-इच्छाएँ अनन्त बताई हैं। यदि मेरु और कैलाश पर्वत जितने सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी हो जायें तो मनुष्य को संतोष नहीं होता, क्योंकि इच्छाएं तो आकाश के समान अनन्त और असीम हैं। धन-धान्यादि से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक मनुष्य को दे दी जाये तो भी उसकी इच्छा पूर्ण होना कठिन है।[७४] तृष्णा के लिए यह कथन उचित ही है कि जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई

परिग्रह परिहार

जैन धर्म तथा पुराणों में बढ़ती हुई इस तृष्णा की ज्वाला को शांत करने के लिए सन्तोष रूपी जल ही बताया गया है। व्यक्ति परिग्रह को मात्र अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही जुटाता है। मन के पीछे ही इन्द्रियाँ शरीर आदि हैं। पुराणों में उपमापूर्वक इनका विनियोजन किया गया है—इसमें पाँच इन्द्रियाँ पाँच अश्व के समान हैं, शरीर रथ के समान, आत्मा रथी (यात्री), ज्ञानकशा एवं मन सारथी के समान

हैं। घोड़ों को (इन्द्रियों रूपी) सुष्ठुप्रकारेण दमन करके, मनरूपी सारथी को आत्मवश करके, ज्ञान रूपी कशा को दृढ़ करके, शरीर को स्थिर करके ही अपनी मुक्ति रूपी मंजिल प्राप्त हो सकती है।[७५] अन्यथा संसार रूपी अटवी में ही भटकना पड़ता है।

जैन धर्म में भी निष्परिग्रही बनने हेतु प्रेरित किया है। अधिक मिलने पर भी संग्रह न करें, परिग्रह वृत्ति से अपने को दूर रखें। परिग्रह ही नहीं, परिग्रह की भावना भी परिहार योग्य है। इसलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह साधु नहीं किन्तु (साधुवेश में) गृहस्थ ही है।[७६] बाहर से जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु तृष्णा रूपी अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता। अतः यह निःसंदेह परिहार योग्य ही है। व्यक्ति को इच्छा एवं लोभ का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिए।

परिग्रह तथा अपरिग्रह के परिणाम

जैसा कि महाभारत में आख्यात है कि लोक में जो कामसुख है और स्वर्ग में जो देव सम्बन्धी महान् सुख है, वे तृष्णा के क्षय और संतोष द्वारा प्राप्त सुख के सोलहवें भाग में भी नहीं आते। पंचतंत्र द्वारा भी निर्दिष्ट है कि संतोष रूपी अमृत से तृप्त मनुष्यों को जो सुख और शांति मिलती है, वह धन के लोभी अतृप्त पुरुषों को नहीं मिल सकती। पुराण तथा जैन धर्म में परिग्रहलुब्ध द्वारा दुःख प्राप्ति एवं अपरिग्रही को सुख प्राप्ति का उल्लेख है। परिग्रह लुब्ध को सुख प्राप्ति असंभव बताते हुए पुराणों के अनुसार यह लोभ ही महान् है, लोभ से ही पाप प्रवृत्त होता है, क्रोध उत्पन्न होता है, काम, मोह, माया, मान, ईर्ष्या, अविद्या, अप्राज्ञता, प्रवर्तित होते हैं। परधन-हरण, परस्त्री-अभिमर्दन आदि सभी प्रकार के दुस्साहसों की तथा अकार्यों की क्रियाएं भी लोभ के कारण ही होती हैं। अतः व्यक्ति को यह लोभ मोहसहित जीत लेना चाहिए। लोभ परित्याग द्वारा ही स्वर्ग प्राप्ति होती है। लोभ परित्याग करने वाला संसार-सागर तैर जाता है। तृष्णा विषय-वासनाधीन की भयंकर दुर्गति का चित्रण इस प्रकार है—हरिण मातंग (हाथी), पतंग, भृंग (भ्रमर) तथा मीन ये पाँचों ही पाँचों से उपहत होते हैं अर्थात् हरिण श्रवणेन्द्रिय के अधीन होकर वाद्य श्रवण से, मातंग (हाथी) मदोन्मत्तता से, पतंग दीपक की लौ के प्रेम से, भ्रमर पुष्प रसास्वादन से, मीन गन्धाकर्षण से मृत्यु का ग्रास बनती है। एक-एक इन्द्रिय का आकर्षण भी मृत्यु के मुँह में डाल देता है तो जो मानव अपनी सभी इन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह क्यों नहीं घात योग्य होगा अर्थात् अवश्य ही होगा।[७७]

परिग्रह के कुफल जैन धर्म में भी इस प्रकार से दर्शाये हैं। जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में फंसे हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं। एक वृक्ष से परिग्रह को उपमित किया है—परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने लोभ, क्लेश और

कषाय हैं, चिन्ता रूपी सैकड़ों सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।[७८] वास्तव में परिग्रह के समान कोई बंधन नहीं है। यह परिग्रह (अज्ञानियों के लिए तो क्या) बुद्धिमानों के लिए भी मगर की तरह क्लेश एवं विनाश का कारण है। नदी के वेग की तरह बढ़ा हुआ परिग्रह क्या क्लेश नहीं करता? अर्थात् सभी अनर्थों का मूल-अनर्थ है। परिग्रह का लोभी प्रसंग आने पर असत्य का भी आश्रय ले लेता है। ममत्व बुद्धि के कारण व्यक्ति धनादि संचित करता है, यथावसर वह धन तो दूसरों के हाथ में चला जाता है और संग्रही को अपने पापकर्मों के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं।

निष्कर्षतः वास्तविक सुख तो तृष्णा मुक्ति से ही संभव है। इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों में व्याकुलता का परिहार करके निस्पृहता या निर्ममत्व को धारण करने वाला व्यक्ति ही वास्तव में अपरिग्रही है। अपरिग्रह का विधान पुराण तथा जैन धर्म दोनों में भी किया गया है। परिग्रह के मूल में हिंसा विद्यमान होती है, क्योंकि परिग्रह (धनादि का संग्रह) बिना हिंसा के नहीं होता।[७९] अतः व्यक्ति के जीवन में बंधन स्वरूप होने से इसे त्याज्य माना गया है।

पूर्व वर्णित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—इन पाँचों को जैन धर्म में पंचमहाव्रत तथा अणुव्रत कहा जाता है। इन्हीं को पौराणिक भाषा में पाँच यम कहा जाता है। प्रत्येक मानव के लिए आचरणीय सामान्य धर्मों के अन्तर्गत इनका प्रमुख स्थान है।

सामान्य धर्म के ही रूप में मनुस्मृति में चारों आश्रमों एवं चारों वर्णों में अर्थात् सभी के लिए जन्म से लेकर मरण पर्यन्त आचरण करने योग्य धर्म के दस लक्षण कहे हैं—धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी अर्थात आत्मविषयिनी बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनकी तुलना जैनागम स्थानांग सूत्रोक्त इन दस धर्मों से की जा सकती है—क्षमा, निर्लोभता, सरलता निराभिमानता, लघुत्व, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य।[८०]

इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति, महाभारत आदि में धर्म के लक्षण कहे गये हैं। पुराणों में भी धर्म के पादरूप में धर्मतत्त्वों का उल्लेख है। हरिवंश पुराणकार के अनुसार शुश्रुषा, दान, सत्य एवं प्राण रक्षा—ये चार पाद हैं तथा श्रीमद् भागवत में तप, शौच, दया, सत्य कहे हैं। इनके अतिरिक्त नियम नामक द्वितीय योगांग के अन्तर्गत अनेक सद्गुणों का उल्लेख है।[८१] जिनमें से प्रमुख सद्गुणों का विवेचन किया जा रहा है।

क्षमा

क्षमा को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान पुराण तथा जैन धर्म में प्राप्त हुआ है। पुराणों में क्षमा को सब दोष हरण करने वाली कहा है। क्षमा साधु पुरुषों का सार

तत्त्व है। क्षमा तत्त्वज्ञान की भांति मोक्ष प्रदायिका होने से धर्म रूप है। क्षमा ही सत्य, दान, यश है। ज्ञानी पुरुषों ने क्षमा को ही स्वर्ग की सीढ़ी कहा है।[८२] क्षमा, समत्व, समता, शम—ये सभी लगभग एकार्थक शब्द हैं। मार्कण्डेय पुराण में दत्तात्रेय का कथन है—व्यक्ति को समत्व का ही ध्यान रखना चाहिए। मान या अपमान से प्रसन्न या अप्रसन्न आम लोग हो जाते हैं, किन्तु जब ये विपरीत स्थिति में होते हैं तो योगियों को सिद्धि प्राप्त होती हैं। नारद पुराण तथा लिंग पुराण का भी यही आशय है। विष्णु पुराण में समदर्शी चित्त की परिभाषा इस प्रकार से है—वह स्वादु-अस्वादु, इष्ट-अनिष्ट आदि नहीं देखता, क्योंकि कोई भी पदार्थ आदि, मध्य और अन्त में एक-सा नहीं रहता। क्षमा ही साधु पुरुषों का भूषण है।[८३]

क्षमा धर्म का सुष्ठु रूप से पालन तभी हो सकता है जब व्यक्ति लोभ, क्रोध या मान से ग्रस्त न हो। क्षमा के मूल में निस्पृहता, विरागता, निरहंकारिता, अक्रोधता होती है। राग एवं द्वेष छोड़ने पर ही इसकी साधना हो सकती है। पुराणान्तर्गत आये हुए एक कथानक में शुक्राचार्य द्वारा क्रोधाविष्ट उनकी पुत्री को समझाते हुए कहा गया है—"यह निश्चय है कि जो मनुष्य दूसरों के कठोर वचन (दूसरों द्वारा की हुई अपनी निन्दा) को सह लेता है, उसने मानों इस सम्पूर्ण जगत पर विजय प्राप्त कर ली है। जो उभरे हुए क्रोध को घोड़े के समान शान्त कर लेता है, वही सत्पुरुषों द्वारा सच्चा सारथी कहा गया है; जो केवल बागडोर लेकर या लगाम पकड़कर लटकता रहता है वह नहीं। जैसे साँप पुरानी केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभरने वाले क्रोध को वहीं क्षमा द्वारा त्याग देता है; वही श्रेष्ठ पुरुष है। जो श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करता है, कड़ी से कड़ी निन्दा सह लेता है और दूसरे के सताने पर भी दुःखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थों का सुदृढ़ पात्र है। एक व्यक्ति, जो सौ वर्षों तक प्रत्येक मास में अश्वमेध यज्ञ करता जाता है और दूसरा जो किसी पर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनों में क्रोध न करने वाला ही श्रेष्ठ है। अबोध बालक-बालिकाएं अज्ञानवश आपस में जो वैर-विरोध करते हैं, उनका अनुकरण समझदार मनुष्यों को नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे नादान बालक दूसरों के बलाबल को नहीं जानते। इससे आगे इन्द्र को दिया गया ययाति का यह उपदेश भी इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है—क्रोध करने वाले से अक्रोधी श्रेष्ठ है। मनुष्येतर प्राणियों से मनुष्य श्रेष्ठ है, मूर्खों से विद्वान श्रेष्ठ है। यदि कोई किसी की निन्दा करता है, गाली देता है तो भी वह बदले में निन्दा या गाली गलौच न करे, क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुष का आन्तरिक दुःख ही गाली देने वाले या अपमान करने वाले को जला डालता है, साथ ही उसके पुण्य को भी वह ले लेता है। क्रोधादिवश किसी के मर्मस्थान में चोट न पहुँचाये (मार्मिक पीड़ा न दे), कठोर वचन मुँह से न निकाले, अनुचित उपाय से शत्रु को वश में न करे, जो जी को जलाने वाली व उद्वेग कराने

वाली हो ऐसी बात मुँह से न निकाले; क्योंकि पापी ही ऐसी बातें बोलते हैं। जो स्वभाव से कठोर वचनरूपी काँटों से दूसरे मनुष्य को पीड़ा देता हो, उसे अत्यन्त लक्ष्मीहीन (दरिद्र, अभागा) समझे।"[८४]

क्षमाधर्म का व्यापक स्वरूप बताते हुए जैन धर्म में भी कहा है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई

अर्थात्—सभी जीवों से मैं क्षमा चाहता हूँ और मैं सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, समस्त प्राणियों से मेरी मैत्री है, मेरा किसी से वैर नहीं है। प्रस्तुत पद्य में क्षमा का प्राणिमात्र से सम्बन्ध दिखाई दे रहा है। प्रुराणवत् समत्व की कसौटी इस प्रकार बताई है—वही वस्तुतः मुनि है जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है। साधक, जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता, वही प्रशंसित होता है। क्रोध को क्षमा के द्वारा मिटाना चाहिए, क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है, जिस तपस्वी ने कषायों (क्रोधादि) को निगृहीत नहीं किया, वह बाल-तपस्वी है। श्रमण धर्म का अनुकरण करते हुए भी जिसके क्रोधादि कषाय उत्कट हैं, उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईख का फूल। ऋण, व्रण, अग्नि और कषाय ये थोड़े से भी उपेक्षणीय नहीं हैं, समय पर ये बहुत विस्तृत हो जाते हैं।[८५]

वस्तुतः क्षमा का विस्तृत विवेचन करते हुए पुराण तथा जैन धर्म में शक्ति के होते हुए भी क्षमा को धारण करने योग्य माना गया है।

तप

तप : एक शक्ति

तप को पुराण तथा जैन धर्म में उपासना का प्रमुख अंग माना है। तप की महिमा सभी धार्मिक साहित्यों में अंकित है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में तप को ही सभी की आधार शक्ति माना है। वेदों में तप की महत्ता निरूपित की गई है कि सरलात्मा देवताओं ने धूर्त, दुष्ट राक्षसों को तपस् तेज के द्वारा जीता। अथर्ववेद में बताया है—ब्रह्मचर्य एवं तप के द्वारा देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया। श्रम (संयम-इन्द्रियनिग्रह) एवं तप के द्वारा संसार की रक्षा की जाती है। सृष्टि के मूल में तप की ही शक्ति बताई गई है। परम और श्रेष्ठ ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है। तप के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान एवं परमात्म पद प्राप्त किया जाता है।[८६]

पुराणों के अनुसार तप से सुरराज इन्द्रदेव सबका पालन करते हैं, समस्त लोकों के हितकारक सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ग्रहादि सभी तप से ही नित्य प्रकाशित होते हैं।[८७] इसी प्रकार जैन दर्शन के अनुसार भी तप द्वारा व्यक्ति आत्मबली होता है। आत्मा को पवित्र बनाने वाला तप है।[८८] इस प्रकार भारतीय संस्कृति में तप एक ऐसी शक्ति है जो दुरतिक्रम्य है।[८९]

तप का स्वरूप

तप का स्वरूप बताते हुए पुराणों में तप के विभिन्न प्रकार भी निरूपित हैं। लिंग पुराण के अनुसार—ब्रह्मचर्य का परिपालन, मौन व्रत धारण करना और निराहार रहना, ये तीनों कार्य तप कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अहिंसाव्रत का परिपालन और सभी प्रकार से शांति धारण करना भी तप कहा जाता है।[१०] इससे यह अवगत हो जाता है कि तप का तात्पर्य मात्र भूखा रहना ही नहीं है। शारीरिक ही नहीं, मानसिक वाचिक संयम भी तप ही है।

तप के व्यापक रूप को ग्रहण करते हुए जैन धर्म में उसकी परिभाषा बताई गई—"इच्छानिरोधस्तपः" कामनाओं का त्याग ही तप है। यह परिभाषा पातंजल के योग की परिभाषा "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध" से पर्याप्त साम्य रखती है। अतएव योगदर्शन एवं पुराणों में वर्णित योगांगों तथा जैन धर्म में वर्णित तप के प्रकारों में प्रचुर समानताएँ विद्यमान हैं। जैनागमों में बताये गये तप के प्रकार अग्रलिखित हैं—

(१)	अनशन	=	निराहार रहना,
(२)	ऊनोदरी	=	आवश्यकता से कम सामग्री लेना,
(३)	भिक्षाचारी	=	अभिग्रह आदि के साथ विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना,
(४)	रस परित्याग	=	प्रणीत, स्निग्ध एवं अति मात्रा में भोजन का त्याग,
(५)	कायक्लेश	=	शरीर को विविध आसन आदि के द्वारा कष्ट-सहिष्णु बनाकर शरीर को साधना तथा उसकी चंचलता कम करना।
(६)	प्रतिसंलीनता	=	शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन काय, कषाय आदि का संयम करना,
(७)	प्रायश्चित्त	=	दोषविशुद्धि के लिये सरलतापूर्वक प्रायश्चित्त आदि करना,
(८)	विनय	=	गुरुजनों का आदर, बहुमान एवं भक्ति करना,
(९)	वैयावृत्य	=	गुरु, रोगी, बालक, संघ आदि की सेवा करना,
(१०)	स्वाध्याय	=	शास्त्रों का अध्ययन, अनुचिंतन एवं मनन करना,
(११)	ध्यान	=	मन को एकाग्र कर शुभ ध्यान में लगाना,
(१२)	व्युत्सर्ग	=	कषायादि का त्याग करना, शरीर की ममता छोड़कर उसे साधना में स्थिर करना एवं

आवश्यक होने पर संघ आदि का भी त्याग करना।[११]

इनमें से प्रारम्भिक छः बाह्य तप हैं एवं अन्तिम छः आभ्यन्तर तप हैं।

पुराणों में इनका योगांगों के रूप में एवं विकीर्ण रूप से कई स्थलों पर वर्णन है। उदाहरणस्वरूप प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करते हुए शिव पुराण में कहा गया है—पश्चात्ताप ही पाप करने वाले पापियों के लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। सत्पुरुषों ने सबके लिए पश्चात्ताप को ही समस्त पापों का शोधक बताया है। जो पश्चाताप करता है, वही वास्तव में पापों का प्रायश्चित्त करता है, क्योंकि सत्पुरुषों ने पापशुद्धि के लिए जैसे प्रायश्चित्त का उपदेश किया, वह सब पश्चात्ताप के द्वारा सम्पंन्न हो जाता है।[१२]

तप का उद्देश्य

तप के विभिन्न उद्देश्य बतलाते हुए पुराणों का मन्तव्य है कि तप जिस-जिस भावना में स्थित होकर किया जाता है, वही फल करने वालों को निश्चय ही मिलता है। उन भावनाओं (उद्देश्यों) को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह तप सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। देवगण तथा संन्यासियों का एवं ब्रह्मचारियों का तप सात्विक अर्थात् सतोगुणी होता है, दैत्य और मनुष्यों का राजस, तथा राक्षस एवं दुष्टकर्म करने वालों का तप तामस होता है। कामना के फल का उद्देश्य करके देह की शोषक तपस्या से जो केवल मनोरथों की सिद्धि के लिए ही तप किया जाता है, वह तामस तप कहा जाता है।[१३]

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी" के अनुसार जैन धर्म में भी तप की उत्तमता एवं अधमता बताई गई है। तप का केवल कर्म निर्जरण ही वास्तविक उद्देश्य है। ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए एवं यशःकीर्ति के लिए तप का निषेध है। पूजा प्रतिष्ठा, धन, पुत्रादि के लिए या ख्याति के लिए तप को देह शोषक बताया है।[१४] इस (विवेक रहित) तप को अज्ञानतप माना है। इस प्रकार जैन धर्म तथा पुराण में निष्काम तप को ही सर्वोच्चता दी गई है।

तप कैसे करना उचित है, यह दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट किया है—अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र, काल को देखकर—आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिये। तप वैसा ही करना चाहिये जिसमें दुर्ध्यान न हो, योगों की हानि न हो, इन्द्रियाँ क्षीण न हों तथा नित्यप्रति की योग धर्म क्रियाओं में विघ्न न आये।[१५]

तप माहात्म्य

सिद्धि प्राप्ति का तप एक सशक्त साधन है। पुराणों में तप द्वारा अनेक लौकिक अभ्युदय स्वर्ग-प्राप्ति तथा इस लोक में यशः प्राप्ति का कथन है। हरिवंशपुराण

में जनमेजय के कथनानुसार संसार में ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जिसकी तपस्या से सिद्धि प्राप्त न हो। शिव पुराण में तप के लिए कहा गया है कि जो सबसे कठिन, दुराराध्य और दुर्धर तथा अत्यन्त कठिनाई से अतिक्रमण करने योग्य होता है, वह सब तपस्या से साध्य हो जाता है, किन्तु यह तप ही एक परम दुस्साध्य वस्तु है। तप द्वारा स्वर्ग, यश, कामना, लाभ आदि जो-जो इच्छा हो, वही प्राप्त हो जाता है। मदिरापान करने वाला, पराई स्त्री के साथ रमण करने वाला, ब्रह्म-हत्यारा और गुरु-पत्नी के साथ गमन करने वाला महापापी भी तप से तर जाया करता है। तपमय मनोवृत्ति को दैवी कहते हुए कहा है कि जहाँ धर्म, तप एवं सत्य होते हैं, उसी पक्ष को युद्ध में विजय प्राप्त होती है।[९६]

जैनागम भी तप के अनुपम फल को बताते हैं। वहाँ लौकिक पदार्थों को शुद्ध तप का फल नहीं बताया गया है वरन् तप में किसी न किसी प्रकार की कमी रहने पर लौकिक पदार्थ मात्र की उपलब्धि होती है। तप का मुख्य फल मुण्डकोपनिषद् की भांति आत्मदर्शन एवं आत्मस्वरूप की ही प्राप्ति है। तप के द्वारा आत्मा की पवित्रता एवं कर्मों को व्यवदान (आत्मा से दूर हटना) ही तप का प्रमुख फल है—

भवकोडियसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ

अर्थात् करोड़ों जन्मों के संचित कर्म तप से नष्ट हो जाते हैं।[९७] इनके साथ ग्रामं गच्छन्तृणंस्पर्शवत् अन्य लौकिक वैभव स्वर्ग आदि उपलब्धियाँ हैं। आटे के साथ भूसे के समान ही यहाँ उनके लिए अभिलाषा करना अनुचित बताया है।

अन्ततः तप की महिमा वर्णन करते हुए जिस प्रकार जैनागमों में तपों में सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य को कहा है, उसी प्रकार पुराणों का भी यही अभिमत है कि इन्द्रियों के समूह को तथा शब्दादि सूक्ष्मभूत रूप अनेक विषयसमूह को वश में करके ब्रह्मचर्य का पालन सबसे बड़ा तप है।[९८]

सत्संग

सत्संग का बहुत से विचारकों ने महत्त्व स्वीकृत किया है। कबीर, तुलसीदास, भर्तृहरि, माघ जैसे चिन्तकों ने सत्संगति को काया पलट करने में समर्थ माना है। सत्संगति का मूल्यांकन पुराण तथा जैन धर्म में किया गया है।

सज्जनों की संगति सत्संगति कहलाती है। संगति करने से पूर्व यह जानना-परखना आवश्यक है कि वह सत्संग है या कुसंग। सज्जन एवं दुर्जन का परिचय मत्स्यपुराण में इस प्रकार से दिया गया है—सत्पुरुषों का समागम होने पर दुःख या क्लेश कहाँ? अर्थात् सज्जनों का समागम होने पर बिल्कुल भी ग्लानि नहीं होती। साधुपुरुष हो या असाधुजन, सबके उद्धारकर्ता सन्त ही होते हैं। जो असन्त हैं, वे न तो सत्पुरुषों का, न असत्पुरुषों का तथा न ही अपना

उद्धार करने की क्षमता रखते हैं। विषम अग्नि, सर्प और शस्त्र से उतना भय नहीं होता, जितना अकारण ही जगत् के बैरी खलों से भय होता है। सन्त पुरुष तो अपने प्राणों का भी परित्याग दूसरों के अर्थ, हित लाभ के लिए किया करते हैं, वैसे ही असन्त पुरुष भी प्राणों तक का परित्याग कर दूसरों को पीड़ा देने में परायण रहा करते हैं। सज्जनों एवं दुर्जनों का स्वभाव बताते हुए नारद पुराण का कथन है—जो सज्जन होते हैं, वे सम्पत्ति हो या विपत्ति हो, स्वप्न में भी कभी दूसरों को पीड़ा नहीं दिया करते हैं। विषय रूपी शत्रुओं से पीड़ित होता हुआ बुद्धिमान पुरुष अपनी रक्षा न कर दूसरों को कष्ट कैसे दे सकता है? आध्यात्मिक, आधि-दैविक तथा आधि-भौतिक इन तीन प्रकार के तापों से स्वयं पीड़ा को प्राप्त करने वाला सज्जन मनुष्य क्या दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर खिलवाड़ कर सकेगा? तथा जो मन, वाणी और कर्म के द्वारा सदा दूसरों को पीड़ित किया करता है और सर्वदा कामादि में फँसा रहता है, वह मूढ़बुद्धि वाला कहलाता है। इस प्रकार हित करने वाला सज्जन असूया, मत्सरता से रहित होता है, लोक में और परलोक में निःशंक होता है। सज्जन तो चन्दन के वृक्ष के समान होता है, जो स्वयं का छेदन करने वाली कुल्हाड़ी को भी सुरभित कर देता है। चन्द्रमा, सूर्य जिस प्रकार बिना किसी भेदभाव के गरीब-अमीर सभी को चांदनी तथा रोशनी प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सज्जन भी स्व-पर, मित्र-शत्रु आदि भेद किये बिना ही सबका हित करते हैं। सज्जन जगत् में अत्यल्प हैं। साधु पुरुषों का समागम अत्यन्त दुर्लभ है। जिस व्यक्ति के पूर्वजन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी को सत्संगति प्राप्त होती है। इसे पाना पूर्व जन्म के पुण्यों का ही फल समझना चाहिए, अन्यथा साधु पुरुषों की संगति कभी भी प्राप्त नहीं हुआ करती है।[९९]

पुराणों के समान ही जैन धर्म में भी सत्पुरुष एवं दुर्जन का स्वभाव बताते हुए कहा है कि सज्जन दूसरे के दोष देखकर स्वयं में लज्जा का अनुभव करता है। (वह कभी उसे अपने मुँह से नहीं कह पाता)। श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणों को वाणी से नहीं, किन्तु सच्चरित्र से ही प्रकट करते हैं। सब जगह प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलने पर भी उसे क्षमा करना तथा सबके गुण ग्रहण करते रहना, यह मंदकषायी (शांत स्वभावी) आत्मा के लक्षण हैं। जो वाणी से सदा सुन्दर बोलता है और कर्म से सदा सदाचरण करता है, वह व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ की तरह सदा प्रशंसनीय जनप्रिय होता है। दुर्जन व्यक्ति का स्वभाव ठीक इससे विपरीत होता है। वह दूसरों की निन्दा करके अपने को गुणवान् प्रस्थापित करना चाहता है। उसका यह प्रयास ठीक वैसा ही है, जैसे कोई दूसरों को कड़वी दवा पिलाकर स्वयं रोग रहित होने की इच्छा करता है।[१००] दुर्जन व्यक्ति के संग से व्यक्ति प्रभावित होता

है। साधु पुरुषों का समागम होना मनुष्यत्व प्राप्त करने से भी दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद और मनुष्यत्व प्राप्त करने के बाद भी जरूरी नहीं कि हमें सन्मार्ग बताने वाली सत्संगति मिल जाये।[१०१]

संग परिणाम

व्यक्ति ही नहीं, दुनियां की प्रत्येक वस्तु संग पाकर परिवर्तित हो जाती है। जैसा भी संग मिले, वैसा परिणमन हो जाता है। फिर भी दो जनों पर किसी भी संग का प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो पूर्णतया निर्लिप्त समभावी दृढ़संकल्पी आत्ममग्न व्यक्ति किसी भी प्रकार से कुसंग से प्रभावित नहीं होता तथा दूसरा वह व्यक्ति जो ढीठ प्रकृति का हो, प्रगाढ आसक्ति वाला तथा मोहान्ध हो, ऐसे व्यक्ति पर भी चाहे जितना महान संग हो, प्रभाव नहीं डाल पाता। तथापि आम व्यक्ति जो प्रसंग पाने पर ढलता है उसके लिए संग बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि उसका हृदय उर्वर काली मिट्टी जैसा होता है। यदि सत्संग रूपी बीज वहाँ नहीं डाला जाये तो अनावश्यक तथा खराब, काँटेदार झाड़-झंखाड़ खड़े हो जाते हैं, अतः सत्संग रूपी बीज डालना वहाँ आवश्यक है। बीज डालने से पूर्व जिस प्रकार क्षेत्र की सफाई आवश्यक है, वैसे ही हृदय की शुद्धि (परिष्करण) भी आवश्यक है, जिससे वहाँ अच्छे संग का प्रभाव पड़ सके। कुसंग से बचने की प्रेरणा जैन तथा पुराण साहित्य में दी गई है।

पुराणों का इस सन्दर्भ में स्पष्ट कथन है कि दुर्जन पुरुष के संग से सज्जन पुरुष भी विनष्ट हो जाया करते हैं; जिस तरह स्वच्छ जल को भी कीचड़ द्वारा मैला कर दिया जाता है। निरन्तर सत्पुरुषों की संगति करे और सत्पुरुषों के साथ अपनी उठक-बैठक रखे। सत्पुरुष के साथ ही विवाद और मैत्री भी करनी चाहिए, पण्डित वृन्द, विनीतजन, धर्म के ज्ञाता और सत्यवादी पुरुषों के साथ बंधन में स्थित होकर भी रहे और खलों के साथ राज्य में कभी भी नहीं रहे, क्योंकि खल संग का परिणाम सर्वदा बुरा ही होता है। इसके विपरीत सत्संग दुष्कृतों (पापों) का संचय हरण करने वाला होता है। सत्पुरुषों का समागम कर्मों के पाश में अर्दित पुरुषों के हृदय के बंधन का हरण कर देता है और अत्यन्त अल्पजल्पी (अल्पभाषी) मनुष्यों को उच्च पद वितरण करने वाला, संसार में बारम्बार जन्म-ग्रहण और मृत्यु प्राप्त करने के कर्म में परम श्रान्त लोगों को विश्रान्ति प्रदान करने का हेतु होता है। सूर्यदेव तो अपनी किरणों के प्रकाश के द्वारा दिन के समय में केवल बाहरी अन्धकार का ही विनाश किया करते हैं, किन्तु सन्त पुरुष तो अपने सद्वचनों के द्वारा हृदय के अन्धकार को दूर कर दिया करते हैं। सन्तों के वचन रूपी किरणों से हृदय में व्याप्त अन्धकार पूर्ण रूप से नष्ट होता है।[१०१]

जैन धर्म में भी कुसंगति का दुष्परिणाम बताते हुए कुसंगति का निषेध दृष्टिगोचर होता है क्योंकि दुर्जन की संगति से सज्जन का भी महत्व गिर जाता है;

जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है। अतः आलसी, वैर-विरोध रखने वाले और स्वेच्छाचारी का साथ छोड़ देना चाहिए। कुसंगति के हट जाने पर भी सत्संगति की आवश्यकता क्यों होती है, इसका समाधान किया है कि एकाकी रहने वाले साधक के मन में प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं, अतः सज्जनों की संगति में रहना ही श्रेष्ठ है। सत्संग से धर्म श्रवण, धर्म श्रवण से तत्त्व ज्ञान, तत्त्व ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट तत्त्व ज्ञान), विज्ञान से प्रत्याख्यान (सांसारिक पदार्थों से विरक्ति), प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनास्रव (नवीन कर्म का अभाव), अनास्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता (सर्वथा कर्म रहित स्थिति) और निष्कर्मता से सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।[१०२]

सारांशतः साधु पुरुषों का समागम मन के संताप को दूर करता है, आनन्द की अभिवृद्धि करता है और चित्तवृत्ति को संतोष देता है। अतः हमेशा साधुजनों के साथ सम्पर्क रखना चाहिए। जंगमतीर्थ के रूप में संत समागम तुरन्त ही फलप्रद होता है।[१०३]

सेवा

सेवा के अनेक रूप व्यक्ति-भेद से हो सकते हैं। यथा भगवद् सेवा (सेवन ध्यानादि के रूप में) भक्ति कहलाती है, बड़ों की सेवा को विनय की संज्ञा दी जाती है, छोटों की सेवा अथवा अन्य किसी की हित-साधन रूप सेवा को परोपकार से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार भक्ति, विनय, सहायता, परोपकार आदि सभी सेवा के ही विभिन्न रूप हैं।

भगवद् सेवा अर्थात् भक्ति

भगवान् की भक्ति रखना, आस्था रखना एवं उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हुए स्वलक्ष्य को पाने की चेष्टा करना ही भगवद् सेवा है, भक्त उनकी अन्य क्या सेवा कर सकता है? भक्ति के मूल में श्रद्धा का पुट आवश्यक है। अतः जैन धर्म में भगवद् भक्ति का तात्पर्य इनके उपदेशों का श्रद्धाभाव से अंगीकरण है।

भक्ति का महत्त्व

पुराणों में भक्ति का विवेचन करते हुए नवधा भक्ति का निरूपण है। भक्ति की महत्ता बताते हुए विष्णु पुराण का कथन है—निश्चल भक्ति के द्वारा मुक्ति भी मुट्ठी में रहती है। फिर धर्म, अर्थ और काम से तो उसका प्रयोजन ही क्या रहता है।[१०४]

भक्ति का महत्त्व जैन धर्म में भी है। जैनागमानुसार जिस प्रकार लौकिक क्षेत्र में सर्वोच्च शक्ति चक्रवर्ती की है; उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र के अधिपति

(शासक) तीर्थंकर होते हैं। ऐसी सर्वोच्च शक्ति की प्राप्ति (तीर्थंकर नामकर्म बंध की प्राप्ति) भी अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुती, तपस्वी इन सातों के भावपूर्वक गुणानुवाद करने से तथा ज्ञानोपयोग, निर्मल सम्यक्त्व, गुरु आदि पूज्यजनों का विनय इत्यादि २० प्रकार की आराधना द्वारा होती है।[१०५] यह भक्ति का ही विशिष्ट रूप है।

पुराणों में वर्णित नवधा भक्ति के ये नाम हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन।[१०६] जैन स्तोत्रों में अनेक स्थलों पर इनका संकेत मिलता है। नवधा भक्ति को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम तीन श्रवण, कीर्तन, स्मरण भक्ति तो परोक्ष में (उपास्य देव की अनुपस्थिति में) की जाती है। दूसरी तीन भक्ति पूर्णतया तो भगवान् के साक्षात् मिलने पर ही होती हैं किन्तु अनुपस्थिति में मन के भाव द्वारा प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है—ये छः भक्तियाँ क्रियारूप हैं। शेष तीन भावरूप हैं। अनेक विद्वानों ने श्रवण को सत्संग, कीर्तन को भजन, स्मरण को ध्यानरूप, पादसेवन-अर्चन-वंदन को भगवच्चरणों से सम्बन्धित बताया है।[१०७]

१. **श्रवण भक्ति**—भगवान् के नाम, चरित्र एवं गुणादि के श्रवण को श्रवण भक्ति कहा गया है। आचार्य सिद्धसेन ने कल्याण मंदिर स्तोत्र में भगवान् के नाम श्रवण द्वारा दुःख का नाश बताया है।[१०८] जैन आगम साहित्य में श्रवण का महत्त्व जिनवाणी श्रवण के रूप में है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने श्रेय मार्ग को चुन सकता है।[१०९]

२. **कीर्तन**—भगवान् के नाम, गुणादि का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करना कीर्तन भक्ति है। यह गुण कीर्तन स्थूलमुख से नहीं, अन्तकरण की तन्त्री से भगवान् का यशोगान करना कीर्तन भक्ति है।[११०] लगभग सभी जैन स्तोत्रों में भगवान् का गुण कीर्तन है। यही नहीं, आगम साहित्य के अन्तर्गत भी यह दृष्टिगोचर होता है—अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पिकेवली।[१११]

३. **स्मरण**—जिस किसी प्रकार से मन के साथ भगवान् का सम्बन्ध हो जाता है, वह स्मरण भक्ति है।[११२] अर्थात् भगवान् के परम प्रभावशाली मंगलमय नाम, रूप, गुण का ध्यान करना ही स्मरण भक्ति है। विष्णु पुराण में पाप के अनन्तर पश्चात्ताप होने पर भगवत्स्मरण ही एक मात्र प्रायश्चित्त है। भगवत्स्मरण से पापक्षय ही नहीं, मोक्षपद की प्राप्ति होती है, स्वर्ग लाभ तो उसके लिए विघ्नरूप है।[११३] जैन स्तोत्रों का भी यही आशय है कि सूर्य की बात तो क्या, उसकी प्रभा ही कमलों को विकसित कर देती है। उसी प्रकार स्तुति तो दूर, आपका स्मरण (नाम कथा) ही पाप दूर कर देता है।[११४] यदि भगवत्स्मरण या आत्मस्मरण भी बना रहे तो व्यक्ति पापकर्म से बचा रहता है।

४. **पादसेवन**—इस भक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि स्थूल चक्षुओं से उसका (भगवान् का) रूप देखा नहीं जा सकता। आकार दृष्टिगोचर न होने से हम उसके चरणों की सेवा कैसे कर सकते हैं? अतः—पादोस्य विश्वभूतानि—इस क्रम में अभ्यास द्वारा अशेष प्राणियों के भीतर नित्यसत्ता के अस्तित्व को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे का क्रम सम्पूर्ण प्राणियों में उसकी सेवा करना और इसी को पादसेवन भक्ति कहा जाना विधेय है।[११५] यद्यपि इस कारण से तो नहीं, फिर भी जैन धर्म में सभी में समान चैतन्य (आत्मतत्त्व) सत्ता होने से किसी भी प्रकार से पीड़ित करने का निषेध है। इसके अतिरिक्त भगवच्चरणों की मानसिक कल्पना (भावरूप) भी जैन स्तोत्रों में उपलब्ध होती है।[११६]

५. **अर्चन**—स्थूलरूपेण बाह्य सामग्रियों से या मन के द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान् का पूजन करना अर्चन भक्ति है। प्रभु के योगिगम्य रूप की अर्चना के संदर्भ में विष्णुपुराणकार का कथन है कि योगीगण अपनी इन्द्रियों को अपने विषयों से खींचकर ध्यान द्वारा जिनका अर्चन करते हैं, चित्त में प्रभु स्वरूप की भावना कर भावमय पुष्पादि ध्यान द्वारा उपस्थित करते हैं।[११७] इस संदर्भ में शिव पुराण का यह कथन भी उल्लेखनीय है—"बाह्य पूजन से आभ्यन्तर पूजन सौ गुना अधिक श्रेष्ठ है—क्योंकि उसमें दोषों का मिश्रण नहीं होता तथा प्रत्यक्ष दीखने वाले दोषों की भी वहाँ सम्भावना नहीं रहती है। भीतर की शुद्धि को ही शुद्धि समझनी चाहिए, बाहरी शुद्धि को शुद्धि नहीं कहते हैं; जो आन्तरिक शुद्धि से रहित है, वह बाहर से शुद्ध होने पर भी अशुद्ध ही है। भाव रहित भजन एकमात्र विप्रलम्भ (छलना) का ही कारण होता है। मैं तो सदा ही कृतकृत्य एवं पवित्र हूँ, मनुष्य मेरा क्या करेंगे?"[११८]

अर्चन का यह रूप जैन धर्म में भी स्वीकृत है। पूजा दो प्रकार की है—द्रव्यपूजा तथा भावपूजा। वचन और शरीर का संकोच करना द्रव्य पूजा है एवं मन का संकोच करना भाव पूजा है। भाव पुष्पों का उल्लेख हरिभद्रसूरि ने भी किया है। उनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निःसंगता, गुरु भक्ति, तप और ज्ञान ये पूजा के आठ फूल कहलाते हैं।[११९] जैन धर्म में परमात्मा की अर्चना साधन रूप में प्रयुक्त है, न कि साध्य रूप में। परमात्म के गुणों की प्राप्ति के साधन रूप में ही इसका महत्व है।[१२०]

६. **वन्दन**—शास्त्रानुसार वन्दन शब्द का अर्थ होता है—प्रणाम, अभिवादन और नमस्कार आदि। विष्णु पुराण में यमराज अपने दूत से भगवद्वन्दन की महिमा कहता है कि जो भगवान् के सुख-वन्दित चरण-कमलों में परमार्थ बुद्धि से वन्दन करता है, समस्त पाप बंधन से मुक्त उस पुरुष को तुम दूर से ही छोड़कर निकल जाना।[१२१] वंदन का अर्थ साष्टांग अथवा पंचाग प्रणाम मात्र नहीं है, बल्कि अपने को कुछ विशेष महत्त्व न देकर प्रभु के चरणों पर धूल के समान अपने आपको

सम्पूर्ण रूप से अर्पित कर देना है। जैन स्तोत्र ही नहीं, जैन धर्म का मूल मंत्र नमस्कार-महामंत्र तो नमस्कार वंदन से ही ओत-प्रोत है।[१२२]

७. **दास्य**—भगवान् को अपने कर्मों का अर्पण कर देना तथा उनकी अनन्य सेवा में अपने को लगा देना दास्य भक्ति है। विष्णु पुराण के अनुसार देवगण निरन्तर फलाकांक्षा रहित भगवान् को अपने कर्म अर्पण करने वाले तथा अनन्त में लीन होने वाले पुरुष का गुणगान करते हैं।[१२३] इसकी निष्कामता भागवतपुराण में व्यक्त है—भगवान् की सेवा जो मनुष्य स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं, उनमें वह सच्चा दास्य-भाव नहीं है। वह वाणिज्य व्यापार के समान है।[१२४] इस प्रकार श्रद्धापूर्वक सेवा भाव के लिए उत्सुकता जैन स्तोत्रों में भी दृष्टिगत होती है।

८. **सख्य**—भगवान् में अटल विश्वास और उनके साथ मित्रता सदृश व्यवहार सख्य भक्ति है। आत्मा में परमात्म-भाव मानते हुए साधक का समस्त प्राणी समुदाय के साथ जो विभिन्नता का भाव रहता है, वह मैत्री में परिणत हो जाता है।[१२५] इस दृष्टि का समर्थन प्रकारान्तर से जैन धर्म भी करता है। वहाँ भी आत्मवत् सभी को मानकर मैत्री सम्बन्ध की प्राप्ति को प्राप्त करना व्यक्ति का कर्त्तव्य माना है।[१२६] भगवान् के प्रति सख्य भक्ति का वर्णन जैन परंपरा में अल्पमात्रा में मिलता है।

९. **आत्मनिवेदन**—अहंकार विहीन होकर स्वयं को सर्वात्मना श्रद्धापूर्वक भगवान् के लिए समर्पित कर देना "आत्मनिवेदन" भक्ति है। इसका तात्पर्य है सर्वथा शरणापन्न हो जाना। विष्णु पुराण में यम अपने अनुचर को भगवान् के शरणभूत व्यक्तियों को छोड़ देने के लिए कहते हैं। यह अवस्था अवर्णनीय है, क्योंकि रूपक भौतिक पदार्थ ही प्रदर्शित करने की क्षमता रखते हैं; किन्तु आत्मा का आत्मा से मिलन—जिसमें जीवात्मा प्राण का अस्तित्व सम्पूर्ण रूपेण खो देता है और तब इसकी स्वरूपता का बोध प्रथमबार किन्तु सदा के लिए होता है।[१२७] इसी को जैनागमों में सिद्ध संज्ञा दी है अर्थात् आत्मा का अनन्त में ज्योति में ज्योतिवत् विलीन हो जाना। यह वर्णन बड़ा ही तात्विक एवं गहन है। स्थूलदृष्ट्या आत्मनिवेदन भगवान् की महत्ता और अपनी लघुता दिखाता है—आत्मालोचन करता है, जिसका जैन स्तोत्रों में भी दर्शन होता है।[१२८]

जैन हिन्दी साहित्यकारों ने (द्यानतराय, दौलतराय, आनन्दघन, भागचन्द्र भूधरदासादि) भी अपने साहित्य में नवधा भक्ति का प्रतिपादन किया है। यह नवधा भक्ति ऐसी पद्धति है जो साधक को शनैः-शनैः स्वाभाविक रूप से सिद्धि के उस वर्धमान मार्ग के द्वारा उस लक्ष्य पर पहुँचा देती है जहाँ परमतत्त्व की अनुभूति होती है और फिर अविद्या की ओर लौटना नहीं होता।

जैन एवं पौराणिक भक्ति का अन्तर इतना ही है कि जैन भक्ति का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति न होकर मोक्ष की प्राप्ति है—ईश्वरत्व की प्राप्ति है जबकि पौराणिक भक्ति का प्रयोजन साक्षात् ईश्वर को प्राप्त करना है एवं जैसे प्रकाशस्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तक कि उसके लिए सत्प्रयत्न न हो। जैन परंपरा में भक्ति का लक्ष्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध या साक्षात्कार है। अपने में निहित परमात्म शक्ति को अभिव्यक्त करना है।[१२९]

वस्तुतः भक्ति मात्रगुणों का अनुराग ही नहीं, अपितु गुणों का साक्षात्कार करना है।[१३०]

बड़ों का सत्कार-विनय

पुराणों में उपाध्याय, आचार्य, पिता, माता आदि सभी को पूज्य बताते हुए उनके प्रति कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित किया गया है। माता-पिता का जीवन में कितना उच्च स्थान होता है, इसे बताते हुए कहा है कि जो अपने माता-पिता का अर्चन करके उनकी परिक्रमा कर लेता है, उसे भूमण्डल की परिक्रमा पूर्ण करने का फल सुनिश्चित प्राप्त होता है। पुत्र के लिए माता-पिता की सेवा ही सबसे बड़ा तीर्थ है जो घर में रहकर सम्पन्न होती है और तीर्थों के लिए तो दूर जाना पड़ता है। पुत्र की स्त्री के लिए भी घर में इसी को परम शोभनतीर्थ बताया है। स्कन्दपुराण में माता-पिता के निन्दक को भाग्यहीन कहा है। इतना ही नहीं, मत्स्यपुराण में कहा गया है कि आचार्य साक्षात् ब्रह्मा की, पिता प्रजापति की, माता पृथिवी की तथा भाई अपनी आत्मा की ही मूर्ति होता है। जन्म देने वाले माता-पिता के द्वारा जन्म से ही क्लेश (कष्ट) सहे जाते हैं, जिनकी निष्कृति मनुष्य सौ वर्षों में भी नहीं कर सकता। अतः सर्व प्रकारेण—नित्य इनका पूजन करे, इन तीनों के तुष्ट हो जाने पर सभी तप हो जाते हैं। ये तीनों ही तीन लोक हैं, तीन आश्रम हैं, तीन वेद हैं, तथा तीन अग्नियाँ हैं, पिता गार्हपत्य, माता दक्षिण्यग्नि, गुरु आह्वनीयग्नि है। इनमें भी उपाध्याय से आचार्य १० गुणा, आचार्य से पिता १०० गुणा, पिता से माता १००० गुणा सम्मान तथा गौरव पात्र है। इस प्रकार शिक्षा देने वाले, पिता, माता तीनों को गुरु कहा गया है।[१३१]

जैन धर्म में भी गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यों में गुरुजनों (बड़ों) का आदर करना स्वीकार किया गया है। कई आख्यानों में भी माता-पिता की आज्ञापालन, सेवादि करने का वर्णन स्पष्ट परिलक्षित होता है। योगशास्त्रकार ने श्रावक की ३५ विशेषताओं में "मातापित्रोश्च पूजक" भी लिखा है।[१३२]

गुरु की सेवा—विनय

गुरु का स्वरूप

पूज्य स्थान पर प्रतिष्ठित गुरु की महिमा का गान पुराण तथा जैन धर्म में पर्याप्त है। गुरु का स्वरूप निर्धारण करते हुए लिंगपुराणकार ने आचार्य की परिभाषा बताई है—जो स्वयं आचरण करता है तथा दूसरों को भी आचार में स्थापित करता है तथा शास्त्रों के अर्थों को सब ओर से चयन करता है, वह आचार्य होता है। आचार्य शरणागत को आनन्द तथा अभय प्रदान करने वाले होते हैं।[१३३]

जैन धर्म में भी आचार्य की परिभाषा लगभग इसी प्रकार है—आचार्य को स्वयं आचरण करने वाला तथा दूसरों को आचार मार्ग बताने वाला, शास्त्रार्थ ज्ञाता कहा है। राग-द्वेष से मुक्त आचार्य को शिष्यों के लिए शीतगृह (सब ऋतुओं में सुखदायी) के समान कहा गया है।[१३४]

गुरु के लक्षणों (गुणों) का वर्णन पुराणों में इस प्रकार से है—

वह (गुरु) शास्त्रों का वेत्ता, प्राज्ञ, तपस्वी, शिष्यों पर वात्सल्य रखने वाला, लोकाचार-रति रखने वाला हो। जिसकी आत्मा में स्व-संवेद्य परतत्त्व (परमतत्त्व) का निश्चय नहीं, वह स्वअनुग्रह, स्वश्रेय सम्पादन में भी असमर्थ होता है तो फिर दूसरों (शिष्यों) का कैसे कर सकता है? आत्मज्ञानरहित को पशु कहा जाता है, ऐसे गुरुओं से प्रेरणा लेने वाले भी पशु ही कहे जाते हैं, अतः तत्त्वज्ञान परमावश्यक है। तत्त्वज्ञाता को ही आनन्द का दर्शन होता है। संवित्ति (ज्ञान) रहित केवल नाम मात्र से आनन्ददाता नहीं होता, ऐसे पुरुष परस्पर उद्धार नहीं कर सकते हैं। क्या कोई शिला किसी शिला को तार सकती है? श्वेत केशधारी अधिक आयु से युक्त व्यक्ति यदि ज्ञानहीन है तो वह गुरु का पद नहीं पा सकता। इसके विपरीत अल्पायु भी ज्ञान सम्पन्न होने से वयोवृद्धों का भी गुरु बनने की योग्यता रखता है। उम्र के लिहाज से गुरु न होकर, ज्ञान के द्वारा ही होता है। मूर्ख गुरु, शिष्य को कभी पार नहीं कर सकता। ज्ञानी तो स्वयं मुक्त है तथा अन्यों को भी मुक्त कर सकता है, किन्तु सर्वलक्षण युक्त, सर्वशास्त्र ज्ञाता भी यदि तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) से रहित हो तो व्यर्थ है।[१३५]

लगभग इसी प्रकार से गुरु की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए जैन धर्म में भी महाव्रतधारी, धैर्यवान्, शुद्ध भिक्षा से जीने वाले, संयम में स्थिर रहने वाले एवं धर्म का उपदेश देने वाले महात्मा गुरु माने गये हैं। गुरु को ज्ञानवान् तथा ज्ञानदाता होना आवश्यक है। यदि शिष्यों को ज्ञान नहीं प्राप्त होता है तो वह आचार्य (गुरु) की ही जड़ता है, क्योंकि गायों को कुघाट में उतारने वाला वस्तुतः गोपाल ही है। इस प्रकार जो एकान्त हितबुद्धि से जीवों को सभी शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाता

है, वह गुरु है। इसके विपरीत सभी भोग्य वस्तुओं के अभिलाषी, परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते। परिग्रहादि में मग्न गुरु दूसरों को कैसे तार सकते हैं? जो स्वयं दरिद्र हैं, वही दूसरों को धनाढ्य बनाने में समर्थ कैसे हो सकते हैं?[१३६]

शिष्य-कर्त्तव्य

जैन धर्म एवं पुराणों में शिष्य के लिए प्रमुख कर्त्तव्य गुरु-आज्ञा का पालन करना निर्धारित है। पुराणों में लिखा है कि गुरु की अवज्ञा करने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। गुरु की आज्ञा के बिना जो वस्तु ग्रहण की जाती है, वह चुराई हुई वस्तु के समान है। जो बिना गुरु का पूजन किये शास्त्र सुनते हैं या सुनना चाहते हैं और गुरु की सप्रेम भक्ति के साथ सेवा नहीं करते या उनको उत्तर देते हैं, गुरु को रोगी, असमर्थ या परदेश में स्थित या शत्रुओं द्वारा घिरे हुए अथवा तिरस्कृत मनुष्यों में छोड़ देते हैं—इन सभी को शिव-निन्दा तुल्य ही महापाप होता है।[१३७]

जैनागमों के अनुसार भी जो गुरुजनों की आज्ञाओं का यथोचित पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है एवं उनके हर संकेत एवं चेष्टा के प्रति सजग रहता है, उसे विनीत कहा जाता है, अर्थात् 'गुरु की आज्ञा ही नहीं, संकेत द्वारा ही शिष्य को अभिप्राय समझ लेना चाहिए'। जो इस प्रकार से गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है। गुरुजनों के अनुशासन से कुपित, क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएं बुरी लगती हैं। विनीत बुद्धिमान शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुड़सवार।[१३८] गुरुजनों की अवहेलना करने वाला कभी बंधनमुक्त नहीं हो सकता।

गुरु के सम्मुख विनम्रतापूर्वक रहते हुए अविनय से सम्बन्धित चेष्टाएं, यथा गुरुजनों के सामने पैर पसारना, उच्चासन पर बैठना आदि दोनों (पुराण, जैन धर्म) में निषिद्ध हैं।[१३९]

गुरु-महिमा

गुरु शब्द से ही स्पष्ट है—जो अज्ञानरूपी अन्धकार को हरण करने वाला है। पुराणों के अनुसार—शिव, गुरु, विद्या तीनों का महत्त्व समान है। गुरु सर्वदेवमय तथा सर्वमन्त्रमय होते हैं, अतः प्रयत्नपूर्वक उनकी आज्ञा शिरोधार्य करे, मन से भी न लांघे। जैसे पापी के संग से व्यक्ति पतित हो जाता है, वैसे ही गुरु के संग से सब पाप नष्ट होकर शुद्ध हो जाता है। सन्तुष्ट गुरु क्षणभर में कल्याण कर देते हैं। मन, वाणी, कर्म द्वारा गुरु को क्रोधित न करे। गुरु—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, परब्रह्म तुल्य तथा

वायु, वरुण, चन्द्र, अनिल, रवि, माता-पिता तथा सुहृद् के रूप में निर्देशित है। उससे बढ़कर पूज्य और कोई नहीं है। अभीष्ट देव के रुष्ट हो जाने पर गुरु उसे बचाने में समर्थ है, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर समस्त देवता भी व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकते।[१४०]

इसी प्रकार गुरु का महत्त्व सम्पादित करते हुए जैनागमों में भी गुरु को प्रसन्न करने तथा कुपित न करने की बात कही गई है। गुरु की आज्ञा पालन करना सब गुणों से बढ़कर है। अनाबाध् मुक्ति-सुखाभिलाषी शिष्य को गुरु की प्रसन्नता के लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जैसे जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही गुरु के मार्गदर्शन के बिना संसार-सागर पार कर पाना बहुत कठिन है।[१४१]

इस प्रकार गुरु की आज्ञा पालन करने से, सेवा-सुश्रुषा से शिक्षाएं वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

परोपकार = प्राणी मात्र की सेवा

सज्जन लोग स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं। परोपकार करते हुए व्यक्ति स्वोपकार भी कर लेता है। जैसा कि भक्तिपरिज्ञा नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी हत्या है और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है।[१४२]

पुराणों का सार यही है कि परोपकार पुण्य तथा परपीड़ा पाप का हेतु है—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

दुष्ट अपनी दुष्टता को छोड़ते नहीं, वे सज्जनों को कष्ट देते हैं। यदि ऐश्वर्य और अहंकार भी दुष्ट को प्राप्त हो जाये तो फिर उसकी दुष्टता की कोई हद नहीं होती, क्योंकि पृथ्वी का आहार सम्पूर्ण निधि होने से वह सदा जलती है, उसी निधि के उपभोक्ता मनुष्य भी जलने लगें तो आश्चर्य की बात नहीं है। ऐश्वर्य द्वारा दुष्ट व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, कनक (स्वर्ण), कनक (धतूरे) से भी ज्यादा मादक होता है। जैसे अग्नि का मित्र वायु आने पर वह अत्यन्त प्रचण्ड होकर सर्वनाश करता है, वैसे ही मदान्ध को भी सत्-असत्, हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता। किन्तु सज्जनों की वृत्ति, गति एवं मति इससे विपरीत होती है, साधु पुरुष सर्वदा क्षमाभाव से संयुक्त होकर परोपकार निरत रहते हैं। जैसे चन्द्रमा देवताओं द्वारा स्वयं को खाये जाने पर भी उन्हें सन्तुष्ट ही करता है, वैसे ही सन्त पुरुष दुष्ट को भी सुख ही देते हैं। फाड़कर और चीरकर भी प्राप्त किया गया चन्दन सर्वत्र सुगन्ध ही प्रसारित करता है। जड़ वृक्षों का जीवन भी फल, फूल, पुष्प, पत्र, वलकल, दारा, काष्ठ द्वारा सदा परोपकार

करता है तो मनुष्य तो सब कुछ जानने वाला होते हुए भी दूसरों के कुछ काम नहीं आता है तो वह जीवित रहते हुए भी मृत के समान ही है।[१४३]

जैन धर्म में भी परोपकार को सुख शान्ति का हेतु बताया गया है। भगवती सूत्र में यही कहा गया है कि जो दूसरों के सुख एवं कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख एवं कल्याण को प्राप्त करता है। अनाश्रित, असहाय जनों को सहयोग एवं आश्रय देने के लिए तत्पर रहना चाहिए।[१४४]

उपर्युक्त सेवा सम्बन्धित समस्त कर्त्तव्यों में मुख्यतः स्वार्थवृत्ति एवं अहंकार वृत्ति का त्याग करना पड़ता है। अहंकार के सद्भाव में विवेक का अभाव हो जाता है, यही सर्वनाश का मूल है। जिसके हृदय में अहंकार छा जाता है उसका विनाश बहुत ही वेग से होने लगता है। अहंकारपूर्वक भगवद्भक्ति-गुरुजनों का विनय किया जाये तो व्यर्थ है। परोपकार करते हुए अहंभाव रखना दूध में कांचरे के बीज के समान सब सत्कार्य नष्ट कर देता है।

अन्ततः सेवा धर्म का पूर्ण विवेचन न कर पाने के कारण यही कहा जा सकता है—"सेवाधर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः"

संत तुलसीदास भी कहते हैं—"सेवा धरम कठिन जग जाना"

दान

तत्त्वार्थसूत्रकार ने दान की यह परिभाषा की है—"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्"[१४५] अर्थात् अनुग्रह के निमित्त अपनी वस्तु का त्याग कर देना ही दान है। बहुत पुरानी उक्ति है—"दिवानिश जल-संग्रह में निरत सागर को रसातल में स्थान मिला, इसके विपरीत जल ग्रहण कर पृथ्वी-मण्डल पर बरस कर असंख्य प्राणियों का उपकार करके बादल आकाशगामी बनकर गौरव से नभोमण्डल में गर्जन करता है।"[१४६]

दान के दाता (देने वाला), पात्र (लेने वाला), विधि विशेष द्रव्यादि के विवेकपूर्वक इस धर्म को धारण किया जाता है।

दाता

दाता के सम्बन्ध में स्कन्ध पुराण के अनुसार—अपरोगी, धर्मात्मा, दित्सु (देने का इच्छुक), अव्यसन, शुचियुक्त, अनिंद्य आजीविका वाला "दाता" प्रशस्त होता है, इसके विपरीत अधम होता है।[१४७] जैनागम स्थानांग में भी मेघ की तरह चार प्रकार के व्यंक्ति बताये हैं—

- कुछ बोलते हैं, देते नहीं।
- कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं।
- कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं।

● कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।[१४८]

दाता की विशेषता यही है कि दाता के दिल में देने वाले के प्रति श्रद्धा हो तथा वस्तु त्यागदेने के बाद उसके प्रति दाता के मन में किसी प्रकार असूयाभाव न जगे, कोई विषाद न हो, साथ ही दान करने के बाद दाता किसी फल की आकांक्षा न करे।[१४९]

पात्र

पात्र के सम्बन्ध में पुराणों में गुणवान् ब्राह्मण को पात्र कहा है। परम श्रेष्ठ विप्र यदि आचारहीन है तो वह भी पात्र नहीं है। भस्म में हवि के समान ही उसे दान देना उचित नहीं है। ऊसरभूमि में बोया बीज, टूटे हुए बर्तन में दोहन किया हुआ दूध, भस्म में हवन किया हुआ हव्य और मूर्ख विप्र को दिया हुआ दान अशाश्वत्, अस्थायी एवं निष्फल होता है। उससे हीन (कुपात्र में) तथा अपात्र में जो कोई प्रतिग्रह (दान) देता है, उसका वह दान ही नहीं बल्कि शेष पुण्य भी नष्ट हो जाता है। विद्वान पुरुष को प्रतिग्रह लेने में भय करना चाहिए। स्वल्प भी प्रतिग्रह से दलदल में फंसी हुई गौ के समान उत्पीड़ित हो जाता है। विद्या, तपश्चर्या, सच्चरित्रता जिसमें विद्यमान हो, वही वस्तुतः पात्र कहा जाता है। इस प्रकार से सुपात्र में दिया गया दान दिनों-दिन बढ़ता है। इससे भी ज्यादा पात्र योगी को बताया है—श्राद्धभोगी एक सहस्त्र ब्राह्मणों के सम्मुख, एक भी योगी हो तो वह यजमान सहित सबका उद्धार कर देता है।[१५०]

गुणों के आधार पर ही पात्रत्व का निर्धारण जैन धर्म में भी है। हरिभद्र सूरि के अनुसार व्रत पालक, साधुवेश में स्थित, सदा अपने सिद्धान्त के अविरुद्ध चलने वाले जन दान के पात्र हैं, उनमें भी विशेषतः वे जो अपने लिए भोजन नहीं पकाते। जो कार्य करने में अक्षम हैं, अन्धे हैं, दुःखी हैं, विशेषतः रोग पीड़ित हैं, निर्धन हैं, जिनके जीविका का कोई सहारा नहीं है, ऐसे लोग भी दान के अधिकारी हैं।[१५१]

दान के प्रकार

इनके अतिरिक्त दान के प्रकारों पर भी विचार किया गया है। पुराणों में द्रव्य (देय वस्तु) की पवित्रता-अपवित्रता के आधार पर कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ ये तीन प्रकार बताये हैं तथा भूदान, अन्नदान, जलदान आदि को भी महत्वपूर्ण बताया है।[१५२] अन्न, जल आदि दान से पुण्य प्राप्ति का उल्लेख जैनागमों में भी है।[१५३]

सर्वश्रेष्ठ दान

पुराण तथा जैन धर्म के अनुसार सर्वश्रेष्ठ दान अभयदान है। पुराणों में कहा गया है—एक ओर तो समग्र दक्षिणायुक्त दान है (अन्य सभी दान), और एक ओर भयभीत (डरा हुआ) प्राणी के प्राणों का संरक्षण है। दुनियाँ में जमीन, सोना, अन्न

और गायों का दान देने वाले तो आसानी से मिल सकते हैं, लेकिन भयभीत प्राणियों की प्राणरक्षा करके उन्हें अभयदान देने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते हैं।[१५४] अभयदान को जैन धर्म में भी बहुत ज्यादा महत्व मिला है। सूत्र कृतांगसूत्र में अभयदान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा है। प्रश्नव्याकरण उत्तराध्ययन में भी इसका समर्थन किया गया है। सोने के सुमेरु पर्वत और सम्पूर्ण पृथ्वी का दान भी एक व्यक्ति को दिए गये जीवनदान की तुलना में नगण्य है। वस्तुतः अभयदान का क्षेत्र सभी दानों से विस्तृत है। दूसरे दानों से मनुष्य या प्राणी अस्थायी सन्तोष पाता है, किन्तु अभयदान तो जिन्दगी का दान है।[१५५]

दान का महत्व

सांसारिक पदार्थों की तीन ही गतियाँ हैं—दान, भोग या नाश; भोग से भी विनाश ही होता है। मात्र दान द्वारा वह कुछ सफल होता है, क्योंकि स्वयं उपभोग करने से दान सौ गुणा सुख देने वाला है। दान की विशेषता यह है—कोई भी दानशील क़रोड़ों और सहस्रों पर्वत के बराबर सुवर्ण का दान करे और उसमें श्रद्धाभाव न हो तो वह व्यर्थ एवं फल-शून्य ही होता है; वस्तु का अल्पत्व या बहुत्व अविचारणीय है। दान से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। अपने हाथ से भूमि में प्रक्षिप्त धन की तरह वह दूसरे देह में प्राप्त होता है। पुष्ट देह प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं, यदि दान के रूप में परोपकार नहीं किया या उपयुक्त पात्र को दान नहीं दिया। अतः धन और जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि सत्पात्र को दान दिया जाए, दान से धन का कभी क्षय नहीं होता। धन का क्षय केवल अपने पूर्वजन्म के हीन कर्मों से होता है।[१५६]

जैन धर्म में भी दान धर्मके चार पदों में प्रथम पद है। यदि दान में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की निर्मलता (शुद्धि) हो तो उसका अनुपम एवं अतुलनीय प्रभाव बताया है। उत्तम श्रद्धा, निर्मल हृदय, संयत आत्मा और विनम्र भावना आदि गुणों से युक्त सत्पात्र में स्वल्पदान भी इसी प्रकार फलोभूत होता है जैसे वटवृक्ष का अत्यन्त छोटा-सा बीज एक विशाल वट को जन्म देता है। ऐसे दान के द्वारा बुद्धिमान लोग संसार के दुःखरूपी समुद्र को ठीक वैसे ही पार कर जाते हैं जैसे सुनिर्मित जलयान द्वारा व्यापारी लोग सरलता से समुद्र पार कर जाते हैं। निष्काम तथा निस्वार्थ भाव से देने वाला और लेने वाला दोनों ही दुर्लभ हैं। ये दोनों ही सद्गति को प्राप्त करते हैं।[१५७]

शौच

जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए शौच अर्थात् पवित्रता आवश्यक है। शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तरिक। सत्यता से अर्जित

द्रव्य से प्राप्त आहार की, अच्छे व्यवहार से आचरणों की, जलमृतिका आदि से शरीर की शुद्धि "बाह्य शौच" कही जाती है। राग-द्वेष, कपट आदि मनोविकारों के नष्ट होने पर अंतःकरण के निर्मल हो जाने को "आभ्यन्तरिक शौच" कहा जाता है। इन दोनों में आत्म-कल्याण का हेतु अन्तरशौच ही पुराण तथा जैन धर्म में माना है।

पुराणों में स्पष्ट कहा है "न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा" अर्थात् अन्तरात्मा जल के द्वारा शुद्ध नहीं होती। इसकी पुष्टि हेतु कई उदाहरण भी पुराणों में प्रस्तुत हैं—रात-दिन जल में निमज्जन करने वाले कैवर्त जाति के लोग क्या पावन हो जाते हैं? अहर्निश भस्म से धूसर रहने वाले रासभ (गधा) क्या पवित्र कहे जाते हैं? प्रतिसमय जल में ही स्थित रहकर अवगाहन करने वाले शैवल, झषक (मछली), मत्स्य और मत्स्योपजीवी प्राणी क्या विशुद्ध हो जाते हैं ? मन का मैल हटाने पर ही वास्तविक निर्मलता प्रादुर्भूत होती है। शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह परात्मता, ईर्ष्या, अवमान, विचिकित्सा, कृपणता, असूया, जुगुप्सता ये द्वादश मानसमल हैं जो बुद्धि का नाश करते हैं। इन मलों का नाश करने वाला ही वास्तविक तीर्थ है। जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को पूर्णतया जीत लिया, अपने को काबू में किया वह जहाँ भी रहे, उसके लिए वही स्थल परम पवित्र कुरुक्षेत्र, नैमिषद् और पुष्कर है।[१५८] धर्म को धारण करने वाले संत महापुरुष ही वास्तविक तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि इनके दर्शन मात्र से कल्याण हो जाता है। आभ्यन्तर तीर्थ भी निरूपित है—आत्मा ही एक नदी तुल्य है जो संयम स्वरूप पुण्य तीर्थों वाली है, सत्य इसमें उदक है, शील तथा क्षमादि से समन्वित इस नदी में स्नानकर्ता महान् पुण्य कर्मों वाला होता है। स्कन्द पुराण में लोपामुद्रा की जिज्ञासा का समाधान करते हुए अगस्त्य ने मानस तीर्थ वर्णित किये हैं, उनके अनुसार क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, दया, सरलता, दान, दम, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धैर्य, तपश्चर्या आदि सभी मानस तीर्थों में सर्व प्रमुख है—मन की शुद्धता। जिसका मन शुद्ध है, वही शुद्ध है। लिंग पुराण के अनुसार भावपूर्वक आत्मज्ञान रूपी जल में स्नान करके, सुन्दर वैराग्यरूपी मृतिका का लेपन करना चाहिए। ऐसे शुचि-सम्पन्न शुद्ध व्यक्ति को ही सिद्धियाँ मिलती हैं। भावदुष्ट प्रलय पर्यन्त भी सरित-सरोवर-तड़ागों में नहाता रहे तो भी शुद्ध नहीं होता। मनुष्य का चित्त जो कमल के समान है तथा तम से प्रसुप्त है, जब इसका विकास ज्ञानरूपी सूर्य की दीप्ति से हो जाता है, तभी वह शुचि प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गरुड़ पुराण में भी ब्रह्म ध्यान, इन्द्रिय-नियंत्रण, भाव-शुद्धि को तीर्थ मानते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूपी सरोवर में, ध्यानरूपी जल से जो राग-द्वेषरूपी मल का अपहरण करने वाला है, नित्य इस मानस तीर्थ में स्नान करने वाला वह मनुष्य परम गति को प्राप्त करता है।[१५९]

पुराणों के उपर्युक्त मन्तव्य के समान ही जैन धर्म का भी आशय है कि जल से आत्म-विशुद्धि कभी नहीं होती। तीर्थ की परिभाषा इस प्रकार है— जो संसार-सागर

से तिराने वाला है, वह तीर्थ (धर्म तीर्थ) है। इस धर्म तीर्थ के संस्थापक को तीर्थंकर कहा जाता है। धर्मसम्पन्न होने से साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकारूप चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा जाता है तथा पुराणवत् आन्तरिक तीर्थ भी वर्णित है। अकलुषित आत्मा को प्रसन्न करने वाली शुभ लेश्या (भाव) रूप धर्म जलाशय और ब्रह्मचर्य रूप शांतितीर्थ है जहाँ स्नान करके विशुद्धि और शीतलता प्राप्त करके पाप हरते हैं। तत्व-ज्ञानियों ने यह स्नान देखा है, यही महास्नान है जिसकी ऋषियों ने प्रशंसा की है, इसी में स्नान करके महर्षि लोग विमल और विशुद्ध होकर उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं।"[१६०]

निष्कर्षतः इन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा क्षमा, तप, सत्संग सेवा, दान, शौच आदि सामान्य आचारों के सन्दर्भ में पुराण तथा जैन धर्म में कितना साम्य है—यह पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है। इन सामान्य आचारों को पर्याप्त महत्व देते हुए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में धारण करने योग्य बताया गया है।

□□□

सन्दर्भ-सूची

आचार प्रभवो धर्मः—

आगमानां हि सर्वेषाम् आचारः श्रेष्ठ उच्यते

आचार प्रभवो धर्मः____ ॥ —महाभारत अनु. पर्व १०४

(अ) यज्ञ-दानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये

भवन्ति यः समुल्लंघ्य सदाचारं प्रवर्तते ॥

पुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दते

कार्यो यत्नः सदाचार आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

× × × ×

असौ सदाचारतरू सुकेशिन्संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता ॥

—वामन पुराण (श्रीराम शर्मा) खण्ड (१), पृ. १७७, अध्याय १४, श्लोक १६-१९

(ब) सदाचारो हि सर्वानामाचाराद्विच्युतः पुनः ॥

तस्माद्विप्रेण सततं भाव्यमाचारशीलिना ।

विद्वेष-रागरहिता अनुतिष्ठति ये मुने ! ॥

सिद्धावस्तं सदाचार धर्ममूलं विदुर्बुधाः

लक्षणैः परिहीनोऽपि सम्यगाचारतत्परः ॥

× × × ×

दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान्भवेत् ॥

व्याधिभिश्चाभिभूयेत सदाल्पायुः सुदुःखभाक्

त्याज्यं कर्म पराधीन कार्यमात्मवशं सदा ॥

—स्कन्द पुराण (१) पृ. ४५३-४५४, अ. ४० श्लो. ११-१६

(स) शिव पुराण (२) पृ. ४५०

कल्याण-शिव पुराणांक पृ. ५१२, जनवरी, १९६२

(द) वेदो वा हरिभक्तिर्वा भक्तिर्वापि महेश्वरे

आचारात्पतितं मूढं न पुनाति द्विजोत्तमाः ॥

पुण्यक्षेत्राभिगमनं पुण्यतीर्थ-निवेषणम्

यज्ञो वा विविधो ब्रह्मस्त्यक्ताचारं न रक्षति ॥

आचारात्प्राप्यते स्वर्गं आचारात्प्राप्यते सुखम्

आचारात्प्राप्यते मोक्षम् आचारात्कि न लभ्यते ॥ —नारद पुराण (१) पृ. ८२ श्लो. २५-२७

(य) स्कन्द पुराण (१) अ. ४० श्लो ११-१३

(र) पराश्रियाभितप्तानां दम्भाचाररतात्मनाम्

मृषा तु कुर्वतां कर्म तेषां दूरतरो हरिः ॥ —नारद पुराण (१) पृ. ७९-८० श्लो. १

(ल) सर्वधर्म वरिष्ठोऽयमाचारः परमं तपः
तदेव ज्ञानमुद्दिष्टं तेन सर्वं प्रसाध्यते ॥
त्यक्त्वाचारविधानोऽत्र वर्तते द्विजसत्तमः
स शूद्रवत् बहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः ॥
—देवीभागवत पुराण (१) पृ. ३१६ श्लो. १४-१५

३. सूत्रकृतांगसूत्र १.१२.११

४. उत्तराध्ययन २८.२, तत्वार्थ सूत्र १.१

५. आवश्यक निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु) श्लो. ९७-१०२

६. (अ) जहा सूणी पूईकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥
कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठ भुंजइ सूयरे
एवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥ —उत्तराध्ययन १.४-५

(ब) चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीलं परियागयं ॥ —उत्तराध्ययन ५.२१

७. (अ) अ. सर्वानन्द पाठक—"विष्णु पुराण का भारत" अष्टम अंश से उद्धृत

(ब) महाभारत, कर्ण ६९.५८

(स) "Dharma came to mean peculiar duties and privileges of a person as a member of aryan community, as a member of one of the varhas or as in a particular stage of life." —कल्याण धर्मांक पृ. १४५ से उद्धृत
"That which is worthy of being adopted and put into practice is Dharma." —Jaydayal Goyandka 'What is Dharma' p. 2.

८. दुर्गतिप्र-पतत्प्राणि-धारणाध्दर्म उच्यते। —योगशास्त्र २.११

९. (अ) एको हि जायते जन्तुरेक एव विपद्यते
धर्मस्तमनुयात्येको न सुतं न च बांधवाः ॥ —मत्स्य पुराण (२) पृ. २३५
आत्मैव न सहायार्थं पिता माता च तिष्ठति

(ब) न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मं तिष्ठति केवलम्
तस्माध्दर्मं सहायार्थं नित्य सश्चिनुसाधनैः
धर्मेणैव सहाय्यास्तु तमस्तरित दुस्तरम् ॥ —देवी भागवत पुराण (२) पृ. ३१६ श्लो. ७-८

(स) कुशला-कुशल कर्म धर्मा-धर्माविति स्मृतो।
धारणार्थे महान् ह्येष धर्मशब्दः प्रकीर्तितः ॥
× × × ×
अत्रेष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते ॥ —लिंग पुराण (१) पृ. १०१, श्लो. १२-१३

१०. अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥ —योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र) ४.१००

११. आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता ॥
ग्रामधर्मा जाति-धर्मा देशधर्मा कुलोद्भवाः
परिग्राह्या नृभिः सर्वे नैव नाल्लंघयेन्मुने ॥ —देवी भागवत पुराण (२) पृ. ३१६ श्लो. १६-१७

१२. दसविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा
गामधम्मे, णगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, गणधम्मे,
संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकाय धम्मे। —स्थानांग सूत्र १०.१३५

१३. तत्त्वार्थसूत्र ७.१३

१४. अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा
आकामादपि हिंसेत यदि भिक्षुः पशून् मृगान्
कृच्छ्रातिकृच्छ्र कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥—वायु पुराण, पूर्वार्ध १८.१३

१५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्य अमृतचन्द्र)
अनु. नाथुराम प्रेमी—पृ. २५ श्लो. ४३

१६. एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं—सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, ११ अध्याय, श्लोक १०
प्रश्नव्याकरण सूत्र २.१
सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कंध, ८वाँ अध्याय सूत्र २० एवं ५वाँ अध्याय, उद्दे सू ३-५

१७. (अ) सव्वे पाणा पिआउआ,
सुहसाया दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाए-ज्ज कंचणं —आचारांग १.२.३
(ब) तुमंसि नाम तं चेव जं हन्तव्वं ति मंन्नसि
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि
—आचारांग १.५.५ एवं १.३.३, १.४.२, १.१.४

१८. (अ) यजन्ययज्ञान्यजत्येनं जपत्येनं जपन्नृप
निघ्नन्नन्याह्निनस्त्येनं, सर्वभूतो यतो हरिः ॥
—विष्णु पुराण अंश ३, अ ८, श्लो. १० एवं १४-१७-२४
(ब) हिंसा भार्या त्वधर्मस्य ततो यज्ञे तथानृतम्
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च ॥
माया च वेदना चैव मिथुनं त्विदमेतयोः
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥
वेदना स्वसुतं चापि दुःख यज्ञेऽथ रौरवात्
मृत्यो व्याधि-जराशोक-तृष्णा-क्रोधाश्च जज्ञिरे ॥
दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्म-लक्षणाः ॥
—विष्णु पुराण प्रथम अंश, अ. ७ श्लो. ३२-३५ एवं मार्कण्डेय पुराण ४७.२९-३२

१९. (अ) अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा
तस्य पापागमस्तात ! हेत्वभावान्न विद्यते ॥ —विष्णु पुराण (१) पृ. २०९ १.१९.५

(ब) सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजः
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम् ॥ —वही पृ. ४०३ श्लो. २४

(स) परापवादं पैशुन्यमनृतं च न भाष्यते
अन्योद्वेगकरं चापि तोष्यते तेन केशवः ॥—वही, पृ. ४०१ तृतीय अंश, अ ८ श्लो. १३

२०. वाया दुरुत्ताणि दुरुध्दराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि। —दशवै कालिक ९.३.७

२१. (अ) मनसा कर्मणा वाचा सर्वदाऽहिंसकं मतं ॥
रक्षन्ति जन्तवः सर्वे, हिंसकं बाध्यन्ति च
त्रैलोक्यमखिलं दत्वा यत्फलं वेदपारगे
तत्फलं कोटिगुणितं लभतेऽहिंसको नरः ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूते हिते रता ॥ —लिंग पुराण (२) पृ. ४९४ श्लो. ८-१०

(ब) विष्णु पुराण प्रथम खण्ड, प्रथम अंश १९.६

(स) धर्ममूलमहिंसा च मनसा तां च चिन्तयन्
कर्मणा च तथा वाचा तत एतां समाचरेत् ॥
—स्कन्द पुराण (२) पृ. ११, अ. ४४ श्लो, १९

(द) मनसा मर्गणा वाचा बाधते यः सदा॑रान्
नित्य कामादिभियुक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः —नारद पुराण (१) पृ. ९० श्लो. ७३

२२. अग्नि पुराण, अ. ३७२ श्लो. ४

२३. आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्
अमृतवचनाकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४२

(अ) सव्वओ वि नईओ कमेण जह सायरम्मि निवडंति,
तह भगवइ अहिंसा सव्वे धम्मा सम्मिल्लंति ॥ —सम्बोधसत्तरी ६

(श्रा) मधुकर मुनि 'जैन धर्म की हजार शिक्षाएँ' पृ. ४२)

(ब) तुंगं न मन्दराओ, आगारसाओ विसालयं णत्थि
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसा समं णत्थि ॥ —समणसुत्तं पृ. ४६, श्लो. १५८

२४. चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु
अहिंसायान्तु, यो धर्मो गमनादेव तत् फलम् ॥ —मत्स्य पुराण, अ. १०५, श्लो. ४५

२५. (अ) "अप्पेगे हिंससु मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिसिस्संति मे त्ति वा वहंति।" —आचारांग १.२.६

(ब) कुध्दा हणंति, लुध्दा हणंति, मुध्दा हणंति। —प्रश्नव्याकरण १.१

२६. तन्तुभिर्मिश्रिता ह्यापः सूक्ष्माभिस्तानि सत्यतु
यत्पापं सनलं चाद्भिरपूताभिश्चिरं लभेत् ॥
सम्मार्जने तथा नृणां मार्जने च विशेषतः अग्नौ कण्डके चैव पेषणे तोयसंग्रहे ॥

हिंसा सदा गृहस्थानां, तस्माद् हिंसा विवर्जयेत्
अहिंसेयपरो धर्मः सर्वेषा प्राणिनां द्विजाः ॥
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन वस्त्रपूतं समाचरेत्
तद्दानम पुण्यं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ॥

—लिंग पुराण (२) ४९३ श्लो. ४-७

२७. (अ) अट्ठा हणंति अणट्ठा हणंति । —प्रश्न व्याकरण १.१

(ब) —विष्णु पुराण (१) पृ. ३५५, २.१६.३१

(स) बी. उवेह एणं बहिया य लोग, से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णु । —आचारांग १.४.३

२८. मत्स्य पुराण १४२.१२

मत्स्य पुराण १४२.१३, २१, २९, ३०

२९. (अ) भो ! भो ! प्रजापते ! राजन् ! पशून् पश्य त्वयाध्वरे
संज्ञापिताञ्जीवसंधान् निर्घृणा न सहस्रशः ।
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव
सम्परेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥ —भागवत पुराण
("श्री अमोलक ऋषि जी म. जैन तत्व प्रकाश" पृ. ४३८)

(ब) देवापहार व्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥ —वही

(स) हिंसा नाम भवेद् धर्मो, न भूतो न भविष्यति ॥ —वही

३०. योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) श्लो. ३३-४७

३१. सुसंवुडो पंचहि संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणे
वोसट्ठकाओ सुइ चत्त देहो, महाजय जयइ जण्णसिट्ठ ॥
तवो जोइ जीवो जोइ ठाणं, जोगासुया सरीरकारिसंगं
कम्मेहा संजम जोग संती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥ —उत्तराध्ययन १२.४२, ४४

३२. (अ) ध्यानाग्नौ जीव कुण्डस्थे दममारुत दीपते
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥
कषायपशुभिर्दुष्टै धर्मकर्मार्थनाशकैः
शममंत्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥ —भागवत

(ब) विष्णु पुराण ६.१८.२७

३३. वर प्राणास्त्याज्यं न बत परिहिंसात्वभिमता ।

—वामन पुराण (२) पृ. ९२, अ. ५९ श्लो. २९

३४. (अ) हरिवंश पुराण २.९४.४१

(ब) शिव पुराण (२) पृ. २००-२०३, श्लो. २३-३६

(स) मार्कण्डेय पुराण ३.४८

३५. (अ) तं सच्चं भगवं —प्रश्न व्याकरण २.२

(ब) सच्चं.........लोगम्मि सारभूयं, गम्भीरतर महासमुद्दाओ । —प्रश्न व्याकरण २.२

(स) "विसस्सणिज्जो माया व होइ, पुज्जो गुरुव्व लोगस्स

सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होई पिया"
—भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक—९९ —जैन धर्म की हजार शिक्षायें—पृ. ४६

(द) योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश, श्लो. ६३-६४

(य) सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं
सच्चं सग्गद्दारं सच्चं सिध्दीइ सोपाणं॥ —जैन धर्म की हजार शिक्षाएं—पृ. ४६

(र) एकत: सकलं पापमसत्योत्थं ततोन्यत:
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलाया धृतयोस्तयो:॥
ज्ञानार्णव (आचार्य शुभचन्द्र) पृ. १२६

(ल) मुसावाओ उ लोगम्मि सव्वासाहुहिं गरहिओ। —दशवैकालिक ६.१३

(व) अलियवयणं......
अयसकरं, वेरकरगं......मणसंकिलेवियरणं। —प्रश्न व्याकरण १.२

(क्ष) जे ते उ वाइणो एवं न ते संसारपारगा —सूत्रकृतांग १.१.१.२१

३६. (अ) तस्मात्सत्यं वदेत्प्राज्ञं यत्परप्रीतिकारणम्
सत्यं यत्परदु:खायं तत्र मौनपरो भवेत्॥
प्रियमुक्तं हितं नैतदिति मत्वा न तद्वदेत्
श्रेयस्तत्र हितं वाच्यं यद्यप्यत्यन्तप्रियम्॥ —विष्णु पुराण (१) पृ. ४४०, ३.१३ ४३-४४

(ब) विष्णु पुराण ४.९.४-६

३७. सतीशचन्द्र जोशी —श्री भविष्य पुराण पृ. १६

३८. (अ) भासियव्वं हियं सच्चं —उत्तराध्ययन १९.२७

(ब) सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च। —प्रश्न व्याकरण २.२

(स) अप्पणो थवणा, परेसु निन्दा। —प्रश्न व्याकरण २.२
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति —सूत्रकृतांग १.६.२३
सादियं न मुसं बूया —वही १.८.१९
डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा "जैन धर्म में अहिंसा" पृ. १२४

३९. हरिवंश पुराण २.४३-९०; २.७१-६-७

४०. इमाइं छ अवयणाइं नो वदित्तए
अलियवयणे, हीलियवयणे,
खिंसितवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए। —स्थानांग ६.३
सच्चंमि धिइ कुव्वहा। —आचारांग १.२.३
सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ। —वही १.३.३

४१. अनादानं परस्वानामपद्यपि विचारत
मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासत:॥ —लिंग पुराण (१) ६९, श्लो. १५

४२. दंत सोहणमइस्स, अदंतस्स विवज्जणं। उत्तराध्ययन सूत्र १९.२८

४३. वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनानां हि हरणम्। —वामन पुराण (२) पृ. ९२, ५९-२९

४४. योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश, ६७, ६९, ७४, ७५

४५. सतीशचन्द्र जोशी —श्री भविष्य पुराण—पृ. ८८

४६. योगशास्त्र—द्वितीय प्रकाश ७१

४७. (अ) अदुवा अदिन्नादाणं। आचारांग १.३

(ब) एकस्यैकक्षणं दुःखमार्यमाणस्य जायते
सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हते धने॥ —योगशास्त्र २.६८

४८. नोचितं हि विधानं वै विवाहकरणं नृणाम्
महानिविडसंज्ञो हि विवाहो दृढ-बंधनः॥ —शिव पुराण (१) श्लो. ६०

४९. मैथुनस्याप्रवृतिर्हि मनो वाक्कायकर्मणा
ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतिनां ब्रह्मचारिणाम्॥ —लिंग पुराण (१) पृ. ६९, श्लो. १६

५०. डॉ. ओम प्रकाश नीखरा —'हरिवंश पुराण में धर्म' पृ. ३९-४०, ३८

५१. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया,
हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेर,
विमुक्क-पर-देह-तित्तिस्स॥

भगवती आराधना ८७८ (जैन धर्म की हजार शिक्षाएं पृ. ५१)

५२. अमोलक ऋषिजी म. "जैन तत्व प्रकाश" पृ. १६९

५३. डॉ. ओम प्रकाश नीखरा —'हरिवंश पुराण में धर्म' पृ. ४१

५४. (अ) द्रव्यब्रह्म अज्ञानिनां वस्तिनिग्रहः,
मोक्षाधिकारशून्यत्वात्। उत्तराध्ययन चूर्णि १६

जैन धर्म की हजार शिक्षाएं, पृ. ५१

(ब) नाल्पसत्वैर्न निःशीलैर्न्दीनैर्नाक्षनिर्जितैः
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं, ब्रह्मचर्यमिदं नरैः॥ —ज्ञानार्णव पृ. १३३

(स) स एव भिक्खू, जो सुध्दं चरति बंभचेरं। —प्रश्न व्याकरण २.४

५५. (अ) भोगेन तृप्ति नैवास्ति विषयाणां विचारतः
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनसा कर्मणा गिरा॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
तस्मात्त्यागः सदाकार्यस्त्वमृतत्वाय योगिना
अविरक्तो यतो मर्त्यो नानायोनिषु वर्तते॥ —लिंग पुराण (१) पृ. ७१ श्लो. २४-२६

(ब) वर्द्धते विषयशश्वन्महाबंधनकारिणः
विषयाक्रान्तमनः स्वप्ने मोक्षोऽपि दुर्लभः॥
सुखमिच्छतु चेत्प्राज्ञो विधिवद्विषयान्त्यजेत्
विषवद्विषयानाहुर्विषयैर्निहन्यते नरः॥
जनो विषयिणां साकं वार्तातः पतति क्षणात्
विषयं प्राहुराचार्यास्मितालिप्तेन्द्रवारुणीम्॥ —शिव पुराण (१) श्लो. ६३-६५

५६. सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दोग्गइं॥ —उत्तराध्ययन ९.५३

५७. तेल्लोक्काउ विउहणो, कामग्गिविसयरुक्खपज्जलिओ

जोवणतणिल्लचारी, जं ण उहइ सो हवइ धण्णो

—श्रमणसूत्र ज्योतिर्मुख, धर्मसूत्र, पृ. २८ श्लोक ११७

सव्वंगं पेच्छतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं

सो बम्हचेर भाव, सुक्कदि खलु दुध्दरं धरदि॥ —वही, श्लो. १११

५८. (अ) श्री विश्वनारायण शास्त्री

—'कालिका पुराणम्' पृ. ६-७ १.५४-५८

(ब) विष्णु पुराण (१) ४.२.११४-१२४

५९. (अ) नरस्य बंधनार्थाय स्त्रीशृंखला प्रकीर्तिता॥

लोह बध्दोऽपि मुच्येत, स्त्रीबध्दो नैव मुच्यते।

—देवीभागवत पुराण (१) पृ. ३७०, श्लो. ३१-३२

(ब) लोहदारुमयैः पाशैर्दृढं बध्दोऽपि मुच्यते

स्त्र्यादिपाशसम्बन्धो मुच्यते न कदाचन॥

—शिव पुराण (१) श्लो. ६२

(स) प्रवृत्तेरनुरागस्य नारी मूल महेश्वर

रामापरिग्रहात् पश्चात् कामक्रोधादिको भवेत्॥

—श्री विश्वनारायण शास्त्री "कालिका पुराणम्" पृ. ४९ ९.३५

(द) मूत्रोत्सर्गकालेषु बहिर्भूमौ यथा मतिः

तया कार्या रतौ चापि स्वदारे चान्यतः कृतः॥

अंगारसदृशी नारी घृतकुंभसमः पुमान्

तस्मान्नारीषु संसर्गः दूरतः परिवर्जयेत्॥ —लिंग पुराण (१) पृ. ७१, श्लोक २२-२३

६०. योगशास्त्र, पृ. ५८ श्लो. ८४-८६

६१. वरं क्लीवैर्भाव्यं न च परकलत्रभिगमनम्। —वामन पुराण (२) पृ. ९२, ५९.२९

त्याज्यं धर्मान्वितैर्नित्यं परदारोपसेवनम्

नयन्ति परदारास्तु नरकानेकविंशतिम्॥ —वामन पुराण (२) पृ. १८७, ६६.३७

६२. (अ) "नासक्त्या सेवनीया हि स्वदारा अप्युपासकैः

आकरः सर्वपापानां किं पुनः परयोषितः" —योगशास्त्र पृ. ६०, २.९३

(ब) 'ऐश्वर्यराजराजोऽपि रूपमीनध्वजोऽपि च

सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः परः" —वही, पृ. ६३, २.१०२

(स) "वह बन्धन उब्बंध नासिंदियछेय धणक्खयाइया

परदाराओ बहुहा कयत्थणाओ इह भवंमि।

परलोए सिंबलितिक्खकंटगालिगणाइ बहुरूवं

नरयंमि दुहं दुस्सहं परदाररया लहंति नरा"

सम्बोध प्रकरण ४४-४५

(रतनलालजी डोशी मोक्ष मार्ग भाग १ से)

६३. कूर्म पुराण (१) पृ. ६५, श्लो. ७७

६४. हरिवंश पुराण १.४५ ३७-३८ १.४४ ३९-४०, १.४३ ८२-९१

६५. (अ) तवेसु वा उत्तम बंभचेरं। —सूत्रकृतांग १.६.२३

(ब) जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं___
जंमिय आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं___ —प्रश्न व्याकरण २.४

(स) देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा
बंभयारि नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥ —उत्तराध्ययन १६-१६

(द) कालिकारओ वि जणमारओ वि सावज्जजोगविरओवि
जं नारओ विसिज्जइ तं खलु सीलस्समाहप्पं ॥

सम्बोध प्रकारण ४३

(रतनलालजी डोशी "मोक्षमार्ग" भाग १ से)

६६. (अ) पतिव्रतायाश्चरणौ यत्र यत्र स्पृशेद्भुवम्
तत्र तत्र भवेत्सा हि पापहन्त्री सुपावनी ॥
विभु पतिव्रतास्पर्श कुरुते भानुमानपि
सोमो पवनश्चापि स्वपावित्र्याय नान्यथा ॥
आपः पतिव्रता स्पर्शमभिलष्यन्ति सर्वदा
अद्य जाड्यविनाशो नो जातस्त्वद्यान्यपावनाः ॥
गृहस्थस्य हि जिह्वेयो यस्य गेहे पतिव्रता
ग्रस्यतेऽन्यान्प्रतिदिनं, राक्षस्या जरया यथा ॥ —शिव पुराण___

(ब) ब्रह्म वैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण ८३.१२३

(स) वाराह पुराण २०९, ६-७

६७. यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा, वधस्य सर्वत्र संभावात् ॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहते तिला यद्वत्
बहवो जीवा योनौ, हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥

—आ. अमृतचन्द्र सूरि "पुरुषार्थ सिद्धयुपाय" श्लो. १०७, १०८

६८. (अ) नरेन्द्र भानावत 'अपरिग्रह विचार और व्यवहार' पृ. २९३

(ब) वही, पृ. ६३

६९. डॉ. ओमप्रकाश नीखरा —'हरिवंश पुराण में धर्म' पृ. ४७

७०. अपरिग्गह संवुडेणं लोगंमि विहरियव्वं । —प्रश्न व्याकरण २.३
भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्तो । —उत्तराध्ययन ४.६

७१. दशवैकालिक ६.२१

७२. (अ) दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होई तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ —उत्तराध्ययन ३२.८

(ब) सुक्क मूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयंगते ॥ —दशाश्रुत स्कन्ध ५.१४

७३. (अ) राज्यमुर्वी बलं कोशो मित्रपक्षस्तथात्मजाः
भार्या भृत्यजनो ये च शब्दाद्या विषयाः प्रभो ॥

सुखबुद्ध्या मया सर्वं गृहीतमिदमव्ययम्
परिणामे तदेवेशतायात्मकभून्मम ॥

—विष्णु पुराण (२) पृ. २६०, ५.२३, ४०-४१

(ब) हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते
यत्पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ॥
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ।

—लिंग पुराण (१) पृ. ४१०, श्लो. १७-१८

(स) जीर्यन्तः केशा दन्ता चक्षुः श्रोतश्च जायेते तृष्णैका निरुपद्रवा

—वही पृ. ४१० श्लो. २१-२२

इच्छति शति सहस्रं सहस्री लक्षमीहते
कर्तुलक्षाधिपती राज्यं राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम् ॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम्
भवितुं सुरपतिरूर्ध्वगातत्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥

—गरूड पुराण (२) पृ. २५४, २.१४-१५

७४. (अ) इच्छा हु आगाससमा अणंतिया । —उत्तराध्ययन ९.४८

(ब) कसिणं पि जो इमं लोय, पडिपुण्णं दल्लेज्ज इक्कस्स
तेणावि से संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ —उत्तराध्ययन—८.१६

७५. पञ्चेन्द्रियाणि-पञ्चाश्वाः शरीर रथ उच्यते
आत्मा रथी कशा ज्ञानं सारथिर्मन उच्यते ॥
अश्वान् सुदान्तान् कुर्वीत सारथि चात्मनो वशम्
कशा दृढा सदा कार्या शरीरस्थिरता तथा ।

—श्री विश्वनारायण शास्त्री 'कालिका पुराणम्", पृ. ६२२, ८४.१८-१९

७६. जे सिया सन्निहिकामे, निही पव्वइए न से । —दशवैकालिक ६.१९

७७. (अ) एको लोभो महान्ग्राहो लोभात्पाप प्रवर्तते
लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्काम प्रवर्तते ॥
लोभान्मोहश्च माया च मानस्तम्भपरेप्सुता
अविद्यामज्ञता चैव सर्वलोभात्प्रवर्तते ॥
हरणं परित्तानां, परदाराभिदंशनम्
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा ॥
तस्मात्यजति ये लोभन्तेऽतिक्रामति सागरम् ।

स्कन्द पुराण (१) पृ. २१५-२१७, १५.९९"१०८

(ब) कुरंगमातंगपतंगभृंगमीना हता पंचभिरेव पंच
एकः प्रमादी सकथं न घात्यो यः सेवते पंचभिरेव पंच ॥

—गरुड़ पुराण (१) पृ. ४१२, ७१, २१

७८. लोभ-कलि-केसाय-महक्खधी,
चिंतासयनिचय विपुलसालो । —प्रश्न व्याकरण १.५

७९. आरंभपूर्वको परिग्रहः । —सूत्रकृतांगचूर्णि १.२.२

८०. (अ) मनुस्मृति ६.९२

(ब) स्थानांग —१०.१६

८१. (अ) हरिवंश पुराण —३.४.४४

(ब) भागवत पुराण —१.१७.२४-२५

शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः

व्रतोपवासमौनं च स्नानं च नियमा दश। —लिंग पुराण (१) पृ. ७२, श्लो. २९-३०

८२. हरिवंश पुराण २.५१.३८ ३.११२.१६, ३.११२.१८-१९

८३. (अ) मानापमानौ यावेतौ प्रत्युद्वेगकरौ नृणाम्

तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ ॥

—धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री 'मार्कण्डेय पुराण' ३८.२

(ब) सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

—नारद पुराण (१) पृ. ४८५, श्लो. ९४

(स) यदापरान्न बिभेति परे चास्मान्न विभ्यति ॥

यदा न निन्देन्न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा। —लिंग पुराण (१) पृ. ४१० श्लो. १९-२०

(द) अमृष्टं जायते मृष्टं मृष्टादुद्विजते जनः

आदिमध्यावसानेषु किमन्नं रुचिकारकम् ॥ —विष्णु पुराण (१) पृ. ३५४, २.१५.२८

(य) विष्णु पुराण १.१.२०

८४. (अ) यो परेषां नरो नित्य मतिवादांस्तितिक्षति

देवयानि विजानीहि, तेन सर्वमिदं जितम् ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा

स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्नयो, रश्मिषु लम्बते ॥

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन नियच्छति

यो कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युश्चेतसः

नैतत् प्राज्ञस्तु कुर्वीत विदुस्तेन बलाबलम् ॥

—'कल्याण' —वर्ष ५८ संख्या १ पुराणांक पृ. १०३, २८.१-७

(ब) अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः

अमानुषेभ्यो मानुषश्च प्रधाने विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥

आक्रोश्यमानो नाक्रोशे मन्युमेव तितिक्षति

आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्यादरीत

ययास्य वाचा परः उद्विजते न तां वदेद् रुशतीं पापलौल्याम् ॥

अरुंतुदं पुरुष तीव्रवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्

विद्यादलक्ष्मी कतमं जनानां मुखे निषिध्दं निर्ऋतिं वहन्तम् ॥

—वही, पृ. १२७, ३६.६-९

८५. (अ) लाभालाभे सुहे दुक्खं, जीविए मरणे तहा

समा निन्दा पसंसासु, समो माणावमाणओ ॥ उत्तराध्ययन १९.९१

(ब) वियाणिया अप्पगमप्पएणं

जो रागदोसेहिं समो सपुज्जो।

—दशवैकालिक ९.३.११

(स) उवसमेण हणं कोहं

—दशवैकालिक ८.३९

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पिहु बहू होइ॥ आवश्यक निर्युक्ति १२०

८६. सामवेद, पूर्वार्चिक १.११.१०

(अ) श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति —अथर्ववेद ११.५.४

(ब) तैत्तिरीय आरण्यक ८.६

(स) श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातः —गोपथ ब्राह्मण १.१

(द) तपसा चीयते ब्रह्म —मुण्डकोपनिषद् १.१.८

८७. तपो हि परमं प्रोक्तं......सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते सर्वदा सुखम्॥

—शिव पुराण (२) पृ. २०२-२०५, श्लो. ३९-५१

८८. तवेण परिसुज्झई उत्तराध्ययन २८.३५

८९. यद् दुस्तरं यद् दुरापं, यद् दुर्गं च दुष्करं
सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमः॥ —मनुस्मृति ११.२३९

९०. ब्रह्मचर्यं तथा मौनं निराहारत्वमेव च
अहिंसा सर्वतः शान्तिस्तप इत्यभिधीयते॥ —लिंग पुराण (१) पृ. १०२, श्लो. १६

९१. श्री मिश्रीमलजी म.सा. "जैन धर्म में तप" पृ. ५३४

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भिंतरो तवो —उत्तराध्ययन सूत्र ३०.८

भगवती सूत्र २५.७ —जैन धर्म में तप—पृ. १३७-१३८

९२. पश्चात्तापः पापकृतं पापानां निष्कृतिः परा
सर्वेषां वर्णितं सद्भिः सर्वपापविशोधनम्॥
पश्चात्तापेनैव शुद्धिः प्रायश्चित्तं करोति सः
यथापदिष्टं साधुभिः सर्वपापविशोधनम्॥ —शिव पुराण माहात्म्य ३.५-६

९३. (अ) येन येन हि भावेन स्थित्वा यत्क्रियते तपः
ततस्संप्राप्यतेऽसौ तैरिह लोके न संशयः॥
सात्विकं राजसं चैव तामसं त्रिविधं स्मृतम्।—शिव पुराण (२) पृ. २१८, श्लो. ८-१३

(ब) निजदेहसुसंपीड्य देहशोषकदुस्सहैः
तपस्तामसमुदिष्टं मनोजि प्रेतसाधनम्॥ —शिव पुराण (२) पृ. २१८, श्लो. १४

९४. (अ) नन्नत्थं निज्जरट्ठयाए तपमहिट्ठेज्जा। —दशवैकालिक ९.४

(ब) सूत्रकृतांग १.७.२७

(स) श्री अमोलक ऋषिजी म.सा. "जैन तत्व प्रकाश" पृ. ६५७

(द) बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं नियुञ्जए॥ —दशवैकालिक ८.३५

(य) जैन धर्म की हजार शिक्षाएं—पृ. १८८

९५. (अ) हरिवंश पुराण, हरिवंश-पर्व १.४६.४३
(ब) वही, २.३२.१०
(स) वही, ३.२९.१

९६. (अ) सुदुद्धरं दुराराध्यं सुधुरं दुरतिक्रमम्
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ —शिव पुराण (२) पृ. २१७, श्लो. ६
(ब) वही, पृ. २०३, श्लो. ३९-४२
(स) सुरापः परदारी च ब्रह्महा गुरुतल्पगाः
तपसा तरते सर्वः पापतश्च विमुच्चति ॥ —वही, पृ. २०४, श्लो. ४५
(द) हरिवंश पुराण २.९४.४०-४१

९७. (अ) उत्तराध्ययन २८.३५
(ब) तवेणं वोदाणं जणयइ —उत्तराध्ययन २९.२७
(स) उत्तराध्ययन ३०.६

९८. (अ) तवेसु वा उत्तम बंभचेरं —सूत्रकृतांग १.६.२३
तन्निगृह्येन्द्रियग्रामं भूतग्रामं च पंचमम्
(ब) ब्रह्मचर्येण वर्तेत किमतः परमं तपः ॥ —हरिवंश पुराण १.४५.४०

९९. (अ) कुतः क्लमः कुतो दुःखं सद्भिः सह समागमे
सतान्तस्मान्न मे ग्लानिस्त्वत्समीपे सुरोत्तम ॥
साधूनां वाप्यसाधूनां सन्त एव सदागतिः
नैवासंत नैव सतामसन्तो नैवमात्मनः ॥
विषाग्नि सर्पशस्त्रेभ्यो न तथा जायते भयम्
अवतरणं जगद्वैरिखलेभ्यो जायते यथा ॥
सन्त प्राणानपि त्यक्त्वा परार्थं कुर्वते यथा
तथाऽसन्तोऽपि सन्त्यज्य परपीडासु तत्पराः ॥ —मत्स्य पुराण (२) पृ. २३०, श्लो. १-४
(ब) संपद्भिः संयुतावपि विपद्भिश्चापि सज्जनाः
सर्वथान्येन बाधन्ते स्वप्नेऽपि सुरसतमाः ॥
निःशंकः प्रोच्यते सद्भिरिहामुत्र च सत्तमाः ॥—नारद पुराण (१) पृ. ९० श्लो. ७०-७४
(स) पूर्वार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै
सत्संगतिर्भवेत्तस्य नान्यथा घटते हि सा ॥ —नारद पुराण (१) पृ. ८३, श्लो. ३६

१००. (अ) श्री मधुकर मुनि "जैन धर्म की हजार शिक्षाएं" —पृ. ९५
(ब) वही, पृ. ९५
(स) वही, पृ. ११५
(द) वही, पृ. ९५ —उत्तराध्ययन ३.१

१०१. (अ) सद्भिरासीत सततं सद्भिः कुर्वीत संगतिम्
सद्भिर्विवादं मैत्रीञ्च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ॥
पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञं सत्यवादिभिः
बंधनोऽपि तिष्ठरन् न तु राज्ये खलैः सह ॥
—गरूड पुराण (१) पृ. ३८१, ६९.२-३

(ब) हरति दुष्कृतसंचयमुत्तमां,
गतिमलं तनुते तनुमानिनाम्।
अधिकपुण्यवशादवशात्मनां,
जगति दुर्लभ साधुसमागम: ॥
हरति हृदयबंधकर्मपाशार्दितानां,
वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्।
जन्ममरणकर्मश्रान्तविश्रान्तिहेतु-
स्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभ: सत्प्रसंग: ॥

—स्कन्ध पुराण (१) पृ. ३५४, २९.११-१२

—नारद पुराण (१) पृ. ८३, श्लो. ३७

१०२. (अ) जैन धर्म की हजार शिक्षाएं पृ. ८७
(ब) अलसं अनुबध्दवैरं, सच्छदमती पयहीयव्वो—वही
सवणे नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धि ॥ —भगवती २.५

१०३. साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थादपि विशिष्यते
कालेन फलते तीर्थं सद्य: साधुसमागम: ॥ —गरुड़ पुराण (२) १४५, ११६.२३

१०४. धर्मार्थकामै: किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता
समस्तजगतां मूले यस्य भक्ति: स्थिरा त्वयि ॥ —विष्णु पुराण १.२०.२७

१०५. (अ) ज्ञाताधर्मकथा १६.१४
(ब) बी. जैन तत्व प्रकाश पृ. ५

१०६. श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ —भागवत पुराण ७.५.२३

१०७. धरम जैन "जैन धर्म में नवधा भक्ति" जयगुञ्जार, जन. ८४ से

१०८. आ. सिध्दसेन दिवाकर रचित कल्याण मंदिर स्तोत्र, श्लो. ७

१०९. दशवैकालिक ४.३४

११०. 'कल्याण' साधनांक पृ. १०९ —विष्णु पुराण का भारत

१११. आवश्यक सूत्र द्वितीय आवश्यक, "लोगस्स"

११२. "कल्याण साधनांक" पृ. ११०

११३. विष्णु पुराण २.६ ३८-४०

११४. मानतुंगाचार्य रचित "भक्तामर" स्तोत्र, श्लो. ९

११५. "विष्णु पुराण का भारत" नवमांश से

११६. वादिराज मुनि रचित "एकीभाव" स्तोत्र एवं सिद्धसेन कृत 'कल्याण मंदिर' स्तोत्र, श्लो. ४२

११७. विष्णु पुराण ५.७.६६-६९

११८. 'कल्याण' शिव पुराणांक, पृ. ५०३

११९. जैन धर्म की हजार शिक्षाएं, पृ. ८

१२०. मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेतारं कर्मभूभृताम्
ज्ञातारं विश्वतत्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ —तत्वार्थसूत्र मंगलाचरण

१२१. विष्णु पुराण ३.७.१८

१२२. भगवती सूत्र १.१

१२३. (अ) "कल्याण" साधनांक पृ. ११०

(ब) विष्णु पुराण २.३ २४-२५

१२४. भागवत पुराण ७.१०.४१

१२५. (अ) 'कल्याण' साधनांक १११

(ब) बी. डॉ. सर्वानन्द पाठक "विष्णु पुराण का भारत" नवमांश से

१२६. मित्ति से सव्वभूएसु —श्रमणसूत्र, धर्मसूत्र गा. ८६

१२७. विष्णु पुराण ३.७.१४.३३

डॉ. सर्वानन्द पाठक "विष्णु पुराण का भारत" नवमांश से

१२८. भक्तामर स्तोत्र, श्लो. ६

१२९. "श्रमण" जनवरी-मार्च, १९९४, पृ. २७

१३०. "कल्याण" जनवरी १९५८, पृ. ५६२.

१३१. (अ) नारद पुराण (१) पृ. १४४-१४५

(ब) पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रान्ति च करोति यः

पुत्रस्य च स्त्रियाश्चैव तीर्थं गेहे सुशोभनम् ॥

—शिव पुराण (१) पृ. ४२०-४२१ श्लो. ३७-४०

(स) पितरौ निन्दौ येश्चानिर्दैवास्ते न संशयः ॥ —स्कन्द पुराण (१) पृ. १३१, ९.३२

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्ति पितामूर्तिः प्रजापतेः

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता वै मूर्तिरात्मनः ॥

दीप्यमानः स्वयं पुषा देववद् दिवि मोदते ॥—मत्स्य पुराण (२) पृ. २३४, श्लो. २१-२७

(द) सतीशचन्द्र जोशी —'भविष्य पुराण' पृ. १४, ९०

१३२. जैन धर्म की हजार शिक्षाएं—पृ. १११

१३३. (अ) स्वयमाचरते यस्तु आचारे स्थापयत्यपि

आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ —लिंग पुराण (२) पृ. २९७, श्लो. २०

(ब) वही, पृ. २९७, श्लो. २२

१३४. रागदोसविमुक्को सीयधरसमो य आयरिओ —निशीथभाष्य २७९४

(जैन धर्म की हजार शिक्षाएं पृ. ४)

१३५. (अ) गुरुश्च शास्त्रवित्प्राज्ञस्तपस्वी जनवत्सलः

लोकाचाररतो ह्यैव तत्वविन्मोक्षदः स्मृतः ॥

सर्व लक्षणसम्पन्नः सर्वशास्त्रविशारदः

सर्वोपायाविधानज्ञस्तत्वहीनस्य निष्फलम् ॥ —लिंग पुराण (२) पृ. २९९, श्लो. ३४-३५

(ब) स्वसंवेद्ये परे तत्वे निश्चयो यस्य नात्मनि

सद्य संजायते चाज्ञा पाशोपक्षयकारिणी ॥ —लिंगपुराण, पृ. ३००, श्लो. ३६-४२

(स) सतीश चन्द्र जोशी —"भविष्य पुराण" पृ. १४-१५

(द) यैः पुनर्विदितं तत्वं ते मोक्ता मोचयन्त्यपि

तत्वहीने कुतो बोधः कुतो ह्यात्मपरिग्रहः ॥—शिव पुराण (२) पृ. ४५५—४५८ श्लो. ३९

१३६. (अ) योगशास्त्र २.८

(ब) जैन धर्म की हजार शिक्षाएं पृ. ४

(स) योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश, ८-१०

१३७. (अ) गुरोरवज्ञया सर्वं नश्यतीति किमद्भुतम्। —स्कन्द पुराण (१) पृ. १३१, ९.३२

(ब) गुर्वाज्ञाविरहितं चोरवत्सकलं भवेत्। —शिव पुराण (१) श्लो. ३१,

(स) गुरुपूजामकृत्वैव यश्शास्त्रं श्रोतुमिच्छति
न करोति च शुश्रूषामाज्ञां च भक्तिभावतः ॥

(द) सुमहत्पातकान्याहुश्शिवनिन्दासमानि च ॥ —शिव पुराण (२) पृ. १५३. श्लो. १८-२२

१३८. (अ) आणानिद्देसकरे, गुरुणामुववायकारए

(ब) इंगियागारसम्पन्ने, से विणीएत्ति वुच्चई ॥ —उत्तराध्ययन १.२

(स) जो छंदमाराहयइ स पुज्जो। —दशवैकालिक ९.३.१

(द) अणुसासिओ न कुप्पिज्जा। उत्तराध्ययन १.९

(य) हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होई असाहुणो। —उत्तराध्ययन १.२८

(र) समए पंडिए सासं हयं भद्दं व वाहए। —उत्तराध्ययन १.३७

१३९. (अ) विष्णुपुराण ३.१२.२४

(ब) उत्तराध्ययन—१.१९

१४०. (अ) शिव पुराण (२) पृ. ४५४, श्लो. २०-२१

(ब) वही पृ. ४५५, श्लो. २२-२८

(स) वही, श्लो. २९-३१

(द) ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्र.खं. २६. १२-१५

१४१. (अ) न कोवए आयरियं —उत्तराध्ययन १.४०

(ब) जैन धर्म की हजार शिक्षाएं—पृ. ७

(स) अणाबाहसुहाभिकंखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ —दशवैकालिक ९.१.१०

१४२. भक्त परिज्ञा ९३

१४३. (अ) नारद पुराण (१) पृ. १५९-१६०. —श्लो. १०३-१०९

(ब) वही पृ. १६३, श्लो. १२२-१२५

(स) वही, पृ. २४७, श्लो. २५-२६

१४४. समाहिकारए णं तमे समाहिं पडिलब्भई —भगवती सूत्र ७.१
असंगिहीयं परिजणस्स
संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। —स्थानांग ८

१४५. तत्वार्थ सूत्र ७.३३

१४६. संग्रहैकपरप्राप्तः समुद्रोऽपि रसालतम्
दाता तु जलदः पश्य भुवनोपरि गर्जति ॥

१४७. स्कन्द पुराण (१) पृ. १९२ श्लो. ६३-६४

१४८. स्थानांग सूत्र ४.३

१४९. डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा —'जैन धर्म में अहिंसा' —पृ. ११०

१५०. (अ) स्कन्द पुराण (१) पृ. १९२ श्लो. ६५
(ब) न ज़लोत्तरणे शक्ता यद्वनौरकर्णवर्जिता
तद्वच्छ्रेष्ठोऽप्यनाचारो विप्रो नोद्धरणक्षमः ॥
न केवलं हि तद्याति शेषपुण्यं प्रणश्यति ॥ —वही, पृ. २००, १५. ९-१३
(स) घ्नन्ति तस्माद् विद्वांस्तु विभियाच्च प्रतिग्रहात्
स्वल्पकेनाप्यविदास्तु पंके गौरिव सीदति ॥
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रम्प्रचक्षते ॥ —वही, पृ. १५.१५-१८.
(द) विष्णु पुराण ३.१५.५५

१५१. आचार्य हरिभद्रसूरि —'योगबिन्दु' १२२, १२३

१५२. (अ) शिवपुराण, उमासंहिता, अ. ११
(ब) *गरुड़पुराण (२) ११६.२०-२१*
(स) नारदपुराण (१) पृ. २७४
(द) शिवपुराण (२) पृ. १९७, श्लो. १

१५३. पुण्य के नौ भेद
—मुनि श्री मगनलाल जी म. —'जैनागम स्तोक संग्रह' पृ. ८

१५४. एकतो दानमेवाहुः समग्रं वरदक्षिणम्
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ —गरुड़ पुराण (१) ११६.५
हेमधेनुधराधीनां दातारः सुलभा भुवि
दुर्लभं पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥ —मार्कण्डेय पुराण
(श्री पुष्कर मुनि "जैन धर्म में दान" पृ. ३३९)

१५५. (अ) *दाणाणसेट्ठं अभयप्पयाणं*—सूत्रकृतांग १.६.२३
(ब) प्रश्न व्याकरण २.४
(स) उत्तराध्ययन १८.११
(द) श्री पुष्कर मुनि
—'जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन' पृ. ३३९

१५६. (अ) नारद पुराण (१) पृ. २४७, श्लो. २३
(ब) उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् । —वामन पुराण (१) श्लो. ३१
(स) नारद पुराण (२) पृ. ७७ श्लो. ८
(द) गरुड़ पुराण (२) पृ. २६७, अ. ४, श्लो. ६
(य) बी. सतीशचन्द्र जोशी —'भविष्य पुराण' पृ. १४८

१५७. (अ) 'जैन वाङ्मय में दान : प्रकार एवं माहात्म्य'
(जयगुञ्जार मार्च, ७८ से)
(ब) दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छति सुग्गइं ॥ —दशवैकालिक ५.१.१००

१५८. (अ) वामन पुराण (१) ४३.२५
(ब) नक्तं दिनं निमज्ज्याप्सु कैवर्ता किमु पावनाः ॥
किं पावना प्रकर्त्यन्ते रासभा भस्म-धूसराः ॥

—स्कन्द पुराण (१) ४०. ८१, ८३

(स) अवगाह्यापि मानिती ह्यन्तश्शौचविवर्जितः।
शैवला झषका मत्स्या सत्वा मत्स्योपजीविनः॥
सदा बाह्य सलिले विशुद्धाः कि द्विजोत्तमाः॥

—लिंग पुराण (१) पृ. ७३ श्लो. ३४-३५

(द) श्री वि. नाम शास्त्री —'कालिका पुराणम्' पृ. १०३ १८.८१-८२

(य) निगृहीतेन्द्रिय ग्रामो क्षेत्रे च वसेन्नरः
तत्र कस्य कुरुक्षेत्र नैमिषे पुष्कराणि च॥ —स्कन्द पुराण (२) ४७.४०

१५९. (अ) आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था
सत्योदका शीलशमादि युक्ता
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥ —वामन पुराण (१) ४३.२५

(ब) स्कन्द पुराण (२) ४७.२९-३३

(स) लिंग पुराण (१) पृ. ७३, श्लो. ३६-३७

(द) वही, पृ. १५८, श्लो. १०-१४

(य) ज्ञानहृदे ध्यान-जले रागद्वेषमलापहे
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

—गरुड़ पुराण (१) पृ. २५२, ४४.२३ एवं २२, २४.

१६०. उत्तराध्ययन १२.३८ (लेखकत्रय—'तीर्थंकर महावीर' पृ. ७)
धम्मे हरए बंभे संति तित्थे, अणाविले उत्तपसण्ण लेसे
जहिं सिण्हाओ विमलो विसुध्दो सुसीइ भुओपजहासि दोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं
जहिं सिण्हाया विमला विसुध्दा, महारिसी उत्तमठाणपत्ते॥ —उत्तराध्ययन १२: ४६-४७

□□□

७

आचार सिद्धान्त : विशेष आचार

विशेष आचार से तात्पर्य—जिस आचार का सभी जन पालन नहीं करते, ऐसा व्यक्ति विशिष्ट का या वर्ग विशेष का आचार विशेष आचार है। पुराणों में विशेष आचार वर्णाश्रम धर्म-वर्णन के सन्दर्भ में विवेचित है। वर्ण-व्यवस्था में सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं एवं आश्रम धर्म में सभी आश्रमों की आचार-प्रणालियाँ निर्दिष्ट हैं। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था सम्पूर्ण मानव समाज को चार भागों में विभक्त करती है, उसी प्रकार आश्रम व्यवस्था भी एक ही व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन चार भागों में विभाजित करती है।

वर्ण-व्यवस्था

समाज तथा व्यक्ति में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा शरीर और अंगोपांगों में, शरीर की सुरक्षा उसके अंगोपांगों की सुरक्षा पर निर्भर है और अंगोपांगों की सुरक्षा शरीर की सुरक्षा पर। इसी विचार से प्रेरित होकर मनीषियों ने प्राचीन काल में समाज की स्थापना के साथ ही मानव जाति को चार भागों में विभक्त किया था।[१] उस वर्गीकरण में उच्च-नीच की भावना न होकर लौकिक कर्त्तव्य का ही आधार था, जैसे पारिवारिक सदस्य अपने कार्यों का बँटवारा कर लेते हैं। किन्तु बाद में उसमें नाना प्रकार की विकृतियों का प्रवेश होता गया।

जैन एवं वैदिक वर्ण-विवेचन में मुख्य अन्तर यह है कि जैन परंपरा के अनुसार वर्ण—सामाजिक व्यवस्था के लिए बनाये गये हैं एवं धार्मिक अधिकार प्रत्येक मानव को है। इस सामाजिक व्यवस्था के संस्थापक ऋषभदेव थे।[२]

जबकि वैदिक परंपरानुसार—ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई, अतः यजन-याजन उनका पवित्र कार्य है। क्षत्रिय उनके बाहु से उत्पन्न हुए, अतः रक्षा उनका कर्त्तव्य है। उदर से उत्पन्न वैश्यों का व्यवसाय (व्यापार) कर्त्तव्य है तथा पाँवों से उत्पन्न शूद्रों का उच्च वर्णों की सेवा करना, कार्य बताया गया है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के धार्मिक अधिकार उच्च वर्णों के हस्तगत होने का उल्लेख है।[३] शूद्रों द्वारा वेद श्रवणादि करने पर उन्हें कठोर सजाएँ दी जाती थीं।[४] इतना ही नहीं, वर्ण-

व्यवस्था के नियम इतने कठोर थे कि उसमें शूद्र को निम्न तथा पशु से भी बदतर समझा जाता था। ऐसा कोई अधिकार उसे नहीं दिया था जिसके द्वारा वह न्यायालय में जाकर न्याय से अपनी रक्षा कर सके।[५]

जन्मना जातिवाद की इन व्यवस्थाओं के विपरीत पुराणों में जैन संस्कृति के समान गुणों एवं कर्त्तव्यों को भी महत्त्व दिया है। मात्र जन्म को ही उच्चता या नीचता का आधार न मानते हुए कर्त्तव्यों पर आधारित वर्ण-विचारधारा जैन परंपरा से पर्याप्त साम्य रखती है।

जैन परंपरा के अनुसार—वर्ण भेद मात्र कर्त्तव्य कर्मों के कारण है। उसमें उच्चता-नीचता का कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान् महावीर का स्पष्ट कथन है कि जीवन की महत्ता और उच्चता तो केवल तपश्चर्या से प्राप्त की जाती है न कि जाति से, मानव में जाति की कोई जन्मगत विशिष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती—

सव्वं खु दीसई तवो विसेसो
न दीसइ जाइ-विसेस कोइ ॥[६]

कर्मगत जातिवाद के अनेक उल्लेख जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं—

कम्मुणा बम्हणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी कर्म से ही होते हैं।[७] वस्तुतः आचारभेद ही जातिभेद का आधार है। गुणों की विशिष्टता से जाति मानी जाती है। गुणों के नष्ट हो जाने पर जाति भी नष्ट हो जाती है—

गुणैः सम्पद्यते गुणध्वंसैर्विपद्यते

गुणों के आधार पर जैन परंपरा में भी ब्राह्मण शब्द सम्मानित है। ब्राह्मण किसको कहते हैं, इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है।[८] जिसके अनुसार जो अग्नि के समान सदा तेजस्वी है, जो प्रिय स्वजनादि के आने पर उनमें अनुरक्त नहीं होता एवं जाने पर शोक नहीं करता, जो आर्यवचन में रमण करता है, शुद्ध किये गये जातरूप सोने की तरह विशुद्ध राग-द्वेष और भय से मुक्त, तपस्वी, कृश, दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाला), सुव्रत होता है तथा जो त्रस तथा स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर मन, वचन और काया से उनकी हिंसा नहीं करता, क्रोध, हास्य, लोभ या भय से झूठ नहीं बोलता, जो सचित या अचित थोड़ा या अधिक अदत्त नहीं लेता, जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर (त्रिकरण-त्रियोग) से सेवन नहीं करता—जैसे जल में उत्पन्न कमल कीचड़ से लिप्त नहीं होता वैसे ही जो काम भोगों से अलिप्त रहता है, जो रसादि में लोलुप नहीं है—निर्दोष भिक्षा से जीवन निर्वाह करता है, जो गृहत्यागी, अकिंचन (निष्परिग्रही), गृहस्थी में अनासक्त होता है, उसे ब्राह्मण कहा गया है।

यथार्थतः उच्चता (महत्ता) आचार से ही प्राप्त होती है, जन्म से उसका सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है? न केवल जन्म से ही अपितु बाह्य परिवेश से भी उच्चता को जोड़ना युक्तियुक्त नहीं है, केवल सिर मुण्डाने से ही कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का उच्चारण करने से ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने से मुनि नहीं होता, कुश का बना चीवर पहनने मात्र से कोई तपस्वी नहीं होता, वस्तुतः समभाव से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है तथा तप से तपस्वी होता है।[९]

जैन संस्कृति की इस मान्यता का पुराणों में भी समर्थन है। उनके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, कार्य की सुविधा की दृष्टि से बनाये गये हैं, बड़े-छोटे की दृष्टि से नहीं।[१०]

महाभारत[११] के समान ही भागवतकार का भी यही मत है कि प्रारम्भ में एक ही वर्ण था। पश्चात् कर्मों के अनुसार वर्ण बने, अतः वर्णों की कोई विशेषता नहीं है।[१२] जिस प्रकार कर्त्तव्यों के आधार हैं, उसी प्रकार पुराणों में निर्धारित हैं। जैसे ब्राह्मणों के प्रकार, आचार के आधार पर विश्लेषित करते हुए उनमें गुणों के आधार पर न्यूनाधिकता बताई है—

१. जन्मना ब्राह्मण जो सब प्रकार से क्रियाहीन हो, वह ब्राह्मण मात्र कहलाता है।
२. एकोद्देश्य का अतिक्रमण करके जो वेदाचार वाला तथा परम सरल होता है, वह ब्राह्मण कहा जाता है।
३. परम विभूत, सत्य बोलने वाला, वेद की एक शाखा का षडंग कला सहित अध्ययन करके षट् कर्मों में निरत धर्म का वेत्ता "श्रोत्रिय" कहा जाता है।
४. वेदवेदांग का पूर्ण ज्ञाता, शुद्ध आत्मा वाला, पापों से रहित परम श्रेष्ठ श्रोत्रियवान्, प्राश्र "अनुचान" कहा गया है।
५. अनुचान के समस्त गुणों से सुसम्पन्न, यज्ञ, स्वाध्याय में यन्त्रित "भ्रूण" कहा जाता है।
६. शेषभोजी, इन्द्रियों को अपने वश में रखकर जीत लेने वाला, वैदिक लौकिक सभी का ज्ञाता, आश्रम में स्थित, सदा अपने पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला "ऋषिकल्प" कहा जाता है।
७. ऊर्ध्वरेता, नियत अशन करने वाला, संशय रहित, शापानुग्रह में पूर्ण शक्ति वाला, सत्य प्रतिज्ञा वाला "ऋषि" कहलाता है।
८. सभी प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्त रहने वाला, सब प्रकार के तत्त्वों का पूर्ण ज्ञाता, काम और क्रोध से रहित, ध्यान में स्थित रहने वाला, निष्क्रिय, परम दमनशील तथा मिट्टी और स्वर्ण दोनों में समान भावना रखने वाला "मुनि" कहा जाता है।[१३]

उपर्युक्त ब्राह्मण की अष्टविधाओं में गुणों के आधार पर पृथक् संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। इसी प्रकार चाण्डाल के भी पाँच प्रकार वर्णित हैं—

१. जो अपने पर किये हुए उपकार को नहीं मानता है।

२. जो अनार्य होता है।

३. जिसमें बहुत लम्बे समय तक रोष विद्यमान रहता है।

४. जो सरलता से रहित अर्थात् सदा कुटिल वृत्ति वाला होता है।

५. जो चाण्डाल जाति से समुत्पन्न होता है।[१४]

गुणों के आधार पर वर्ण का महत्त्व निर्धारित करते हुए एवं जन्मना ज़ाति के अप्रामुख्य को निरूपित करते हुए कहा गया है—"षडंग का कितना ही अच्छा ज्ञाता द्विज भी क्यों न हो, परन्तु यदि वह दमशील नहीं है तो कभी भी पूज्य नहीं हो सकता।[१५] जो सत् तथा श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु क्रिया से हीन हैं वे कभी पूजित नहीं हो सकते। तथा जो असत्कुल तथा असत्क्षेत्र में समुत्पन्न हुए हैं, वे भी अपने त्याग एवं तपश्चर्या की उच्चतर क्रिया द्वारा जगत्पूज्य हो गए जैसे व्यास, वैभाण्डक, क्षत्रियकुलोत्पन्न महर्षि विश्वामित्र, वेश्या से समुत्पन्न महामुनि वशिष्ठ इत्यादि।[१६] भगवद्भक्ति के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर हो सकता है तथा ईश्वरभक्तिविहीन होने पर ब्राह्मण भी चाण्डालाधम हो सकता है।"[१७]

निष्कर्षतः पुराणों तथा जैन साहित्य में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व लौकिक व्यवहारों के लिए (सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही) है, किन्तु धार्मिक व आध्यात्मिक धरातल पर नहीं। वर्ण की उच्चता एवं निम्नता भी जन्म से न होकर कर्म से है। गोत्रों में जन्म लेने मात्र से न कोई आत्मा हीन होता है और न कोई महान्। "यह अनेक बार उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है, यह जानकर कौन गोत्रवादी, मानवादी होगा?"[१८]

आश्रम-व्यवस्था (आश्रम धर्माचार)

आश्रम-व्यवस्था का पुराणों में बहुत महत्त्व है। उनमें वर्णित प्रत्येक आश्रम के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य उल्लिखित किये जा रहे हैं—

१. **ब्रह्मचर्याश्रम**—जीवन के प्रथम चौथाई भाग में ब्रह्मचर्याश्रम में रहे। अखण्ड ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु संरक्षण में विद्या और कला का अभ्यास करे और अगले जीवन की तैयारी करे।

२. **गृहस्थाश्रम**—दूसरे भाग में दारपरिग्रह करके दाम्पत्य जीवन व्यतीत करे और पितृऋण से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति करे।

३. **वानप्रस्थाश्रम**—तीसरे भाग में जब बालों में सफेदी आ जाये और पौत्र का जन्म हो जाये, तब पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर या वह चाहे तो साथ लेकर वानप्रस्थ अंगीकार करे।

४. **संन्यासाश्रम**—चौथे भाग में विकारों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करके मोक्ष मार्ग की आराधना करे।

वैदिक संस्कृति की इस क्रमबद्ध व्यवस्था को जैन संस्कृति में अनिवार्य नहीं माना है। सामान्यतः यह क्रम अस्वीकृत भी नहीं है। जैन शास्त्रों में स्थान-स्थान पर यह वर्णन है कि अमुक कुमार या राजकुमार ने कलाचार्य के संरक्षण में विद्याओं और कलाओं का अभ्यास करके निष्णात होकर दाम्पत्य जीवन में प्रवेश किया। तत्पश्चात् अनुकूल निमित्त मिलने पर संसार से विरक्ति पाकर प्रव्रज्या अंगीकार की। लेकिन यह सब सहजरूपेण होता जाता था। यहाँ इस क्रम को—नियम को अनुल्लंघनीय नहीं माना, जिस पर वैदिक ऋषियों ने बहुत बल दिया है। यदि कोई मुमुक्षु गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना ही और पुत्रोत्पत्ति किये बिना ही सीधा प्रव्रज्या (संन्यास) अंगीकार करता है तो वह सराहनीय है।[११] उपरोक्त मान्यता को पुराणों में भी मान्य किया गया है।

जैन परंपरा में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ बताई गई हैं—श्रमण धर्म तथा श्रावकधर्म। श्रावक धर्म उनके लिए है जो श्रमण धर्म को अंगीकार नहीं कर सकते। इनमें श्रावक धर्म के बाद ही श्रमण धर्म अंगीकार करना, ऐसा कोई कालिक पौर्वापर्य निश्चित नहीं है। जैन धर्मोक्त श्रावक धर्म के अन्तर्गत प्रारम्भिक तीनों आश्रम लिए जा सकते हैं एवं श्रमण धर्म की तुलना संन्यासाश्रम से हो सकती है।

गृहस्थधर्म (श्रावक धर्म)

गृहस्थ धर्म का पुराण तथा जैन साहित्य में विभिन्न स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होता है। जैन परंपरा में गृहस्थ रहते हुए धर्म का धारक श्रावक, श्रमणोपासक आदि कहलाता है। गृहस्थ धर्म को सागार धर्म भी कहा गया है। यह एक सीमित तथा सरल मार्ग है। धर्म का अणु (छोटा) रूप होते हुए भी इसका महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि अन्य साधारण कामनाओं के दलदल में फंसे संसारी मनुष्यों की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्गृहस्थ का जीवन महान् ही है।

पुराणों में भी गृहस्थ धर्म को प्रचुर महत्त्व मिला है, उनमें इसे सभी आश्रमों का परिपोषक आश्रम होने से सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। गृहस्थ की जीवनचर्या को बताते हुए वामन पुराण में कहा गया है—उसे देशविहित धर्म, श्रेष्ठ कुलधर्म और गोत्र के धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। उसी से अर्थ की सिद्धि करनी चाहिए। असत्प्रलाप, सत्य रहित निष्ठुर और आगम शास्त्र से असंगत वाक्य भी कभी न कहे

जिससे साधुजनों द्वारा निन्दित होना पड़े। किसी के धर्म को हानि न पहुँचाये एवं बुरे लोगों का संग भी कभी न करे। उत्तम व्यक्ति परधन तथा परस्त्री में बुद्धि न लगाये[२०] एवं उसके लिए करणीय तथा अकरणीय कार्यों का विधान करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है—

मतिमान पुरुष को स्वस्थ चित्त से ब्रह्ममुहूर्त में उठकर अपने धर्म तथा धर्म कार्य में बाधक विषय पर विचार करना चाहिए और उस कार्य का भी विचार करे जिससे धर्म और अर्थ की हानि न हो। धर्म के विरुद्ध जो अर्थ और काम है, उनका त्याग करे और ऐसे धर्म को छोड़ दे जो आगे चलकर दुःखमय हो जाये अथवा समाज के विरुद्ध हो। श्रद्धापूर्वक दान एवं अतिथि सत्कार तथा पूज्यजनों, गुरुजनों का आदर करे तथा दुष्टों का संग नहीं करे, सदाचारी पुरुषों के साथ रहे। जो पुरुष इन्द्रियों को जीतकर समय के अनुसार हितकारी, अल्प और प्रिय वचन कहता है, लज्जावान्, क्षमावान्, आस्तिक और विनयशील होता है, वह विद्वान और कुलीन पुरुषों के योग्य श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है।[२१] इत्यादि अनेक सदाचार जो पुराणों में एक गृहस्थ के लिए आदरणीय बताये गये हैं, जैन धर्म वर्णित गृहस्थ की सामान्य आचार-संहिता के लगभग समान हैं। आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मार्गानुसारी श्रावक के लिए भूमिका के रूप में जिस सामान्य आचार संहिता की आवश्यकता रहती है, वह है—

१. वह न्याय-नीति से धन का उपार्जन करने वाला।
२. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला।
३. अपने कुलशील के समान, भिन्न गोत्रवालों के साथ विवाह सम्बन्ध करने वाला।
४. पापों से डरने वाला।
५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करने वाला।
६. किसी की (राजादि की) निन्दा न करने वाला।
७. न एकदम खुले या न एकदम गुप्त स्थान पर घर बनाने वाला।
८. घर से बाहर निकलने के द्वार अनेक न रखने वाला।
९. सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला।
१०. माता-पिता की सेवा करने वाला।
११. चित्त में क्षोभ (क्लेश) कारक स्थान से दूर रहने वाला।
१२. निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति नहीं करने वाला।
१३. आय के अनुसार व्यय करने वाला।
१४. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनने वाला।
१५. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म श्रवण करने वाला।

१६. अजीर्ण होने पर भोजन न करने वाला।
१७. नियत समय पर संतोष के साथ भोजन करने वाला।
१८. धर्म के साथ अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ का इस प्रकार से सेवन करने वाला, जिससे कोई किसी का बाधक नहीं हो।
१९. अतिथि, साधु और दीन असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करने वाला।
२०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न होने वाला।
२१. गुणों का आदर करने वाला।
२२. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करने वाला।
२३. अपनी शक्ति-अशक्ति को समझकर कार्य करे।
२४. सदाचारी तथा अपने से अधिक ज्ञानवान् पुरुषों की विनय व भक्ति करने वाला।
२५. अपने पर आश्रितों का पालन-पोषण करने वाला।
२६. दीर्घदर्शी।
२७. अपने हित-अहित को समझने वाला।
२८. लोकप्रिय।
२९. कृतज्ञ।
३०. लज्जाशील।
३१. दयावान।
३२. सौम्य।
३३. परोपकारी।
३४. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को जीतने वाला।
३५. इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला।[२२]

गृहस्थ की इस सामान्य आचार संहिता के अतिरिक्त श्रावक के लिए इन बारह व्रतों का भी विधान है—

स्थूलरूप से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करना, दिशापरिमाण (क्षेत्र सम्बन्धी मर्यादा), भोगोपभोग मर्यादा, अनर्थदण्ड विरमण (अनर्थक क्रियाओं का त्याग), सामायिक, दया, पौषध, (ये तीनों अनुष्ठान हैं) एवं अतिथिसंविभाग।[२३] इनमें अहिंसादि पाँच व्रतों का पुराणों में भी यम के रूप में गृहस्थ के लिए विधान है। भोग-उपभोग की सामग्री एवं उनकी आसक्ति त्याग का, हिंसादि अनावश्यक क्रियाओं का निषेध[२४] भी पुराणों में दृष्टिगोचर होता है।

पूर्ववर्णित बारह व्रतों से आगे भी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण उपलब्ध होता है।[२५] इन प्रतिमाओं के धारक श्रावक की तुलना पुराणों में वर्णित वानप्रस्थी से हो सकती है। प्रतिमाधारी श्रावक सांसारिक कार्यों से निवृत्त होने पर

भी गृहस्थ की कोटि में ही गिना जाता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ भी यद्यपि गृहत्याग कर अरण्य की शरण ग्रहण करता है तथापि वह यति या प्रव्रजित नहीं कहलाता।[२६]

सारांशतः गृहस्थधर्म के तारताम्यानुसार कई प्रकार हो सकते हैं। गृहस्थ के इन आचारों के अतिरिक्त सामान्य आचार जो सभी आश्रमों के लिए आवश्यक हैं—सेवा, सन्तोष, भक्ति आदि भी गृहस्थ के लिए आदरणीय गुण हैं। पुराण एवं जैन धर्म के गृहस्थाचारों में अन्तर यही है कि पुराणों में वर्णित यज्ञ-श्रद्धादि कर्मों का जैन श्रावक के लिए विधान नहीं है। इसके अतिरिक्त अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्व सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए पुराणों के समान ही लौकिक विधियाँ, क्रिया-कलाप, जो समीचीन विश्वास या सदाचार का विघात न करें, जैन परंपरा के लिए निषिद्ध नहीं हैं—सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिःयत्र सम्यक्त्व हानिर्नो यत्र नो व्रत दूषणम्।[२७]

श्रमण धर्म

श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृति—भारतीय संस्कृतियों में प्रसिद्ध संस्कृति है। प्रचलित श्रमण संस्कृतियों के अतिरिक्त वैदिक संस्कृति में भी श्रमण संस्कृति के स्वर उपलब्ध होते हैं। वैदिक संस्कृति में उपलब्ध इस श्रमण संस्कृति के मूल स्रोत के सम्बन्ध में विभिन्न मन्तव्य हैं।

जैन परंपरा के अनुसार "ऋषभदेव के पौत्र मरीची पहले उनके पास श्रमण बने, किन्तु बाद में अलग होकर परिव्राजक मत की स्थापना की। इन्हीं के शिष्य कपिल महामुनि हुए, जो सांख्य दर्शन के प्रवर्तक हुए। हो सकता है मरीचि और कपिल मुनि ही प्राचीनतम वैदिक श्रमण रहे हों।"

वैदिक विद्वान स्वाभाविक रूप से वैदिक श्रमणों का प्रारम्भ वेदों में खोजते हैं। उनके अनुसार वैदिक युग में दो समानान्तर संस्कृतियाँ विद्यमान थीं—

१. ऐन्द्री संस्कृति   २. वारुणी संस्कृति

ऐन्द्री संस्कृति प्रवृत्तिमार्गी, यज्ञों को प्रोत्साहन देने वाली, युद्धों की, माँसाहार की, स्वर्ग की तथा भोग की समर्थक थी। इन्द्र उसके मुख्य देव थे। वारुणी अथवा श्रमण (मुनि) संस्कृति निवृत्तिमार्गी, व्रतों को महत्त्व देने वाली, अहिंसा, निरामिष आहार, योग, मोक्ष तथा ज्ञानमार्ग की समर्थक थी—वरुण इसके मुख्य देव थे। बाद में वरुण का महत्त्व वैदिक संस्कृति में कम होता गया और इन्द्र का महत्त्व बढ़ गया। फलतः वैदिक संस्कृति का रूप प्रवृत्तिप्रधान रह गया।[२८]

इस मूल स्रोत के सम्बन्ध में विभिन्न मत हो सकते हैं, परन्तु यह तो सुनिश्चित है कि निवृत्तिवादी विचारधाराएँ वैदिक साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती हैं।

निवृत्तिवादी विचारधाराएँ

श्रमण संस्कृति के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि वह निवृत्ति-प्रधान है; क्योंकि श्रमण (संन्यासी) का जीवन ही कर्म-निवृत्ति के लिए होता है। उसकी प्रवृत्तियों में भी निवृत्ति समाहित होती है। संन्यास के लिए निवृत्ति की महती आवश्यकता पुराणों में भी प्रतिपादित की गई है, जो जैन दर्शन के समान ही है। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रवृत्ति मार्ग (वेद विहित कर्मकाण्डों) का विरोध किया गया है; उसी प्रकार पौराणिक विचारधारा में भी निवृत्ति मार्ग द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति मानी है। तद्नुसार शास्त्र दो प्रकार के मार्ग दिखलाते हैं—एक प्रवृत्ति मार्ग तथा दूसरा निवृत्ति मार्ग। पहला जो प्रवृत्ति मार्ग है, वह दुःख का रास्ता है, परन्तु जीव क्लेश में ही सुख मानकर पहले उसी पर चलते हैं। यह मार्ग स्वच्छन्द, प्रसन्नतापूर्वक, विरोध-शून्य एवं आपात मधुर होने पर भी परिणाम में नाश का बीज तथा जन्म, मृत्यु और जरा के चक्कर में डालने वाला है।[२९] जो निवृत्ति के सुन्दर मार्ग पर स्थित है, वह अपने आत्मा में ही रमण करता—आनन्द मनाता है।[३०] प्रवृत्ति कर्म से (व्यक्ति) जन्म-मरण पाता है तथा निवृत्ति कर्म से मुक्त हो जाता है।[३१] मुक्ति का उद्देश्य जिसका हो ऐसे मनुष्य को शुभ तथा अशुभकर्म दोनों को क्षीण करना आवश्यक है। जब तक शुभ या अशुभकर्म रहेंगे, तब तक वह बद्ध ही रहेगा।[३२] जब तक यह जीव कर्मकाण्ड करता रहता है, तब तक सब कर्मों का शरीर और मन द्वारा आत्मा से बंध होता रहता है।

संन्यास या श्रमण का अर्थ एवं अन्य पर्याय

जैसे वैदिक संस्कृति में प्रमुखतः प्रचलित शब्द है संन्यासी। उसी प्रकार जैन धर्म में मुख्यतः श्रमण प्रचलित है। इसके प्रमुख पर्याय पुराणानुसार ऋषि, मुनि, भिक्षु, तापस, परिव्राजक आदि हैं तथा जैन साहित्यानुसार श्रमण, ऋषि, मुनि, यति, भिक्षु, तापस, संयत, व्रती, अणगार, निर्ग्रन्थ इत्यादि कई पर्यायवाची नाम हैं।

पुराणों में संन्यास शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार इस प्रकार है—"समन्ताद् न्यासः" या "सम्यक् प्रकारेण न्यास" अर्थात् इस आश्रम में व्यक्ति समस्त बन्धनों से मुक्त होकर सर्वतन्त्र स्वतन्त्ररूप से विचरण करता है।[३३] जैन धर्म में श्रमण शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अग्रलिखित बताये गये हैं—इसकी अर्धमागधी तथा प्राकृत छाया *है "समण"। तथा संस्कृत छाया "शमन," "श्रमण," समन है। अतः प्रमुखतः चार प्रकार से इसकी व्याख्या हो सकती है—*

१. **शमन**—जो क्रोधादि कषायों का शमन करे, वह शमन कहलाता है।

२. **श्रमण**—जो पंचेन्द्रियों और मन को वश में करता है, जो संसार के विषयों से खिन्न होता है और तपस्या करता है, वह श्रमण कहलाता है।

३. **समन**—माया-निदान-मिथ्यात्व—इन तीन शल्यरूप ताप से रहित जिसका मन है, वह "समन" कहा जाता है।

४. **समण**—जो शत्रु और मित्र में अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों में समान व्यवहार करता है, वह समण कहलाता है।[३४]

साधुधर्म के प्रमुख आचार

१. **पंच महाव्रत/यम**—जिस प्रकार से जैन परंपरा में श्रमण के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों का पालन आवश्यक है;[३५] उसी प्रकार से इन्हीं पाँचों को यम के रूप में संन्यासी के लिए अनिवार्य रूप से पालनीय बताया गया है।[३६]

२. **पाँच समिति एवं तीन गुप्ति**—जैन परंपरा में श्रमण की जीवनचर्या में होने वाली सभी क्रियाओं में विवेक की जागृति आवश्यक बताते हुए इन ५ समितियों का विधान बताया गया है—

(१) ईर्यासमिति (चलने-फिरने में अर्थात् आवागमन की क्रियाओं में सावधानी),
(२) भाषा समिति (भाषा सम्बन्धी मर्यादा),
(३) एषणा समिति (आहार आदि ग्रहण करने की मर्यादाओं का पालन),
(४) आदान निक्षेप (पदार्थ लेने व रखने में सावधानी),
(५) परिष्ठापनिका—मल-मूत्रादि विसर्जन सम्बन्धी विवेक।

तीन गुप्तियाँ हैं—मन, वचन एवं काय (शरीर) का संयम।[३७]

इनमें से पुराणों में भी आवागमन, भाषा एवं भिक्षा के सम्बन्ध में कई नियम (मर्यादाएँ) बताये गये हैं।[३८] आदान निक्षेप एवं परिष्ठापनिका का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता है एवं तीनों गुप्तियों के अन्तर्गत आगत मानसिक, वाचिक एवं कायिक संयम का भी विधान पुराणों में संन्यासी के लिए किया गया है।[३९]

३. **दस धर्म**—जैनागमों में १० प्रकार के श्रमण धर्म प्रतिपादित हैं—क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्यवास।[४०] इन दस धर्मों को पुराणों में कितना महत्त्व दिया गया है, यह सामान्य आचारों से भी स्पष्ट हो जाता है तथा गुण के रूप में इनको संन्यासी के लिए आवश्यक बताया गया है।

४. **कल्प-विधान**—जैन परंपरा में श्रमण के लिए इन १० कल्पों का विधान किया गया है—आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिकमण मास तथा पर्युपासनकल्प।[४१] इनमें से भी कई नियमों का पौराणिक संन्यासी के लिए विधान है। आचेलक्य कल्प का विधान करते हुए पुराणों में संन्यासी के लिए निर्वसन अथवा जीर्ण-शीर्ण, अल्प वस्त्र धारण करने का निर्देश है।[४२] औद्देशिक कल्प की झलक हम पुराणों में वर्णित संन्यासी की भिक्षा विधि में देख सकते हैं।[४३] शय्यातर

तथा राजपिण्ड का उल्लेख पुराणों में दृष्टिगोचर नहीं होता है। कृतिकर्म कल्प के समान ही पुराणों में संन्यास (दीक्षा) में ज्येष्ठ संन्यासी के आने पर उनका सम्मान करने का विधान है।[४४] व्रत कल्प के अन्तर्गत जैन परंपरा में वर्णित पंचमहाव्रतों की तुलना पुराणों में वर्णित पाँच यमों से हो सकती है।[४५] ज्येष्ठ कल्प के समान ही पुराणों में भी (संन्यास में) ज्येष्ठ, बड़े का वंदनादि विहित है।[४६] प्रतिक्रमण कल्प का तो नहीं, परन्तु उससे मिलते-जुलते रूप प्रायश्चित्त का विधान दृष्टिगोचर होता है तथा सन्ध्या के द्वारा भी आचारित पापों के क्षय के लिए प्रभु से अभ्यर्थना की जाती है।[४७] मास कल्प का भी विधान करते हुए पुराणों में संन्यासी के ४ माह (आषाढ पूर्णिमा से लेकर ४ माह) तक एक ही स्थान पर ठहरने का एवं शेष समय में एक स्थान पर ज्यादा न रुकते हुए भ्रमण करने का उल्लेख है।[४८] पर्युपासनकल्प का उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता है।

५. **अनाचार-निषेध**—जैनागमों में श्रमण मर्यादा में निम्नलिखित अनाचार सेवन निषिद्ध बताये गये हैं—औद्देशिक—अपने निमित्त बना आहारादि ग्रहण करना, अपने निमित्त खरीदा गया या सामने लाया हुआ आहारादि, रात्रि भोजन, स्नान, गंधलेपन, माल्यधारण, बीजन (पंखादि), सन्निधि (संचय), गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, गरिष्ठ आहार, गृहस्थ से शारीरिक सेवा करवाना, दंतप्रधावन, सम्मृच्छन, दर्पणादि में देह प्रलोकन, शतरंजादि खेल, छत्रधारण, उपानहधारण, चिकित्सा, अग्निसमारंभ, शिल्पादि से आजीविका, संसार का स्मरण, सचित्त आहार, वमन, विरेचन, अंजन, उबटन, गात्रा-भ्यंग विभूषा आदि।[४९]

इनमें से भी लगभग कई अनाचारों का पुराणों में भी मुनि के लिए निषेध है—यथा भागवत में मुनि के लिए ही नहीं, अपितु ब्रह्मचारी के लिए भी गंध, माल्य, उबटन, अंजन, जूते तथा छत्रधारण का निषेध किया है।[५०] गृहस्थ से धन लेना, कृषि या वाणिज्य व्यापार[५१] करना संन्यासी के लिए त्याज्य है।[५२] दंतप्रधावन स्नान, अलंकारादि शरीरादिक विभूषा भी अनाचरणीय है।[५३] संन्यासी की भिक्षा विधि से, उसके उद्देश्य से निर्मित भिक्षा का तथा निमंत्रित होकर भिक्षा ग्रहण करने का निषेध है।[५४] संन्यासी अग्नि समारंभ एवं गृह से रहित होने के कारण निरग्नि तथा अनिकेत कहलाता है।[५५] इसी प्रकार रोगादि में समत्व रखते हुए चिकित्सावर्जन एवं आहारादि में भी समत्व का उल्लेख है[५६] तथा रात्रि भोजन भी सर्वथा निषिद्ध है।[५७]

मुनि का प्रवास-निवासादि

मुनि के आवास एवं प्रवास आदि के सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ पुराण तथा जैन धर्म में बनाई गई हैं। उनमें भी परस्पर पर्याप्त समानता विद्यमान है।

पुराणों के अनुसार—संन्यासी एक ही स्थान पर नहीं रहता, एक ही स्थान पर रहने से विशेष आसक्ति हो जाती है। इसी दोष के परिहार के लिए वह एकाकी विचरण करता है। केवल वर्षाकाल के चार माह तक वह एक ही स्थान पर निवास करता है।[५८] वर्षाकाल के अतिरिक्त आठ महीनों में संन्यासी आत्म तत्त्व का चिंतन करता हुआ सर्वत्र विचरण करता रहता है। घूमने के कारण ही संन्यासी परिव्राजक कहे जाते हैं। जैनागम भी मुनि के प्रवास के सन्दर्भ में इसी प्रकार से आचार संहिता निर्धारित करते हैं। तदनुसार साधु को सतत विचरणशील, भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त होकर विचरण करने वाला बताया है।[५९] चातुर्मास के अतिरिक्त एक मर्यादित अवधि में ही रहने का विधान किया गया है।

जिस प्रकार जैन परंपरा में श्रमण के लिए गृह निर्माण, अग्नि का समारंभ ही नहीं, अनुमोदन भी नहीं करने का कहा गया है, उसी प्रकार पुराणों में भी कहा गया है कि संन्यासी कहीं भी अपना घर बनाकर न रहे, केवल भिक्षा प्राप्त करने के लिए ही गाँव में जाये।[६०] वे अपने घर को त्याग देते हैं, बाद में अपने लिए कोई घर नहीं बनाते हैं, अतः वे भ्रमणशील होते हैं।[६१] एकान्त में या अरण्य में निवास करते हैं, सभी प्रकार के आरम्भों का परित्याग संन्यासी को सर्वप्रथम करना चाहिए।[६२] इस प्रकार इस आश्रम में वह लौकिक अग्निरहित तथा गृहरहित होकर रहता है। जैन श्रमणवत् ही सवारी (वाहन) का प्रयोग भी निषिद्ध बताया गया है।[६३]

जैन परंपरा के समान ही पुराणों में जीवन धारण के लिए आवश्यक कर्मों के अतिरिक्त अनावश्यक कर्मों को संन्यासी त्याग देता है। आवश्यक कार्य भी विवेकपूर्वक करता है। संन्यासी के लिए यज्ञ श्राद्धादि किसी भी कर्म का विधान नहीं है, अपितु ऐसे स्थानों पर जाने का भी संन्यासी के लिए निषेध करते हुए कहा गया है कि योग के वेता को कभी किसी श्राद्ध और हिंसाजनक यज्ञ, यात्रा और महोत्सव आदि में सम्मिलित नहीं होना चाहिए।[६४]

जिस प्रकार पौराणिक संन्यासी के लिए लकड़ी, मिट्टी या तुम्बी निर्मित पात्र लेने का तथा धातुपात्र नहीं लेने का विधान है;[६५] उसी प्रकार जैनागम आचारांग सूत्र में भी कहा गया है कि तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र और मिट्टी का पात्र—इन तीनों प्रकार के पात्र साधु ग्रहण कर सकता है। साथ ही बहुमूल्य पात्र ग्रहण करने का निषेध किया है।[६६] इन वस्त्र पात्रादि में ममत्व भाव (आसक्ति) भी वर्ज्य बताया गया है।

श्रमण (संन्यासी) का भिक्षुक धर्म

भिक्षा के प्रकार 'हरिभद्रीय अष्टक प्रकरण' में इस प्रकार से बताये गये हैं—पौरूषघ्नी, सर्वसंपत्करी। इसके अतिरिक्त दीन-हीन, अनाथ, अपाहिजों को दी

जाने वाली भिक्षा दीनवृति कहलाती है।[६७बी] पौरूषघ्नी भिक्षा का उद्देश्य केवल स्वार्थ होता है; यह पंचेन्द्रिय विषयासक्त भोगपरायण आलसी लोगों को दी जाने वाली भिक्षा है जो पुरुषार्थ का नाश कर अकर्मण्य बनाती है। सर्वसंपत्करी भिक्षा वह है जो श्रमण-अदीन, मर्यादापूर्वक (नियमानुकूल) संयम पालन हेतु ग्रहण करते हैं। उसमें देह को पुष्ट बनाने की या प्रमाद की भावना तथा मिलने पर प्रसन्नता, रूक्ष मिलने पर या न मिलने पर रुष्टता का भाव नहीं होता। धर्म कार्य के हेतुभूत शारीरिक आवश्यकता के लिए ग्रहण की जाने वाली यह भिक्षा देने वाले तथा लेने वाले दोनों के लिए कल्याणदायक होने से इसे सर्वसंपत्करी कहा है। पुराणों में इसे (न्यायपूर्वक भिक्षाचरण को) तपस्या से भी श्रेष्ठ बताया है।[६७] जैनागमों में भी इसे तप की श्रेणी में रखा गया है, क्योंकि यह भी कोई आसान कार्य नहीं है, याचना को भी परिषह माना है।[६८]

भिक्षा लेने के सम्बन्ध में पुराण तथा जैन धर्म में कुछ मर्यादाएँ बनाई गई हैं, जिसका उद्देश्य मुख्यतः यही है कि उनके भिक्षा लेने से किसी को कष्ट न हो। पुराणों में इसके मुख्य नियम अग्रलिखित हैं—

अहिंसक योगी को आदरपूर्वक दिये गये निमंत्रण में, आतिथ्य, यात्रा, महोत्सव, श्राद्ध तथा यज्ञादि में भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए, वह्नि के विधूम हो जाने पर तथा अंगारों से रहित हो जाने पर (शीतल हो जाने पर), घर के समस्त सदस्यों के भोजन कर लेने पर योगी को एक नहीं, अनेक घरों से भिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। वह भी प्रतिदिन उन्हीं घरों से नहीं। भिक्षा इस प्रकार से ग्रहण करे जिससे अवमान तथा धर्म दूषित न हो। भिक्षा की तीन वृत्तियाँ हैं—

१. शील सदाचारयुक्त गृहस्थों से भिक्षा लेना,
२. मध्यवृत्ति-श्रद्धावान् गृहस्थों से भिक्षा लेना,
३. जघन्यवृत्ति (इनसे भिन्न) नीच विवर्णों से भिक्षा लेना।

भिक्षा ग्रहण करते हुए मन में समभाव रखना है।[६९]

लगभग इसी प्रकार से जैनागमों का भी नियम बताते हुए कहा गया है कि श्रमण, आहारादि इस प्रकार से ग्रहण करे, जैसे भ्रमर फूलों का रस लेता है।[७०] अर्थात् भ्रमर केवल एक ही फूल से पूरा रस ग्रहण नहीं करके अनेक पुष्पों से लेता है जिससे वह स्वयं भी तृप्त हो जाता है तथा पुष्प भी पीड़ित नहीं होता। आशय यह है कि श्रमण अनेक घरों से मर्यादानुसार, आहारादि लेते हैं। पूर्ववर्णित भिक्षा की तीन वृत्तियों के स्थान पर कहा गया है कि श्रमण को श्रद्धायुक्त जो गृहस्थ हो उनसे ही भिक्षा लेनी चाहिए। यहाँ तक कि दो में से एक सदस्य को भी देने की इच्छा न हो तो न ले।[७१] यहाँ भी कुछ लोग जो पतित, अप्रीतिकर तथा नीचकार्यादि करने वाले हों, ऐसे कुलों में जाने का निषेध[७२] करते हुए साथ ही कहा गया है—भिक्षु सामुदायिक

(सामूहिक) भिक्षाचर्या करे, वह उच्च (समृद्ध) और नीच (असमृद्ध न कि जुगुप्सित) सभी कुलों में जाए। नीचकुल (घर) को छोड़कर (लांघकर) उच्चकुल में न जाए।[७३] पुराण तथा जैनधर्म दोनों में ही श्रमण को भिक्षा अनासक्तभाव से ग्रहण करने का तथा प्राप्ति और अप्राप्ति में प्रसन्न या अप्रसन्न न होकर समभाव में ही रहने का निर्देश है।

श्रमण (संन्यासी) की आन्तरिक वृत्ति

जैसा कि मनुस्मृतिकार ने कहा है—उपर्युक्त सभी उपाय (बाह्याचार) मुनि को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में सहायक होने के कारण बाह्य हैं, क्योंकि कर्मबंधन से मुक्त होने का एक मात्र उपाय सम्यग्दर्शन ही है। इसके अभाव में बाह्याचार आडम्बर मात्र रह जायेंगे।[७४]

जैन दर्शन में तो धर्म-साधना का प्राणतत्त्व ही सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) है। श्रमण हो या श्रावक सभी के लिए यह प्रमुख गुण है। सम्यक्त्वी (सम्यग्दर्शन-सम्पन्न) के लिए प्राकृत शब्द है—सम्मतदंसी, जिसके तात्पर्य तीन होते हैं—समत्वदर्शी, सम्यक्त्वदर्शी एवं समस्तदर्शी। इस प्रकार इस विवेक-बुद्धि को सतत जागृत रखने का निर्देश दिया गया है। मुनि के लिए यह प्रमुख गुण है। जैनागमों में भिक्षु को संयम मार्ग में आने वाले सभी कष्टों को समभाव से सहन करने वाला कहा है। वह समदर्शी होकर अपने तथा पर के तथा मिट्टी व स्वर्ण की भेदबुद्धि से परे होता है।[७५] जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है। संक्षेप में श्रमणत्व का सार ही उपशम है।[७६]

सम्यग्दर्शन को पुराणों में भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है—"सम्यग्दर्शनसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते" अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्पन्न भिक्षु योगी कहा जाता है।[७७] पूर्ववत् ही संन्यासी को शत्रु-मित्र, मानापमान में समभाव रखने वाला बताया गया है।[७८] वह इष्ट संयोग में प्रसन्न तथा अनिष्ट संयोग में उद्विग्न न होकर सम बना रहता है।[७९] विष्णु पुराण के अनुसार मोक्ष का एक मात्र उपाय चित्त को समदर्शी बनाना है। भोजन के विषय में स्वादु-अस्वादु का विचार ही कैसा? बताओ, ऐसा पदार्थ कौनसा है जो आदि, मध्य और अन्त तीनों ही समय में रुचिकर प्रतीत हो? सभी परिवर्तनशील है। इसी विषय को मार्कण्डेय पुराण में भी बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है कि सत्-असत् रूप और गुण-अगुण रूप यह संसार जिसके लिए आत्ममय बन गया, उस (योगी) के लिए कौन प्रिय है? और कौन अप्रिय है?[८०]

इस प्रकार पुराण तथा जैन धर्म दोनों में श्रमण का मुख्य गुण समत्व ही माना है। समत्व से ही क्षमा भी आती है। इसीलिए गीताकार ने समत्व को सबसे बड़ा योग कहा है—"समत्वं योग उच्यते।" इस समत्व को धारण करने वाला ही

स्थितप्रज्ञ हो सकता है क्योंकि वह किसी भी परिस्थिति में अपनी बुद्धि को स्थिर रखता है, अपनी आस्था को अडिग रखता है। इसके अलावा निस्पृहता, निरभिमानता आदि भी कई गुण श्रमण के लिए आवश्यक बताये गये हैं। स्थितप्रज्ञ, तत्त्वदृष्टा होने से वह आश्चर्यचकित भी नहीं होता।

अंगीकरण का समय

प्रारम्भ में वर्णित आश्रमों में यह चतुर्थ तथा अन्तिम आश्रम है। भारतीय दर्शन की प्रमुख दो परंपराओं में इस विषय पर मतभेद है। ब्राह्मण परंपरा (आस्तिकतंत्र) के अनुसार जीवन के अन्तिम भाग में संन्यास ग्रहण करना चाहिए, जबकि श्रमण परंपरा के अनुसार पहले भी श्रमण-अवस्था अंगीकार की जा सकती है। डॉ. विंटरनिट्ज ने कहा है "आस्तिक तंत्रों के मत से केवल आश्रम व्यवस्था के अनुसार ही चलना चाहिए जिसमें आर्य को वानप्रस्थी या संन्यासी होकर संसार से विरक्त होने का विधान केवल तभी है, जब पहले वह ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन कर चुका हो[८१] एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके पुत्रोत्पत्ति कर चुका हो।" मनुस्मृति[८२] तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिकार[८३] का भी यही मत है। किन्तु सभी ने यह विधान पूर्णतः स्वीकृत नहीं किया। जाबालि ऋषि के अनुसार सामान्य विधि यही है जो मनु और याज्ञवल्क्य ने निरूपित की है, तथापि कोई चाहे तो प्रथम या दूसरे आश्रम से भी चतुर्थाश्रम में जा सकता है। उदाहरणस्वरूप हम शंकराचार्य, अष्टावक्र आदि को देख सकते हैं। पूर्वोक्त दोनों मतों का वैषम्य महाभारत के "पिता-पुत्र संवाद" के नाम से प्रसिद्ध अध्याय में बड़े रोचक ढंग से दिखाया गया है। उसमें पिता, जो ब्राह्मण संस्कृति का प्रतिनिधि है, कहता है कि संन्यास आश्रम-व्यवस्था के अन्त में आना चाहिए, लेकिन वह अपने पुत्र से हार जाता है जो कहता है कि जीवन की अनेक अनिश्चितताओं को देखते हुए ऐसी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था में फँसना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है।[८४] जैन परंपरा इसी मत की समर्थक है, जिसको पुराणों में भी मान्य किया गया है। कूर्मपुराण का इस सन्दर्भ में कथन है—कोई भी पुरुष जिसको ज्ञान और विज्ञान प्राप्त हो गया है और फिर वैराग्य हो जावे तो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही, जो सबसे प्रधान है, प्रव्रजित हो जावे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके यजन तथा पुत्रोत्पत्ति करके फिर यदि विरक्ति हो जावे तो संन्यासी हो जाना चाहिए। गृही विधिपूर्वक यज्ञादि न करके भी पुत्रोत्पत्ति न करके भी घर में ही संन्यास धारण कर लेता है। इसके उपरांत वैराग्य के वेग से जब घर में रहने का उत्साह ही नहीं रहे तो उसे द्विजोत्तमों की इष्टि न करके भी वहीं संन्यास धारण कर लेना चाहिए। इसका निष्कर्ष यही है कि जब भी वैराग्योदय हो जाये, तभी संन्यास लिया जा सकता है। विरक्ति की पृष्ठभूमि संन्यासाश्रम के लिए अनिवार्य है।[८५]

विष्णु पुराण में—ध्रुव को साधना-पथ से विचलित करने के लिए यही शिक्षा दी गई थी कि तूँ अभी खेल-कूद, फिर अध्ययन करके भोग भोगकर अन्त में तप करना, किन्तु पुराणकार ने उसका विरोध करते हुए लिखा है कि मूर्ख मनुष्य बाल्यावस्था में खेलते-कूदते हैं, यौवनावस्था में विषयों में फँसे रहते हैं, वृद्धावस्था में असमर्थ हो जाते हैं। अतः विवेकी मनुष्य को अवस्था का विचार न करके आत्मकल्याण में लग जाना चाहिए।[८६] महाभारत के समान ही मार्कण्डेय पुराण में पिता (भार्गव)-पुत्र (सुमति) संवाद का भी यही सारांश है कि—"भार्गव ने सुमति को समझाया कि—पहले वेद पढ़ो, गुरु सुश्रुषा में संलग्न रहो, गृहस्थ बनो, यज्ञ करो, संतानोत्पत्ति करो, वनवासी बनो, फिर परिव्राजक बनकर ब्रह्म प्राप्ति करो।" सुमति ने तत्काल उत्तर देते हुए कहा कि—ऐसा अभ्यास मैं बहुत बार कर चुका हूँ। मुझे मेरे पूर्वजन्मों की स्मृति हो रही है, ज्ञानबोध हो गया है। मुझे वेदों से कोई प्रयोजन नहीं है। मेरे अनेक माता-पिता हुए हैं।....सांसारिक-परिवर्तन के लम्बे वर्णन के बाद उसने कहा—"संसार-चक्र में भ्रमण करते-करते मुझे अब मोक्ष प्राप्ति कराने वाला ज्ञान मिल गया है। उसे जान लेने पर यह सारा ऋग्, यजुः और सामसंहिता का क्रिया-कलाप मुझे विगुण-सा लग रहा है, सम्यग् प्रतिभासित नहीं हो रहा है। मैं गुरु-विज्ञान से तृप्त और निरीह (निरभिलाषी) हो गया हूँ। वेदों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। मैं किंपाक-फल के समान इस अधर्माढ्य-त्रयीधर्म (ऋग्-यजु-सामधर्म) को छोड़कर परमपद की प्राप्ति के लिए जाऊँगा।....मुझे जो ज्ञान हुआ है, वह त्रयीधर्म का आश्रय लेने वाले नहीं पा सकते।"[८७]

प्रस्तुत आख्यान के सम्बन्ध में विंटरनिट्ज का अभिमत है कि "मार्कण्डेय पुराण में आया हुआ यह संवाद बहुत कुछ सम्भव है कि बौद्ध या जैन परंपरा का रहा हो। उसके पश्चात् महाकाव्य या पौराणिक साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है—यह बहुत प्राचीनकाल में प्रचलित श्रमणसाहित्य का अंश रहा होगा और उसी से जैन, बौद्ध महाकाव्यकारों और पुराणकारों ने ग्रहण कर लिया होगा।"

इसी आख्यान से बहुत ज्यादा साम्य रखने वाला एक आख्यान जैनागम उत्तराध्ययन में भी है जिसका संक्षिप्त रूप प्रस्तुत है—

उसुयार नगर के पुरोहित के दो पुत्र विरक्त होकर श्रमण बनने की पिता से अनुमति माँगते हैं। वैदिक धर्म का पंडित पुरोहित कहता है—सर्वप्रथम वेदाध्ययन करो, ब्राह्मणभोज करो, स्त्रियों के साथ भोग भोगो, पुत्रोत्पत्ति के उपरांत उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर पहले आरण्यक (वानप्रस्थ) को और फिर मुनिधर्म को अंगीकार करना, क्योंकि वेदवेत्ताओं के वचन हैं कि पुत्रहीन को शुभगति प्राप्त नहीं होती। *पुरोहित पुत्र उत्तर देते हैं—वेदाध्ययन कर लेने से मनुष्य का त्राण नहीं हो सकता,*

ब्राह्मण-भोज कराकर भी अन्धकार से नहीं बचा जा सकता। पत्नी-पुत्र भी दुर्गति से नहीं बच सकते—ऐसी स्थिति में कौन इनका अनुमोदन करेगा? आप पुत्रोत्पत्ति के उपरांत प्रव्रज्या का परामर्श देते हैं किन्तु कौन निर्णय दे सकता है कि तब तक यह जीवन कायम रहेगा ही? कल का तो क्या, पल का भी भरोसा नहीं। आप लम्बे भविष्यत् की योजना प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में मौत के साथ जिसकी मित्रता स्थापित हो चुकी हो या जो मृत्यु से बच सकता हो या जिससे मरने का परिज्ञान हो चुका हो, वही कल पर अवलम्बित रह सकता है।[८९] जो श्रेयस्कर और कर्त्तव्य है, वह आज अकर्त्तव्य कैसे हो सकता है? पूर्ववर्णित (कूर्मपुराण) के समान जैन धर्म का भी यही मन्तव्य है कि जब भी विरक्ति की भावना जागृत हो जाये तभी श्रमणधर्म अंगीकार कर लेना चाहिए एवं समयमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[९०]

प्रयोजन तथा महत्त्व

संन्यास का तात्त्विक अर्थ श्रीकृष्ण के अनुसार "कामना से उत्पन्न हुए कर्मों का त्याग है।"[९१] हरिवंश पुराण में भी संन्यासियों को "विकांक्षिणः" कह यही बात पुष्ट की गई है।[९२] जैन धर्म में भी श्रामण्य के पूर्व यही आवश्यकता बताई है कि जो मनुष्य अपनी कामनाओं को निवारित नहीं करता, वह श्रामण्य का पालन नहीं कर सकता।[९३]

तात्पर्य यही है श्रमण बनने अथवा संन्यास अंगीकरण का प्रयोजन कुछ प्राप्त करना न होकर, जो कर्मबंधन है उनसे छूटना, मुक्त होना अर्थात् आत्मशुद्धि ही है।

संन्यास की गौरव-गरिमा अतीत काल से चली आ रही है। श्रमण तथा ब्राह्मण दोनों ही परंपराओं में वह शीर्षस्थ स्थान पर आसीन रहा है। वैदिक संस्कृति में तो उसे दो हाथों वाला साक्षात् परमेश्वर माना है—"द्विभुजः परमेश्वरः" तथा जैन परम्परा में भी श्रमण एक प्रमुख तीर्थस्वरूप, पूज्य तथा परमेष्ठी माना गया है।

संन्यास का प्रमुख लक्ष्य निःश्रेयस (मुक्ति) प्राप्त करना ही है। हरिवंश पुराण में संन्यासी के विषय में कहा गया है कि वे सब शुद्ध हृदय वाले यति हैं। इनका अन्तःकरण ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है। इन्होंने ज्ञानाग्नि द्वारा अपनी सम्पूर्ण कर्म-राशि जला डाली है। ये अब अपने प्राणों का ही प्राणरूप अग्नि में हवन करते हैं।[९४] कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगने हेतु ही जन्म एवं मरण होता है। यदि कर्मराशि ही न रहे तो जन्म-मरण का प्रश्न ही नहीं रहता। संन्यासी केवल जीवन-निर्वाह के कर्म ही अनासक्त भाव से करता है। अन्य सभी सकाम कर्मों का वह त्याग कर देता है अतः जन्म-मरण के चक्र से छूटकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ तथा जीवन का परमलक्ष्य माना गया है। मोक्ष प्राप्त कराने वाला होने से ही संन्यास को चारों आश्रमों में श्रेष्ठ बताया गया है।[९५]

जैनागमों में भी श्रमण के लिए यही कहा गया है कि वह मोक्ष को उद्देश्य बनाकर विषयादि की इच्छा नहीं करे और पूर्वकर्मों को क्षय करने के लिए प्रयत्नशील रहे।[९६] मुक्ति की प्रक्रिया विविध उपमाओं द्वारा इस प्रकार बताई है—"श्रद्धारूपी नगर, क्षमादिरूप किला और तप-संयमरूप अर्गला बनाकर मुक्तिरूप शास्त्रों द्वारा दुर्जय कर्मशत्रुओं से अपनी रक्षा करनी चाहिए। फिर पराक्रमरूपी धनुष की ईर्यासमितिरूप डोरी बनाकर, धैर्य रूपी केतन से सत्य द्वारा उसे बाँधना चाहिए। उस धनुष पर तपरूपी बाण चढ़ाकर कर्मरूपी कवच का भेदन करे; इस प्रकार संग्राम से निवृत्त होकर मुनि भवभ्रमण से मुक्त हो जाते हैं।"[९७]

पुराण तथा जैन धर्म में वर्णित मुनिधर्म का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि—दोनों ही साधु अन्तर्दृष्टि से अत्यन्त सन्निकट है तथा बाह्यदृष्टि से भी बहुत सा साम्य है। दोनों में मुनि धर्म को मोक्ष का साक्षात् कारण (राजमार्ग) माना है। वस्तुतः संन्यास का मार्ग ही निवृत्ति का मार्ग है, अतः उसका निवृत्तिप्रधान श्रमणसंस्कृति से साम्य होना सहज ही सम्भव है।

योगी का योगाचार (अष्टांग योग)

योग का अर्थ

युज् धातु से घञ प्रत्यय से बने हुए इस योग शब्द के दो अर्थ हैं—

१. जोड़ना, संयोजित करना तथा २. समाधि, मन स्थिरता।[९८]

आचार्य पतञ्जलि ने "चित्तवृत्ति के निरोध को योग" कहा है।[९९] आचार्य हरिभद्र के अनुसार—वे सब साधन योग हैं, जिनसे आत्मा शुद्ध होता है—मुक्त होता है।[१००] आध्यात्मिक भावना तथा समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला एवं मन-वचन-कर्म को संयत रखने वाला धर्मव्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[१०१] "चित्तवृत्ति-निरोध" तथा "मोक्षप्रापक धर्मव्यापार" का अर्थ सूक्ष्म दृष्टि से एक ही निकलता है। चित्तवृत्ति निरोध का तात्पर्य—संसाराभिमुख चित्तवृत्तियों को रोककर मोक्षाभिमुख बनाना। अपने मन, वचन एवं काय (शरीर) की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर लेने से योगी को योगी कहा जाता है, क्योंकि वह अपने योगों (उपलब्धियों) को साध लेता है।

योगांग

पुराणों में योगों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। प्रथम वर्गीकरणानुसार योग पाँच हैं—

१. **मंत्रयोग**—मंत्रों के अभ्यासवश, जो मन की *वृत्ति मंत्र के वाच्यार्थ-गोचर* होकर स्थिर हो जाती है।

२. **स्पर्शयोग**—प्राणायाम-युक्त उक्त मनोवृत्ति स्पर्शयोग है।

३. **भावयोग**—यदि यही मंत्र के स्पर्श से रहित हो तो वह भावयोग है।

४. **अभावयोग**—जिसमें सारा विश्व तिरोहित रूप हो जाता है, उसे अभावयोग कहते हैं।

५. **महायोग**—जिसमें उपाधि रहित शिव-स्वभाव का ही चिन्तन किया जाता है, वह मनोवृत्ति महायोग है।[१०२]

द्वितीय वर्गीकरण त्रिधा है—

१. **ज्ञानयोग**—चित्त का आत्मा के साथ संयोग होना।

२. **भक्तियोग**—अभीष्ट देव के साथ आत्मा का एकीकरण होना।

३. **क्रियायोग**—चित्त का बाह्यार्थ संयोग होना।[१०३]

इनके अतिरिक्त अष्टांग योग[१०४] तथा षडंग योग[१०५] का वर्णन भी पुराणों में किया गया है। इनके नाम इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। षडंग योग के अन्तर्गत इनमें से पूर्ववर्ती दो अंगों का नाम नहीं आता। अष्टांगयोगों में से—

१. **यम** (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) एवं

२. **नियम** (तप, भक्ति आदि गुण) का विवेचन सामान्य आचार में पर्याप्त किया जा चुका है।

३. **आसन**—शिव पुराण में आठ प्रकार के आसनों का उल्लेख है—स्वस्तिक, पद्म, मध्येन्दु, वीर, योग, प्रसाधित, पर्यंक एवं यथेष्ठ है।[१०६] पतंजलि के अनुसार सुखपूर्वक स्थिर होकर बैठना आसन है।[१०७]

जैन परंपरा के प्राचीन साहित्य (आगम) में अष्टांग योग का तो उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके तथ्यों का उल्लेख पाया जाता है। आसन का वर्णन वहाँ कायक्लेश तप के अन्तर्गत किया गया है।[१०८] आसन दो प्रकार के होते हैं—शरीरासन एवं ध्यानासन। ध्यानासन के लिए दो अपेक्षाएँ हैं—

१. शरीर स्थिर रहे और २. सुखपूर्वक बैठा जा सके।

जैनागमों में इन आसनों का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है—कायोत्सर्ग, स्थान, उकडूं, पद्मासन, वीरासन, गोदोहिकासन तथा पर्यंकासन।[१०९]

४. **प्राणायाम**—पूरक, कुम्भक, रेचक तथा ये भी द्विविध १ अगर्भ २ सगर्भ तथा चतुर्विध कन्यक, मध्यम, उत्तम, पर इत्यादि प्रकार का प्राणायाम बताया गया है। प्राणायाम श्वास-प्रश्वास के गतिविच्छेद को कहा जाता है।[११०] प्राणायाम का कोई विशेष महत्त्व जैन परंपरा में नहीं है। "जैन प्रक्रिया के अनुसार विजातीय द्रव्य का

रेचन और अन्तर्भाव में स्थिर होना कुम्भक है। चित्त की एकाग्रता के लिए यही प्राणायाम है।"[१११]

५. **प्रत्याहार**—पुराणों के अनुसार—सांसारिक वस्तुओं (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) में लगे मन का प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार है। इसी को पतंजलि ने इस प्रकार से बताया है "इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना।"[११२]

प्रत्याहार की तुलना जैनागमों में व्यक्त प्रतिसंलीनता (इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना) तप से ही हो सकती है, जो चार प्रकार का है।[११३]

(१) **इन्द्रिय-संलीनता**—इन्द्रियों के विषयों से बचना।

(२) **कषाय-संलीनता**—क्रोध, मान, माया, लोभ से बचना।

(३) **योग-संलीनता**—मन-वचन-शरीर की प्रवृत्ति से बचना।

(४) **विविक्त-शय्यासन**—एकान्त स्थान में सोना, बैठना।

६. **धारणा**—चित्त का स्थानबंध-स्थिरता धारणा कहलाती है।[११४] योगदर्शनकार के अनुसार चित्त को किसी ध्येय में बांधना—स्थिर करना धारणा है।[११५] जैन परंपरा में इस धारणा के अर्थ में "एकाग्रमन सन्निविशना" (किसी आलम्बन में मन को स्थापित करना) है, जिसका फल "चित्तनिरोध" बताया गया है।[११६]

७. **ध्यान**—योगदर्शन के अनुसार—ध्यान का अर्थ चित्त का एक विषय में स्थिर होना है।[११७] अग्नि पुराण में ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान-प्रयोजन इन चारों को जानकर योग साधना करने का निर्देश दिया गया है।[११८]

इस बात को तत्त्वानुशासनकार ने भी समझाया है कि ध्यान साधना में गति करने के इच्छुक साधक को पहले ध्यान के इन अंगों की सम्पूर्ण और विधिवत् जानकारी प्राप्तव्य है—ध्याता, ध्यान, फल (संवर-निर्जरा आदि के रूप में), ध्येय, यस्य (ध्यान का स्वामी), यत्र (ध्यान करने का क्षेत्र-स्थान), यदा (ध्यान का समय), यथा (ध्यान की योग्य विधि)।[११९] इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में ध्यान दुर्ध्यान भी हो सकता है।

ध्यान का महत्त्व

अग्निपुराणकार ने ध्यान की महत्ता इस प्रकार से प्रतिपादित की है—ध्यान यज्ञ सर्वदोषों से रहित शुद्ध यज्ञ है। अतः यज्ञ आदि कर्मों तथा अशुद्ध और अनित्य बाह्य साधनों को त्याग कर मोक्षप्रदायी ध्यान-यज्ञ करना ही उपादेय है।[१२०] ध्यान को अन्य सभी धार्मिक कृत्यों से श्रेष्ठ संपादित करते हुए शिवपुराणकार का मत है—ध्यान के द्वारा प्रसन्नता और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। इस संसार में ध्यान से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरी वस्तु नहीं है। ध्यान करने वाले साधक परमात्मा शिव को

बहुत अधिक प्रिय है, अपेक्षा उनके जो केवल अन्य धार्मिक कृत्य का ही सम्पादन करते हैं। अतः निश्रेयस्-सिद्धि के लिए अवश्य ध्यान करें—

नास्ति ध्यानसमं तीर्थं, नास्ति ध्यानसमं तपः
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद्ध्यानं समाचरेत्॥[१२१]

ध्यान अर्थात् चित्त की एकाग्रता (अन्तःरमण) को ही सब कुछ बताते हुए कहा है—जो बाह्यकर्म के प्रति नहीं परन्तु अन्तर पूजन में प्रीति रखता है, उस महात्मा को बाह्य कर्म करना अनिवार्य नहीं है।[१२२] यदि भगवान् में चित्त की एकाग्रता नहीं है तो कर्म से भी क्या है और यदि चित्त की एकाग्रता है तो कर्म न करने से भी कोई हानि नहीं—

नैकाग्रमेव चेच्चितं किं कृतेनापि कर्मणा।
एकाग्रमेव चेच्चितं किं कृतेनापि कर्मणा।[१२३]

जैन धर्म में भी ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। ऋषि भाषित (इसिभासियाइं) में लिखा है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[१२४] जैन परंपरा के साथ ध्यान उसके अस्तित्व काल से जुड़ा हुआ है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें सदैव ही ध्यान मुद्रा में उपलब्ध होती हैं, अन्य मुद्रा में आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। यद्यपि बुद्ध, शिव आदि की भी प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में मिलती हैं, फिर भी उनकी अधिकांश प्रतिमायें अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, उपदेशमुद्रा तथा शिव की नृत्यमुद्रा आदि में भी उपलब्ध होती है।[१२५] ध्यान के लिए तो जैनागमों ने यहाँ तक कह दिया है कि ध्यान से तत्काल सिद्धि प्राप्त होती है—"झाणेण तक्खणा सिद्धि"।

ध्यान का स्वरूप

ध्यान की एकाग्रचित्तता का वर्णन करते हुए पुराणों का कथन है—ध्यान में ध्याता का चित्त पूर्णतः ध्येय से जुड़ जाता है। ध्यान करने वाला अन्य किसी का ज्ञान ही नहीं रखता है, क्योंकि वह ध्यान में ही चित्त को स्थापित कर देता है। योगी को ध्यान की स्थिति में अन्य का कुछ भी भान नहीं होता और न वह कुछ देखता है, न सूंघता है, तथा न कुछ सुनता ही है। वह ध्याता तो अपनी आत्मा में ही लीन रहता है।[१२६]

लगभग इसी प्रकार से ध्यान का स्वरूप बताते हुए जैन धर्म में भी कहा गया है—ध्यान में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं होती अर्थात् काय का व्यापार, बोलने का व्यापार तथा कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए। जिससे आत्मा, आत्मा में (स्व में) तल्लीन (स्थिर) होवे, वही परमध्यान है।[१२७] ध्याता यदि नाना प्रकार के ध्यान

अथवा विकल्परहित ध्यान करना चाहता है तो इष्ट तथा अनिष्टरूप जो इन्द्रियों के विषय हैं, उनमें राग-द्वेष और मोह नहीं करें।[१२८]

ध्यान के प्रकार

पुराणों में ध्यान प्रमुखतः दो प्रकार का बताया गया है—सविषय तथा निर्विषय। इनको क्रमशः सबीज अथवा विशेषरूपाश्रित एवं निर्बीज अथवा निराकारात्मक संवित्ति भी कहा गया है। स्कंद पुराण में कहा गया है—"ध्यै चिन्तायाम्" अर्थात् ध्यै धातु चिन्ता के अर्थ में है, यह चिन्तन करने में सुनिश्चल होती है, अतः यह ध्यान कहा गया है। यह सगुण तथा निर्गुण के ध्यान से दो प्रकार का होता है। सगुण वर्णभेद से कहा गया है और निर्गुण का ध्यान केवल माना गया है। यह मंत्र से वर्जित होता है।[१२९] सविषय तथा निर्विषय ध्यान के पूर्वापर सम्बन्ध को लिंग पुराण में इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—"ध्यान निर्विषय कहा गया है, जो कि आदि में सविषय हुआ करता है।"[१३०] अर्थात्—सविषय ध्यान ही विषय के न रहने पर निर्विषय हो जाता है। सबीज ध्यान का तात्पर्य साकार अर्थात् वस्तु आलम्बन से ध्यान करना है। निर्बीज ध्यान निराकार का होता है, आधारहीन होता है।

प्रशस्त ध्यान का वर्णन करते हुए जैन धर्म में भी उसके दो प्रकार बताये हैं—धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान।

धर्मध्यान चार प्रकार का है—

१. **आज्ञाविचय** (आगमों के अनुसार पदार्थों का चिन्तन करना),

२. **अपायविचय** (हेय क्या है? इसका चिन्तन करना),

३. **विपाकविचय** (हेय के परिणामों का चिन्तन करना),

४. **संस्थानविचय** (लोक, शरीर आदि का चिन्तन करना)[१३१]

शुक्लध्यान के भी चार प्रकार हैं—

१. **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार**—इस ध्यान में ध्याता द्रव्य एवं पर्याय पर चिंतन करता है, फिर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है।

२. **एकत्व-वितर्काविचारी**—योगसंक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्ववितर्काविचारी है।

३. **सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति**—यह मन-वचन-शरीर के व्यापार का निरोध हो जाने पर तथा मात्र श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया शेष रहने पर होता है।

४. **समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति**—जब तीनों योगों (मन-वचन-काय) की प्रवृत्तियाँ पूर्णतया निरुद्ध हो जाती हैं एवं कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती है, वह

समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान कहलाता है।[132] इनके अतिरिक्त प्रकारान्तर से ध्यान के पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ये चार प्रकार भी हैं।[133]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वभूमिका सविषय होती है अर्थात् तत्त्वचिंतन आदि अवलम्बन पर आधारित होती है तथा अन्तिम रूप निर्विकल्प होता है, उसी को द्रव्यसंग्रहकार ने निश्चय ध्यान कहा है।[134] तत्त्वानुशासनकार के अनुसार—एक अवलम्बन में चित्त को स्थिर करना ध्यान है। ज्ञान व्यग्र है तथा ध्यान एकाग्र होता है। द्वेषरहित, अपेक्षामय, यथार्थ अत्यन्त स्थिर और निश्चयनय से षट्कारकमय आत्मा ही ध्यान है।[135] उदाहरणार्थ—जो ध्याता है वह आत्मा कर्त्ता है, जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा कर्म है, जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यान परिणति रूप आत्मा करण है, जिसके लिए ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप के विकास के प्रयोजन रूप आत्मा सम्प्रदान है, जिस हेतु से ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादि हेतुभूत अपादान है, तथा जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्ध स्वरूप को ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा अधिकरण है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार ध्यान दो प्रकार के हैं—

१. निश्चयात्मक ध्यानावस्था—शुद्ध आत्मचिंतन तथा

२. दूसरी वह अवस्था, जिसमें अपनी अक्षमता के कारण आत्मा का पुरुषाकार रूप में ध्यान किया जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है—ध्यान का बहुत ज्यादा महत्त्व पुराण तथा जैन धर्म में है। बाह्य तप से स्वर्गादि की प्राप्ति सम्भव है; परन्तु शाश्वत सुख की प्राप्ति तो ध्यान से ही सम्भव है। ध्यानावस्था में आस्रवों का निरोध होकर संचित कर्मों का नाश होने लगता है। ध्यानाभ्यास के बिना बहुत से शास्त्रों का पठन और नानाविध आचारों का पालन व्यर्थ है।[136]

८. समाधि—पतंजलि के अनुसार—वही ध्यान जब अर्थमात्र प्रतिभासित हो, तब समाधि कहलाता है।[137] शिव पुराण के अनुसार यह योग की अन्तिम सीढ़ी है। समाधि से सर्वत्र प्रज्ञालोक (ऋतम्भरा प्रज्ञा) प्रवर्तित होता है। स्वरूपशून्यता ही समाधि का लक्षण है। समाधिस्थ योगी न कुछ सुनता है, न किसी वस्तु का आघ्राण करता है। वह न तो बोलता है और न देखता ही है।[138] उसे किसी स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता और न ही उसका मन संकल्प-विकल्प करता है। वह अभिमान नहीं करता। उसकी स्थिति पूर्णरूप से काष्ठवत् होती है। वह एकदम स्तिमित (शांत) उदधि के समान होता है। जैसे निर्वात स्थान में रखा हुआ प्रदीप कभी भी स्पन्दित नहीं होता, उसी प्रकार समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी उससे विचलित नहीं होता।[139] सर्वत्र केवल एकमात्र ध्येय ही है, ऐसा ध्यान करते हुए ध्येय में तन्मयता की दशा को प्राप्त

हो जाता है, उसे योग की अन्तिम अवस्था समाधि कहते हैं। जब योग के स्वामी का मन, संकल्प से रहित हो जाता है और इन्द्रियों के विषयों का चिंतन बिल्कुल भी नहीं करता तथा जिसका मन ब्रह्म में भली-भांति लीन होता है, उसी दशा को समाधिस्थता कहा जाता है।[१४०]

समाधि में स्वस्थता (स्व में ही केन्द्रित होना—स्थिर होना) का जैनागमों में भी वर्णन प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र में—बाह्य जगत्—से अन्तर्जगत् की ओर प्रवेश करना तथा चित्त-स्वस्थता एवं अनशन अर्थ में समाधि शब्द प्रयुक्त है।[१४१] सूत्रकृतांग में अध्यात्मरमण, सन्मार्ग का सम्यक् आचरण, रत्नत्रयी की पर्युपासना, श्रद्धा का स्थिरीकरण, आर्जवधर्म की अर्चना, वाणी का संवरण, असत् की निवृत्ति, संवर धर्म में अनाकुलत्व आदि अनेक परिभाषाएँ समाधि के लिए दी गई हैं।[१४२] मुख्यतः समाधि शब्द का व्यवहार-रागादि का अभाव, समता आदि के लिए किया गया है। साधक की चर्या में आने वाले उपसर्गों की विभीषिका में अनाकुल रहना तथा दुर्मनस्कता एवं विमनस्कता का अभाव समाधि है। आचार्य समन्तभद्र ने समाधि, सातिशय ध्यान एवं शुक्लध्यान को एकार्थक माना है।[१४३अ]

वस्तुतः समाधि का महत्त्व आठों अंगों में सर्वाधिक है, क्योंकि अष्टांगों का अन्तिम निष्कर्ष समाधि में ही प्राप्त होता है।

योगविघ्न

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इस प्रचलित उक्ति के अनुसार योग भी सर्वश्रेष्ठ कार्य होने से योगी को कई विघ्नों को पार करते हुए योगसाधना करनी पड़ती है। न केवल प्रतिकूल बाधाएँ, बल्कि अनुकूल बाधाओं का भी वर्णन पुराण तथा जैनधर्म में उपलब्ध होता है; जिनमें यदि योगी उलझ जाएँ (चमत्कृत हो जाएँ), तो वह आगे नहीं बढ़ सकता है। पुराणों में योगगत सामान्य विघ्न अग्रलिखित बताये गये हैं—आलस्य दैहिक एवं चित्त सम्बन्धी विविध होता है, तीव्र व्याधियाँ (धातु-वात-पित्त-कफ के वैषम्य से तथा कर्मदोष से उत्पन्न होती हैं), प्रमाद (योग साधना के उपायों का उपयोग न करना प्रमाद है), स्थानसंशय (ध्येय के विषय में संशय होना), अनवस्थिचित्तत्त्व (मन की अप्रतिष्ठा), अश्रद्धा (योगमार्ग में भावरहित वृत्ति ही अश्रद्धा है), भ्रान्तिदर्शन (विपर्यस्त मति का नाम ही भ्रान्ति है), दुःख (अज्ञान से उत्पन्न होने वाला चित्त सम्बन्धी दुःख आध्यात्मिक दुःख कहा गया है। पुराकृत कर्मों के परिणामस्वरूप शारीरिक दुःख, आधिभौतिक दुःख तथा वज्र अग्नि एवं विषादि से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिदैविक दुःख कहा गया है), दौर्मनस्य (इच्छा के विघात से उत्पन्न होने वाला क्षोभ), विषयों की ओर आकर्षण—ये दस योगाभ्यासी के लिए अन्तराय कहे गये हैं।[१४३ब]

हरिवंश पुराण में भी निम्न उपसर्गों का उल्लेख है—योगी जब भ्रूमध्य में चित्त को एकाग्र करके ब्रह्म का ध्यान करता है, तब उसके समक्ष महान् धुआँ उठने लगता है, वह धूमसमूह बहुरंगे होते हैं और मेघों के रूप में परिणत होकर जलधारायें बरसाते हैं, तब योगी के मस्तक पर महान् अग्नि उत्पन्न होती है, वह सैंकड़ों लपटों से आवृत्त होती है। इसके अनन्तर अनेक विकार योगी को व्यथित करते हैं। कभी योगी को शीतल जल में गिराया जाता है, जिससे वह आसन और आच्छादन से वंचित होकर अचेतन-सा हो जाता है। कभी गड्ढे में गिराकर जल-प्रवाह डाले जाते हैं, कभी घोररूपधारी नराकार प्राणी योगी को डंडों से पीटते हैं। फिर वे स्त्रीरूप धारण करके योगी से लिपटते हैं और नाना प्रलोभन देकर विघ्न उपस्थित करते हैं।[१४४]

इनके अतिरिक्त इन विघ्नों के शान्त होने पर सिद्धिसूचक अन्य विघ्न (दिव्य उपसर्ग) उपस्थित होते हैं।[१४५] ये विघ्न छः हैं—

१. **प्रतिभा**—सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट, अनागत वस्तुओं का यथातथ्य प्रतिभास (प्रतीति) को प्रतिभा कहा जाता है। इसके बल पर योगी एक स्थान पर बैठा संसार के किसी भी स्थान पर किसी भी वस्तु का सत्यज्ञान प्राप्त कर लेता है।

२. **श्रवण**—इसके द्वारा बिना प्रयत्न के ही सम्पूर्ण शब्दों का श्रवण होता है।

३. **वार्ता**—संसार के समस्त प्राणियों के विषय की बातें ज्ञात होती हैं।

४. **दर्शन**—प्रयत्न के बिना ही दिव्य वस्तुओं का दर्शन होता है।

५. **आस्वाद**—प्रयत्न के बिना ही दिव्य रसों का आस्वाद होता है।

६. **वेदना**—संसार के सभी दिव्य गंध एवं दिव्य रसों के स्पर्श का ज्ञान होता है।[१४६]

इच्छाशरीर धारण करना, आकाश-गमन, पदार्थ-परिवर्तन, जल में निवास करना, स्तम्भ करना, अदृश्य होना, स्थूल को सूक्ष्म से अलग करना, स्वेच्छागमन, अग्नि से न जलना, इच्छाशक्ति से सब कुछ कर देना, गंध देना, हल्का-भारी होना, सर्वत्र सूक्ष्म होकर विचरण करना इत्यादि विभूतियाँ भी प्राप्त होती हैं, पर इनको भी परमतत्त्व की प्राप्ति में बाधक ही समझना चाहिए।

इस प्रकार योगी सम्पूर्ण आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करता है एवं स्वेच्छानुसार सभी पदार्थों पर पूर्ण अधिकार रखता है, परन्तु इन सिद्धियों को भी पुराणों में उपसर्ग संज्ञा दी गई है; क्योंकि ये योगी को योग से महायोग की ओर बढ़ने में बाधक-विघ्नकारिणी होती है। इनसे प्रलोभित होकर योगी अपने प्रमुख लक्ष्य से वंचित रह जाता है। अतः योगी के लिए कहा गया है कि वह इन सिद्धियों के

लोभ में कभी भी नहीं पड़े। जो योगी इनको तृणवत् समझकर इनका परित्याग कर देता है, वही परायोग की सिद्धि को प्राप्त करता है।[१४७]

पूर्ववर्णित योगविघ्नों के समान ही जैनागमों में भी साधना-मार्ग में आने वाले विघ्नों का वर्णन किया गया है। जिनमें प्रारम्भिक बाधाएँ हैं—

१. मोह	२. क्षयोपशम का अभाव
३. अस्वस्थता	४. स्तम्भ
५. मिथ्यात्व	६. अविरति
७. प्रमाद	८. कषाय
९. शरीर, वाणी और मन की चंचलता	
१०. आलस्य	११. अविनय और
१२. विकृति-प्रतिबद्धता-रसलोलुपता, अश्रद्धा।[१४८]	

योगी को इन २२ परिषहों पर भी विजय प्राप्तव्य है—क्षुधा, पिपासा, शीत, ऊष्ण, दंशमशक, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।[१४९]

उपसर्गों का विवेचन करते हुए उसके तीन प्रकार बताये हैं—देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यन्चकृत। उपसर्ग अनुकूल भी होते हैं तथा प्रतिकूल भी होते हैं। साधना करते हुए योगी को अनेक प्रकार चमत्कारिक शक्तियों की प्राप्ति होती है, परन्तु जो साधक उनके व्यामोह में नहीं पड़ता, वही अपने ध्येय को प्राप्त करता है; तथा जो इनमें आसक्त हो जाता है वह अपने लक्ष्य से च्युत होकर पुनः संसार-भ्रमण करता है। इसीलिए योगियों के लिए यह निर्देश दिया गया है कि वे तप, ध्यान का अनुष्ठान किसी लाभ, यश या कीर्ति, लब्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा से न करें।[१५०] भगवती सूत्र में इस प्रकार की लब्धियों का वर्णन प्राप्त होता है।[१५१] हेमचन्द्राचार्य ने भी कई लब्धियों का वर्णन किया है। यथा—कफ-मूत्र-मल-अमर्श और सर्वौषध ऋद्धियाँ तथा संभिन्न श्रोतोपलब्धि (एक ही इन्द्रिय सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने लगती है), चारणलब्धि (उड़ने की शक्ति), आशीविष लब्धि (शापानुग्रह की शक्ति), अवधिज्ञानलब्धि (इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना, रूपी द्रव्यों को नियत सीमा में जानने वाला ज्ञान), मनः पर्ययलब्धि (संज्ञी जीवों के मनों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान)।[१५२]

साधक को ये चमत्कार सहज होते हैं। वस्तुतः "चमत्कार आत्मा में है, शब्दों में नहीं। आत्मा का चमत्कार स्थायी है, शब्दों का अस्थायी।"[१५३] जिनका आत्मा मोह, मत्सर एवं विषयाभिलाषा के मैल से मुक्त होकर जितना पवित्र, निर्मल और परमात्मलीन होगा, उतना ही उनके शब्दों में चमत्कार आ बसेगा। इसके विपरीत

जिनका आत्मा काम-वासनादि विकारों से दूषित तथा लालसाओं से मलिन होगा, वे चाहे कितने ही बीजाक्षरों की रटन एवं सेवन करे, उनको वह सिद्धि कभी नसीब नहीं होगी, जो पवित्र आत्मा को सहज होती है।

योग का अधिकारी

योग साधना कौन कर सकता है—इस पर पुराण तथा जैनधर्म दोनों ने विचार किया है। पुराणों के अनुसार—जिस व्यक्ति का मन दृष्टि (लौकिक) एवं आनुश्रविक (वेद वर्णित) पदार्थों या उपायों से विरक्त हो जाता है, उसी का योग में अधिकार होता है, अन्य किसी का नहीं—

दृष्टे तथानुश्राविके विरक्तं विषये मनः।
यस्य तस्याधिकारोऽस्ति योगे नान्यस्य कस्यचित्॥[१५४]

ऐसा व्यक्ति, जो अत्यन्त उत्साहयुक्त हो, वह योगमार्ग में आने वाले विघ्नों को नष्ट कर देता है, इसमें संशय नहीं है।[१५५] हरिवंश पुराण में योग के अधिकारी पुरुषों के लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं—जो मनुष्य अयाच्य से याचना नहीं करते, शरणागतों की रक्षा करते हैं, दीनों का अपमान नहीं करते, धन का गर्व नहीं करते, उचित आहार-विहार करते हैं, जो अपने कर्मों में शास्त्रानुसार चेष्टा करते हैं, ईश्वर का ध्यान एवं स्वाध्याय करते हैं, नष्ट वस्तु की खोज नहीं करते, सदैव भोग में लीन नहीं रहते, मधु-माँस का भक्षण नहीं करते, कामपरायण न होकर विप्रों की सेवा करते हैं, जो अनार्य पुरुषों की बातों में आसक्त नहीं होते, आलस्य रहित व अभिमान से अनासक्त होते हैं, सत्संग करते हैं; ऐसे शान्तचित्त, क्रोध को जीतने वाले और मान-अहंकार रहित पुरुषों को ही योगसिद्धि प्राप्त होती है।[१५६] योग की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, विशेषतः अल्पबुद्धि मानवों को योगसिद्धि दुर्लभ है, यदि मिल भी जाये तो वे दुर्व्यसनों के आचरण से उसे नष्ट कर देते हैं।[१५७] श्रद्धापूर्वक योगमार्ग में प्रयत्नशील रहकर हल्का भोजन करते हुए, जितेन्द्रिय रहने वाले पुरुष को योग सिद्धि प्राप्त होती है तथा पक्षी की भाँति अनासक्त, निर्द्वन्द्व तथा निष्परिग्रह होकर विचरने वाले व्यक्ति को योग के फल का प्राप्तकर्त्ता कहा गया है।[१५८] योगी को ब्रह्मचिन्तन-योग्य होने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्वाध्याय, शौच, संतोष और तप का निष्काम आचरण आवश्यक है।[१५९]

जैनाचार्य हरिभद्र ने योगाधिकारी का निरूपण इस प्रकार से किया है—जो जीव चरमावर्त में रहता है अर्थात् जिसका (संसार-भ्रमण का) काल मर्यादित हो गया है, जिसने मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन कर लिया है, जो शुक्लपक्षी है तथा चारित्र पालन करने वाला है, वह योग साधना का अधिकारी है। ऐसा योगी अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त कर देता है।[१६०अ] स्थानांग सूत्र में शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के अधिकारी की योग्यताएँ बताई हैं—जो मुनि विकथा नहीं करता, आत्मा को असम्यक्

भावित नहीं करता, धर्म जागरिका करता है तथा शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा करता है, उसे अतिशय ज्ञान-दर्शन प्राप्त होता है।[१६१] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार—समाधि को चाहने वाला श्रमण प्रमाणयुक्त तथा निर्दोष आहार ग्रहण करे, गुणवान् मित्र को सहायक बनावे तथा एकान्त शान्तस्थान पर साधना करे।[१६१ ब] उचित आहार-विहार, साध्य के अनुकूल कार्यसिद्धि हेतु चेष्टाओं तथा उचित निद्रा एवं जागरण युक्त साधक के लिए योग दुःखों का हरण करने वाला होता है—

युक्ताहार-विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥[१६२]

योगाधिकारी का वर्णन करते हुए योगसिद्धि के लक्षण भी मार्कण्डेय पुराण में व्यक्त हैं। जब मनुष्य में प्रेमभाव आये, परोक्ष में गुण-कीर्तन हो तथा कोई जीव उससे भयभीत न हो, यह उसकी सिद्धि का उत्तम लक्षण है। जिसको अत्यधिक भयानक शीत आदि से भी पीड़ा नहीं होती और जो किसी से भी भयभीत न हो, उसको सिद्धि प्राप्त हो गई, ऐसा जानना चाहिए।[१६३]

जैन धर्मानुसार भी योगी के द्वारा सभी जीवों को अभयदान दिया जाता है तथा वह शीत-उष्णादि से पीड़ित नहीं होता।

योग का महत्त्व

लिंग पुराणानुसार—योग अप्रमत्त के ही होता है। योग बहुत बड़ा बल है। योग से बढ़कर मनुष्यों के लिए कुछ भी शुभ कार्य दिखाई नहीं देता है, अतः धर्मयुक्त मनीषी योग की प्रशंसा करते हैं।[१६४] पुराणों में योगधर्म को श्रेष्ठ धर्म कहा है।[१६५] योगधर्म इहलोक और परलोक में सभी प्राणियों के लिए हितकर बताया गया है।[१६६] इसका आचरण करने से शान्ति प्राप्त होती है और फिर योगियों की गति (मोक्ष) प्राप्त होती है, जो कि दुर्लभ है।[१६७]

आत्मज्ञान के यत्नरूप यम-नियमादि की अपेक्षा विशिष्ट मनोगति का ब्रह्म (आत्मा) से संयोग होना ही "योग" है। जो इस प्रकार के विशिष्ट धर्म वाले योग में रत रहता है, वह मुमुक्षु योगी कहलाता है। प्रथम योगाभ्यास करने वाला "योगमुक्त" योगी कहा जाता है और जब वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, तब उसे विनिष्पन्न समाधि कहते हैं। विनिष्पन्न समाधि द्वारा योगी के कर्म योगाग्नि से भस्म हो जाते हैं और इसीलिए उसे स्वल्प काल में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[१६८]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी योग-महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—योग समस्त विपत्ति रूपी लताओं के वितान को काटने के लिए तीखी धार वाले परशु के समान है। योग के माहात्म्य से समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मी स्वयं ही वश में हो जाती है। योग के प्रभाव से विपुलतर पाप भी उसी

प्रकार विलीन (विनष्ट) हो जाते हैं, जैसे प्रचंड वायु के चलने से मेघों की सघन घटाएँ विलीन हो जाती हैं।[१६९]

निष्कर्षतः पुराण तथा जैन धर्म में योग का लक्ष्य मुख्यतः समाधि अवस्था प्राप्त करना है, क्योंकि समत्व को मुक्ति का परम पद प्राप्त करने में परम आवश्यक माना गया है।

इस प्रकार आचार वर्णन के अन्तर्गत वर्णित आचारों के सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकारों में पुराण तथा जैन धर्म में पर्याप्त समानताएँ दिखाई देती हैं। जैन साधना के मूल मन्तव्य अहिंसा की व्याख्या, परिभाषाएँ पुराणों में भी विस्तृत रूप से व्यक्त हैं। उनमें समस्त आचारों में मुख्य अहिंसा को बताते हुए अन्य सभी आचारों का समावेश अहिंसा में बताया है। इतना ही नहीं, पुराणों की यह विशिष्टता है कि जैसे जैन दर्शन में यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए सूक्ष्म अहिंसा-पालन पर बल दिया गया है; वैसे ही पुराणों की निवृत्तिवादी विचारधारा में स्पष्टतया हिंसात्मक समस्त कर्मकाण्ड वर्जित बताते हुए अहिंसा के सर्वांगीण रूप को महत्त्व दिया है। जिस प्रकार से जैन दर्शन में त्यागवृत्ति एवं निवृत्तिवादी विचारधारा प्रवाहित हुई है; वैसे ही पुराणों में अनासक्ति का सन्देश देते हुए निवृत्ति को श्रेयस्कर तथा मोक्ष का हेतु बताया है। त्याग, तप, सदाचरण, ध्यानादि का विवेचन जैन दर्शन के समान पुराणों में भी प्रचुर है। जैन दर्शन के समान ही पुराणों में भी मुनि-जीवनचर्या से सम्बन्धित कई प्रकार के आचार बताये गये हैं।

सारांशतः आचार को धर्म के व्यावहारिक रूप में जैन धर्म तथा पुराणों ने ही नहीं, भारत की समस्त संस्कृतियों ने पर्याप्त महत्त्व दिया है।

□ □ □

सन्दर्भ-सूची

१. सं. श्री महेन्द्रकुमार जी जैन "श्री तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ" के अन्तर्गत
श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का लेख "जैन धर्म और वर्ण व्यवस्था" —पृ. ४३ से

२. श्री पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री "भगवान् ऋषभदेव" —पृ. ५८

३. "द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम्" —गौतम धर्मसूत्र, १०.१-२

४. अथाह वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां
श्रोतपरिपूर्णामुदाहरे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥ —वही, १२.५

५. मुनि नूतनचन्द्र जैन "जैन संस्कृति में जातिवाद विवेचन" जयगुञ्जार

६. उत्तराध्ययन १२.३७

७. उत्तराध्ययन २५.३३

८. जे लोए बम्भणो वुत्तो अग्गी वा महिओ जहा
सया कुसलसंदिट्ठं तं वयं बूम माहणं ॥
जो न सज्जइ आगन्तुं पव्वयन्तो न सोयई
रमए अज्जवयणंमि तं वयं बूम माहणं ॥
जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं
रागद्दोसभयाईयं तं वयं बूम माहणं ॥
तवस्सियं किसं दन्तं अवचियमंससोणियं
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥
तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे
जो न हिंसइ तिविहेण तं वयं बूम माहणं ॥
कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ॥
चित्तमित्तमचित्ते वा अप्पं वा जइ वा बहुं
न वेण्हइ अदत्तं जे ते वयं बूम माहणं ॥
दिव्वमाणुसतेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणे
मणसा कायवक्केण तं वयं बूम माहणं ॥
जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा
एवं अलित्तो कामेहिं तं वयं बूम माहणं ॥
अलोलुयं मुहाजीवी अणगारे अकिंचणं
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥ —धम्मकहाणुओगे, पृ. २३८-२३९

९. समयाए समणो हाइ, बंभचेरेण बंभणो
नाणेण य मुणी होई, तवेण होई तावसो ॥ —उत्तराध्ययन, २५.३२

१०. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "विष्णुपुराण" (१) भूमिका से

११. महाभारत, शान्तिपर्व, अ. ११८, श्लो. १०

१२. भागवत ९.१४

१३. ब्राह्मणानां कुले जातो जातिमात्रतया भवेत्
अनुपेतः क्रियाहीनो मात्र इत्यभिधीयते ॥
एकोद्देश्यमतिक्रम्य वेदस्याऽऽचारवान्द्विजः
स ब्राह्मण इति प्रोक्तो निर्मलः सत्यवाग्घृणो ॥
एकां शाखां सकल्पषड्भिरङ्गैरधीत्य वा
षड्कर्मनिरतो विप्र श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥
वेदवेदांगतत्त्वज्ञ (शुद्धात्मा) पापवर्जितः
श्रेष्ठः श्रोत्रियवान्प्राज्ञः सोऽचान इति स्मृतः ॥
अनुचानगुणोपेतो यज्ञस्वाध्याययन्त्रितः
भ्रुण इत्युच्यते शिष्टैः शेषभोजी जितेन्द्रियः ॥
वैदिकं लौकिकं चैव सर्वज्ञानमापय यः
आश्रमस्था वशी नित्यमृषिकल्प इति स्मृतः ॥
ऊर्ध्वरेता भवत्यग्नी नियताशी न संशयी
शापानुग्रहयो शक्तः सत्यसंधो भवेदृषि ॥
निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः
ध्यानस्थो निष्क्रयो दान्त—मुञ्चनो कंचनो मुनिः ।

—स्कन्दपुराण (१) पृ. २१७-२१९, श्लो. ११२-११९

१४. अकृतज्ञमनार्यञ्च दीर्घरोषमनार्जवम्
चतुरो विद्धि चाण्डाला जन्माज्जायते पंचमः ॥

—गरुड़पुराण (१) पृ. ४०७, अ. ७०, श्लो. ७१

१५. दमेन हीनं न पुनाति वेदा
यदप्यधीता सह षड्भिरंगैः ॥ —पद्मपुराण (१) पृ. २२३, श्लो. १५९

१६. सच्छ्रोत्रियकुले जातो ह्याक्रियो नैव पूजितः
असत्क्षेत्रकुले पूज्यो व्यास-वैभाण्डकौ यथा ॥
क्षत्रियाणां कुले जातो विश्वामित्रोस्ति मत्समः
वैश्यापुत्रो वसिष्ठश्च, अन्य सिद्धाः द्विजादयः ॥ —वही, पृ. ३६०, श्लो. ४-५

१७. चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठः, विष्णुभक्तो द्विजाधिकः
विष्णुभक्तिविहीनश्च, द्विजोऽपि श्वपचादिकः ॥ —बृहन्नारदीयपुराण ३२.३९

१८. से असइं उच्चागोए, असइं नीयागोए
नो हीणे, नो अइरित्ते
नोऽपीहए इति संखाए
के गोयावाई के मायावाई ॥ —आचारांग, १.२.३

१९. श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल "जैन धर्म और वर्ण व्यवस्था"
(श्री तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ से)

२०. देशानुशिष्टं कुलं धर्ममग्र्यं स्वगोत्र धर्मं
—न चासत्सु नरेषु कुर्यात् ॥
परस्वे परदारे च न कार्या बुद्धिरुत्तमैः । —वामनपुराण पृ. १८१, अ. १४, श्लो. ३८-३९-४४
२१. विष्णु पुराण (१) पृ. ४१६-४२६
२२. (अ) आचार्य हरिभद्र—'धर्मबिन्दु' प्रकरण १
(ब) आचार्य हेमचन्द्र 'योगशास्त्र' १.४७-५६
२३. श्री अमोलकऋषिजी म. 'जैनतत्त्वप्रकाश', पृ. ५६७
२४. वृथाटनं वृथा दानं वृथा च पशुमारणम्
न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहः ॥ —वामनपुराण (१), पृ. १८१, अ. १४, श्लो. ४१
२५. जैनतत्त्वप्रकाश—पृ. ६७२
२६. तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. ४३
२७. वही, पृ. ४३
२८. जवाहिरलाल जैन 'श्रमण संस्कृति', पृ. १८-२१
२९. ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खण्ड, अ. ३६
३०. शिवपुराण, रुद्र संहिता, अ. १६
३१. भागवतपुराण सप्तम स्कन्द
३२. ब्रह्मवैवर्तपुराण, गणपतिखण्ड, अध्याय २४
३३. डॉ. वैकुण्ठनाथ शर्मा 'ब्रह्मवैवर्तपुराण : सांस्कृतिक विवेचन'
३४. (अ) शाम्यति क्रोधादिकषायान् इति शमनः
(ब) श्राम्यति श्रममानयति पंचेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः,
श्राम्यति संसारविषयखिन्नो भवति, तपस्यतीति च श्रमणः
(स) सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-तापरहितेन च वर्तते इति समनाः
(द) सम् इति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते
इति समणः, सर्वजीवैकतुल्य वर्तते इति समणः
जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो ॥ —तिलोक शताब्दी अभिनंदन ग्रन्थ
श्री घेवरचन्द्र जी बाँठिया 'जैन श्रमण की व्याख्या' से
३५. अहिंसासच्चं च अतेणगं च ततो य बंभ अपरिग्गहं च
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ ॥ —उत्तराध्ययन, २१.१२
३६. अहिंसा प्रथमो हेतुर्यमस्त यामिनां वरा
सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिगहौ ॥ —लिंगपुराण (१) पृ. ६८, श्लो. १०
३७. इरियाभासेसणादाणउच्चारसमिई इय
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥ —उत्तराध्ययन, २४.२
३८. (अ) "नोर्ध्वं न तिर्यग्दूरं वा न पश्यन्पर्यटेद् बुधः
युगमात्रं महीपृष्ठं नरोऽगच्छद् विलोकयन् ॥" (ईर्या)
—विष्णुपुराण (१), पृ. ४३९, ३.१२.३९

(ब) विष्णुपुराण (१), पृ. ४४०, ३.१३. ४३-४४ (भाषा)

(स) मार्कण्डेय पुराण ३८.५-१० (एषणा)

३९. गरुड़पुराण (२), १२२.४-९

४०. दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे —स्थानांग, १०

४१. आचेलक्कुद्देसिय सिज्जायररायपिंड -किइकम्मे
वय-जेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जोवसणकप्पे। —कल्पसूत्र (देवेन्द्र मुनिजी) पृ. १

४२. भागवतपुराण ११.१८.६

४३. मार्कण्डेयपुराण ३८.५-१०

४४. सतीशचन्द्र जोशी 'भविष्य पुराण' पृ. १४-१५

४५. लिंगपुराण (१) पृ. ६८, श्लो. १०

४६. सतीशचंद्र जोशी "भविष्य पुराण" पृ. १४-१५

४७. शिवपुराण (माहात्म्य) ३-५-६

४८. "एकरात्रं वसेद् ग्रामं, त्रिरात्रं नगरे तथा" —नारदपुराण (१), पृ. ४८५
एवं ओमप्रकाश नीखरा 'हरिवंशपुराण में धर्म' पृ. ८५

४९. दशवैकालिक सूत्र, अध्याय ३

५०. अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु॥
सुगन्धलेपालंकारांत्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥ —भागवत, ७.१२.१२

५१. ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ. खं. ९१-९२

५२. वही, प्रकृति खण्ड. अ. ३६

५३. धौतदन्तं, कृत्तनखं सदास्नानमलंकृतम्। —मत्स्यपुराण (१), पृ. १८१, श्लो. १५

५४. मार्कण्डेय पुराण—३८.५

५५. डॉ. वैकुण्ठनाथ शर्मा 'ब्रह्मवैवर्तपुराण : सांस्कृतिक विवेचन' पृ. १७९

५६. वही

५७. लिंगानि योगिनां भूयो दिवाभिक्षासनं तथा
वानप्रस्थाश्रमस्थानां समानमिदमिष्यते
रात्रौ न भोजनं कार्यं सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम्॥ —शिवपुराण, ७.२.११.१८-११

५८. डॉ. ओमप्रकाश नीखरा 'हरिवंश पुराण में धर्म', पृ. ८५

५९. भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो। —उत्तराध्ययन, ४.६

६०. ब्रह्मवैवर्तपुराण कृ. खं. ९१

६१. वही

६२. गरुड़पुराण, उत्तरार्ध ११५

६३. ब्रह्मवैवर्तपुराण कृ. खं. ९१

६४. आतिथ्यं श्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च
महाजनेषु सिद्धयर्थं न गच्छेद् योगवित् क्वचित्॥ —मार्कण्डेयपुराण, ३८.५

६५. हरिवंशपुराण में धर्म, पृ. ९०

६६. (अ) आचारांग सूत्र २.६.१
(ब) "सर्वसम्पत्करी चैका पौरूषघ्नी तथापरः
वृत्ति भिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता" —हरिभद्रीय अष्टक ५.१
साहारणो व्पुण विही सुक्काहारा विन्नेओ
अन्नत्थ ओयएसो सव्वा संपक्करी भिक्खा ॥ —योगशतक ८१

६७. अब्बिन्दुं यः कुशाग्रेण मासि मासि समश्नुते
न्यायतो यश्चरेद् भैक्ष्यं पूर्वोक्तात्सविशिष्यते ॥
दधिभक्ष्याः पयोभक्षा ये चान्ये जीवक्षीणकाः
सर्वे ते भैक्ष्य भैक्षस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ —लिंगपुराण (१) पृ. ४८

६८. उत्तराध्ययन ३०.८; दूसरा अध्याय

६९. (अ) व्यस्ते विधुमे व्यंगारे......
भैक्ष्यं चरेद् गृहस्थेषु......जघन्या वृत्तिरिष्यते ॥ —मार्कण्डेयपुराण ३८. ५-१०
(ब) शान्तिश्च श्राद्ध......जघन्या वृत्तिरुच्यते ॥ —लिंगपुराण (२) पृ. ४७-४८, श्लो. ११-१६

७०. "एमेए समणा वुत्ता, जे लोए संति साहुणो
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया" —दशवैकालिक, १.३

७१. दशवैकालिक ५.१. ३७-३८

७२. वही, ५.१. ३७, १७

७३. वही, ५.२.२५

७४. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु, संसारे प्रतिपद्यते ॥ —मनुस्मृति, ६.७४

७५. (अ) अक्कोसवहं विइत्तु धीरे......सभिक्खु ॥
पत्तं सयणासणं......सभिक्खु ॥ —उत्तराध्ययन १५.३-४ तथा ३५.१३
(ब) समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे। —प्रश्नव्याकरण २.५
(स) तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ
पावमण माणावमाणेसु ॥ —अनुयोगद्वार, १३२
(द) सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमप्पियंकस्स विनो करेज्जा ॥ —सूत्रकृतांग, १.१०.६

७६. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा
समो निन्दा पसंसासु, समो माणावमाणओ ॥ —उत्तराध्ययन, १९.९१
उवसमसारं खु सामण्णं —बृहत्कल्पभाष्य, १.३५

७७. कूर्म पुराण (१) पृ. ६५-६७

७८. सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। —नारदपुराण (१), पृ. ४८५, श्लो. ९४

७९. न मिथ्या संप्रवर्तन्ते शमस्यैव तु लक्षणम्
अनुद्विग्नो ह्यनिष्टेषु तथेष्टान्नाभिनन्दति ॥ —लिंगपुराण (१), पृ. १०३, श्लो. २६

८०. मृष्टं न मृष्टमप्येष......कार्य्य साम्यं हि मुक्तये ॥ —विष्णुपुराण (१), पृ. ३५४, २.१५. २६-३१
सर्वमात्ममयं यस्य सदसद् जगदीदृशम्
गुणागुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपप्रियः ॥ —मार्कण्डेयपुराण, ३८.२५

८१. Vinternitz "Ascetic Literature in Ancient India" Calcutta University Review, Oct. 1923, p. 3

८२. अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च, मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ —मनुस्मृति ६.३७

८३. अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्
शक्त्यां च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ —याज्ञवल्क्य स्मृति

८४. महाभारत, १२.२७७

८५. उत्पन्न ज्ञान विज्ञानी वैराग्य परमं गतः
प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्यात्तु यदीच्छेत्परमां गतिम् ॥
दारान् हृत्य विधिवदन्यथा विविधैर्मुखैः
यजेदुत्पादयेत्पुत्रान् विरक्तो यदि संन्यसेत् ॥
अनिष्ट्वा विधिवद्यज्ञैरनुत्पाद्य तथाऽऽत्मजान्
न गार्हस्थ्यं गृही त्यक्त्वा संन्यसेद् बुद्धिमान् द्विजः
अथ वैराग्यवेगेन स्थातुं नोत्सहते गृहे
तत्रैव संन्यसेद्विद्वाननिष्ट्वापि द्विजोत्तमः ॥ —कूर्मपुराण (१) पृ. ७१, ३.३-५

८६. विष्णुपुराण ११२.१८-२०; ११७.७५-७६

८७. मार्कण्डेयपुराण १०

८८. (अ) वैदिक संस्कृति में इस प्रकार की अवैदिक विचारधाराओं को श्रमण संस्कृति का प्रभाव माना गया है। (मुनि श्री नथमल "उपनिषद् पुराण और महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर" मुंनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ)

(ब) विंटरनिट्ज 'The Jain in the History of Indian Literature", p. 7.
(धम्मकहानुओगे—पृ. ७६)

८९. इमं वयं वेयविओ वयंति, जहा न होई असुयाण लोओ ॥
अहिज्ज वेए परिविस्स विज्जे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया ॥
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥
वेया अहिया न भवंति ताणं, मुत्ता दियानिन्ति तमंतमेणं
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं को नाम ते अनुमन्नेज्ज एवं ॥
जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वात्थि पलायणं
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥ —उत्तराध्ययन. १४.८-९, १२, २७

९०. उत्तराध्ययन, १०.१

९१. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । —गीता, १८.२

९२. हरिवंशपुराण ३.२४.५

९३. कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारइ ॥ —दशवैकालिक, २.१

९४. एते हि यतयः शुद्धा ज्ञानदीपितचेतसः
ज्ञानाग्नि दग्धः कर्माणः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥ —हरिवंशपुराण, ३.१०८.११

९५. तेषामग्रश्चतुर्थोऽयमाश्रमो भिक्षुकः स्मृतः
आस्ते तस्मिन् महाबुद्धि स हि पुण्यतरः स्मृतः ॥ —हरिवंशपुराण, ३.१०८.१४

९६. बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ —उत्तराध्ययन, ६.१४

९७. उत्तराध्ययन, ९.२०-२२

९८. युजृपी योगे, गण ७—हेमचन्द्र धातुपाठ युजिं च समाधौ। गण ४—वही

९९. योगश्चितवृत्तिनिरोधः—पातंजल योगसूत्र १.२

१००. मोक्खेण जोयणाओ जोगो —हरिभद्रसूरि—"योगविंशिका" १ (जैनयोगग्रंथ चतुष्टय)

१०१. अध्यात्मभावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ —हरिभद्रसूरि 'योबिन्दु', ३१

१०२. शिव पुराण ७.२.३७.८-११

१०३. वही ५.५१.८-९

१०४. यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम्
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च ॥ —शिवपुराण, ७.२.३७.१४-१५
समाधिरिति योगांगान्यष्टावुक्तानि सूरिभिः ॥ —कूर्मपुराण २.११.३०-५६

१०५. आसनं प्राणसंरोधः, प्रत्याहारोऽथ धारणा
ध्यानं समाधिर्योगस्य षडंगानि समासतः ॥ —शिवपुराण, ७.२.३७.१६

१०६. शिव पुराण ७.२.३७.२०

१०७. स्थिरसु भासनम् —योगदर्शन २.४६

१०८. औपपातिक —तपोधिकार

१०९. स्थानांग ३.३.२७ तथा औपपातिक-तपोधिकार

११०. योगदर्शन २.५४

१११. सं. नरेन्द्र भानावत "जिनवाणी" जनवरी-मार्च, १९७२ पृ. ८२
('जैन परंपरा में योग'—मुनि श्री नथमल)

११२. योगदर्शन २.४

११३. औपपातिक—तपोधिकार

११४. शिवपुराण, ७.२.३७.४८

११५. योगदर्शन ३.६

११६. एगग्गमणसन्निवेसयाए णं चित्तनिरोहं करेइ। —उत्तराध्ययन, २९.२५

११७. तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्—योगदर्शन ३.१

११८. ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम्
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत तत्त्ववित् ॥ —अग्निपुराण, २७४.७

११९. "ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुः कामेन योगिना" —तत्वानुशासन, ३.७

१२०. ध्यानयज्ञः परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः ॥
ध्यानयज्ञः परस्तस्मादपवर्गफलप्रदः
तस्मादशुद्धं सन्त्यज्य ह्यनित्यं बाह्यसाधनम् ॥
यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य योगमत्यर्थमभ्यसेत् ॥ —अग्निपुराण, २७४.१३-१५

१२१. शिव पुराण ७.२.३९.२८

१२२. शिव पुराण (२) पृ. ४४४, श्लो. ५०

१२३. वही, श्लो. ५३

१२४. इसिभासियाइं २२.१४

१२५. सागरमल जैन "जैन साधना में ध्यान" "श्रमण" जनवरी—मार्च, १९९४

१२६. लिंग पुराण (२) पृ. ७४१, श्लो. ९२-९३

१२७. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किवि जेण होई थिरो
अप्पा अप्पमिरओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥ —बृहद्द्रव्यसंग्रह ५६

१२८. वही ४८

१२९. "ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुश्चिन्तात्वे सुनिश्चिता
एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा"
सगुणवर्णभेदेन निर्गुणं केवलसम्मतम्
समंत्रं सगुणं विद्धि निर्गुणं मंत्रवर्जितम् ॥ —स्कन्दपुराण (२) पृ. १२६-१२७, ५३.८१-८२

१३०. ध्यानं निर्विषयं प्रोक्तमादौ सविषयं तथा। —लिंगपुराण (२) पृ. ४१. श्लो. ८६

१३१. स्थानांग ४.६५

१३२. स्थानांग ४.६९

१३३. सं. डॉ. नरेन्द्र भानावत "जैन संस्कृति और राजस्थान" पृ. ५७ (योग - मुनि सुशील कुमार)

१३४. जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ॥ —बृहद्द्रव्यसंग्रह, ५५

१३५. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः
षट्कारकमयी तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ —तत्त्वानुशासन, ७४

१३६. कुन्दकुन्दाचार्य "मोक्षप्राभृत" गा. २३-१००

१३७. तदेवार्थ-मात्रनिर्भासं स्वरूपं शून्यमिव समाधिः। —योगदर्शन, ३.३

१३८. निर्वाणानलवद् योगी समाधिस्थ प्रगीयते ॥
न शृणोति न चाघ्राति न जल्पति न पश्यति
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥
यथा दीपो निर्वातस्थः स्पंदते न कदाचन
तथा समाधिनिष्ठोऽपि तस्मान्न विचलेत् सुधीः ॥ —शिवपुराण वायु सं. ३.३८ अ.

१३९. वही

१४०. ध्येयमेव हि सर्वत्र ध्येयस्तन्मयतां गतः
पश्यति द्वैतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते ॥
मनः संकल्परहित-मिन्द्रियार्थान्न चिन्तयेत्
यस्य ब्रह्मणि संल्लीनं समाधिस्थत्वमुच्यते ॥ —गरुड़पुराण (२) पृ. १८२, श्लो. २९-३०

१४१. आचारांग १.८

१४२. नरेन्द्र भानावत 'जिनवाणी' (ध्यानयोग : रूप और दर्शन) पृ. ६८ 'समाधि और अध्ययन'

१४३. (अ) वही

१४३. (ब) शिवपुराण ७.२.३८ तथा लिंग पुराण (१) पृ. ८८-८९, श्लो. १-१२

१४४. हरिवंशपुराण ३.१८.५-११ तथा ३.१९.२५-३८

१४५. शान्तेष्वेतेषु विघ्नेषु योगासक्तस्य योगिनः
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दिव्यास्ते सिद्धिसूचकाः ॥ —शिवपुराण ७.२.३८.९

१४६. लिंगपुराण (१) पृ. ९१, श्लो. १४

१४७. शिवपुराण ७.३.३८.९ एवं
तस्माद् गुणांश्च योगांश्च देवासुरमहीभृताम्
तृणवद् यस्त्यजेत्तस्य योगसिद्धिः पराभवेत् ॥ —शिवपुराण ७.२.३८.४४

१४८. जिनवाणी (ध्यानयोगः रूप और दर्शन) पृ. ९३

१४९. तत्त्वार्थसूत्र, ९.९

१५०. दशवैकालिक, ९.४

१५१. भगवतीसूत्र, ८.२

१५२. हेमचन्द्राचार्य 'योगशास्त्र' १.८-९

१५३. 'कल्याण' भक्ति अंक (जनवरी, १९५८) —पृ. ५६३
(श्री माँगीलाल नाहर "जैन धर्म में भक्ति और प्रार्थना")

१५४. शिवपुराण, ७.२.३७.१२

१५५. "अत्यन्तोत्साहयुक्तस्य नश्यति न च संशयः।" —लिंगपुराण (१) पृ. ८९ श्लो. १३

१५६. हरिवंशपुराण, १.१९.११-१५

१५७. वही, १.१९.१०

१५८. वही, १.१९.१९

१५९. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनोनयन् ॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतंपासि नियतात्वान्
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणः मनः ॥ —विष्णुपुराण (२) पृ. ३९७-३९८ श्लो. ३६-३७

१६०. आचार्य हरिभद्रसूरि "योगबिन्दु" ७२, ९९ (जैनयोगग्रन्थचतुष्टय)

१६१. (अ) स्थानांग, ४.२.२८४

१६१. (ब) उत्तराध्ययन, ३२.४

१६२. जिनवाणी (ध्यानयोग : रूप और दर्शन), पृ. १०

१६३. अनुरागं यतिजनो परोक्षे गुणकीर्तनम्
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमम् ॥
शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य न विद्यते
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥ —मार्कण्डेयपुराण ३६.६३-६५

१६४. भवेद्योगोऽप्रमत्तस्य योगो हि परमं बलम्
न हि योगात्परं किंचिन्नराणां दृश्यते शुभम् ॥

तस्माद्योगं प्रशंसति धर्मयुक्ता मनीषिणः। —लिंगपुराण (२) पृ. ६५, श्लो. ४-५

१६५. योगधर्माद्धि धर्मज्ञ न धर्मोऽस्ति विशेषवान्।
वरिष्ठः सर्वधर्माणाम्___॥ —हरिवंशपुराण १.१९.१८

१६६. वही, ३.२२८.८३

१६७. वही, १.२५.३६

१६८. आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।
एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्त धर्मोपलक्षणः
यस्य योगः स वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते॥
योगयुक् प्रथमं योगो युञ्जानो ह्यभिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥ —विष्णुपुराण (२) पृ. ३९७, श्लो. ३१-३३

१६९. हेमचन्द्राचार्य —"योगशास्त्र" १.५-६

□□□

८

जगत् - विचार

विश्व की गूढ़ रहस्यमयता को देखते हुए लोक के सम्बन्ध में वेदों में कहा गया है—"को ददर्श प्रथमं जायमानम्" अर्थात् "प्रथम जन्मते हुए जगत् को किसने देखा है अर्थात् किसी ने नहीं देखा। यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, इसको निश्चय से न किसी ने जाना है तथा न किसी ने कहा है। इस क्षणभंगुर संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय (नित्य) कहते हैं।"[१] सृष्टि की निरन्तरता के बारे में पुराणों की भी सहमति है। इससे यह तो पूर्णरूप से स्पष्ट होता है कि यह जगत् नित्य है तथा जगत् नित्य होने से उसके निर्माण की तथा निर्माता की अवधारणा अनावश्यक है। जैन दर्शन का भी यही मन्तव्य है।

जगत् का बहुत विस्तृत वर्णन जैन तथा पुराणसाहित्य में किया गया है। जैन दर्शन में जगत् के परिवर्तनों, परिवर्तन के कारणों एवं क्रम आदि का पर्याप्त विवेचन हुआ है। पुराणों में भी प्रमुख पंचलक्षणों में जगत् के रूप (सृष्टि तथा प्रलय) भी आते हैं। वैष्णव पुराणों में सृष्टि-वर्णन सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि "वैष्णव पुराणों का सृष्टि वर्णन सांख्य दर्शन से विशेष प्रभावित है, लेकिन जहाँ सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है वहाँ वैष्णव, सांख्य निरीश्वर न होकर सेश्वर दर्शन है।"[२] सांख्य दर्शन एवं जैन दर्शन के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में बहुत सा साम्य है। यद्यपि पुराणों में तथा जैन दर्शन में वर्णित जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण में अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर है, फिर भी कई अन्य समानताएँ भी दृष्टिगत होती हैं, जो अग्रलिखित हैं।

जगत् की यथार्थता

जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में जैनमत एवं पुराणमत दोनों यथार्थवाद को स्वीकृत करते हैं। जिस प्रकार से जैन दर्शन में जगत् को आभास मात्र न मानकर यथार्थ स्वीकार किया है—अचेतन तत्त्व (भौतिक सृष्टि या अजीव द्रव्य) भी उतना ही सत्य है जितना कि चेतन तत्त्व सत्य है;[३] उसी प्रकार विष्णु पुराण में भी उसको यथार्थतः नित्य और अक्षर बताया है। पुरुष (चेतन) के समान ही प्रकृति (जड़) की

सत्ता भी मानी गई है।[४] सांख्य से प्रभावित होने से वे जगत् को असत् में स्वीकार नहीं करते। जगत् को सतरूप में स्वीकृत करने के कारण सृष्टि के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है।

जगत् - नित्य तथा परिणामी

जैनागमों में जगत् को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य माना गया है। जगत् को ध्रुव (शाश्वत) बताते हुए उसमें उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्यायों का परिवर्तन भी बताया है, परन्तु इसका अर्थ पूर्णतया नाश नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में "लोक" की परिभाषा इस प्रकार से दी गई है—

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—यह षट् द्रव्यात्मक लोक कहा गया है और जहाँ अजीव का केवल एकदेश (भाग) आकाश है, वह अलोक कहा जाता है। जैन दर्शन में विश्व को "सत्" होने से सार्वकालिक नित्य माना गया है, ईश्वरादि द्वारा सृष्ट नहीं माना है। काल की अपेक्षा से जगत् का नित्यत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—"काल की अपेक्षा यह लोक भूतकाल में कभी न था, यह बात नहीं है। वर्तमानकाल में नहीं है, ऐसा भी नहीं है। भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। लोक ध्रुव है, नियत—एक स्वरूप है, शाश्वत—प्रतिक्षण वर्तमान है, अक्षय—अविनाशी है, अव्यय—हानि रहित है, अवस्थित—पर्याय अनन्त होने से किसी न किसी पर्याय में विद्यमान है। नित्य काल की अपेक्षा से उसका अन्त नहीं आ सकता।"[५] किसी भी काल में इस जगत् का सर्वथा विनाश नहीं हुआ, न होता है और न होगा।

तत्तं ते ण वियाणन्ति ण विणासी कयाइ वि।[६]

लोक को नित्य एवं परिणामी मानते हुए पुराणों के अनुसार भी जगत् की सत्ता के रूप में स्थायी सत्ता माना है। परिवर्तित पर्यायों (रूपों) में यह सदैव विद्यमान रहता है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि जगत् नित्य है, भले ही चेतन का और उसका स्थायी सम्बन्ध नहीं है। आविर्भाव—तिरोभाव, जन्म—नाश आदि विकल्प वाला यह विश्व यथार्थ में तो नित्य और अक्षर ही है।[७] भागवत् पुराण में भी विश्व को अनादि और अनंत बताते हुए लिखा है कि इस समय में वह जैसा है वह पहले भी वैसा ही था और आगे भी इसी रूप में रहेगा।[८] नित्यता में प्रलय या नाश की सम्भावना कैसे हो सकती है—इसका रहस्य प्रवाहनित्यता बताया है "गंगा में डुबकी लगाने वाला व्यक्ति उसी जल में फिर डुबकी नहीं लगाता, जिसमें वह एक क्षण पूर्व डुबकी लगा चुका है। जल तो सतत् प्रवहणशील है, वह निरन्तर परिवर्तनशील है, एक क्षण के लिए भी उसमें विराम नहीं है। तब गंगा के उसी जल में डुबकी लगाने

का तात्पर्य क्या है? जल प्रतिक्षण बदलता रहता है, परन्तु प्रवाह, वह धारा जिसका वह अविभाज्य अंग है, कभी भी उच्छिन्न नहीं होती है, वह नित्य होती है। सृष्टि के विषय में भी यही प्रवाह-नित्यता का सिद्धान्त कार्यशील मानना चाहिए।"[९]

इस प्रकार सांख्य दर्शन के समान ही पुराण तथा जैन धर्म के अनुसार भी यही आशय है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो कुछ है वह हमेशा से सत् था। उत्पत्ति नई सृष्टि (आरम्भ) नहीं है, प्रलय पूर्ण नाश नहीं है। नाश का अर्थ केवल आकृति का बदलना है, क्योंकि पूर्णविनाश सम्भव नहीं है एवं गति रुकने के बाद दुबारा प्रकट होने की सम्भावना नहीं होने से नित्य गतिशीलता ही मान्य की गई है।

जगत् दुःखपूर्ण (अनित्य)

जैन दर्शन में जिस प्रकार से जगत् नित्य मानते हुए भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य, नश्वर मानकर जागतिक कार्यों को प्रपन्च अर्थात् दुःखपूर्ण बताया है, उसी प्रकार से पुराणों में भी जगत् की नित्यानित्यता प्रदर्शित है।

जैनागमों में भौतिक सुखों की अनित्यता बताते हुए कहा है—"समय बीता जा रहा है, रात्रियाँ दौड़ी जा रही हैं, मनुष्यों को जो भोग-सामग्री मिली है, वह भी नित्य नहीं है; जैसे वृक्ष के फल (पत्रादि) झड़ने पर पक्षीगण उसे छोड़कर चले जाते हैं। यह जीवन, यह रूप और यौवन बिजली की चमक की भाँति चंचल है, अनित्य है। यह संसार दुःखमय है; जन्म का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, रोगों का दुःख, मृत्यु का दुःख, चारों ओर दुःख ही दुःख है, जिसमें बेचारा यह प्राणी क्लेश पाता है। जरा से घिरे हुए तथा मृत्यु से पीड़ित इस संसार में आनंद व शांति कैसी?"[१०] अज्ञानी मनुष्य समझता है कि यह धन, ये पशु, ये स्वजन एवं ज्ञातिजन मेरी रक्षा कर सकते हैं। ये मेरे हैं, मैं उनका हूँ, किन्तु वास्तव में यह भ्रान्ति है, कोई किसी का त्राण या शरण नहीं है। अन्तिम समय आने पर मृत्यु मनुष्य को ऐसे ही दबोच कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। उस समय न माता-पिता बचा सकते और न भाई-बंधु।

इस संसार में जो यह शरीर मिला है, यह भी अनित्य है, अशुचिपूर्ण है, अशुचि पदार्थों से ही उत्पन्न होता है। इस शरीररूपी पिंजरे में आत्म-पक्षी का वास अस्थिर है, यह दुःख एवं संक्लेशों का घर है। जिस संसार को व्यक्ति ने अपना समझ रखा है, वस्तुतः वह उसका नहीं है। सांसारिक काम-भोग अन्य है और आत्मा अन्य है, फिर हम अन्य में आसक्त क्यों हैं? मनुष्य अकेला ही अपना दुःख भोगता है, ज्ञातिजन, मित्र आदि कोई नहीं बँटा सकते, क्योंकि कर्म तो कर्त्ता का पीछा करता है।[११] इस प्रकार जैन दर्शन में जगत् को अनित्य, अशरण, अस्थिर, दुःखों का स्थान, आत्मा से भिन्न (अन्यत्व) एवं अशुचिपूर्ण माना है।

लगभग इसी प्रकार का दृष्टिकोण पुराणों का भी जगत् के प्रति है। पुराणों के अनुसार वस्तुतः जगत् में दुःख ही है, मात्र अज्ञानावस्था के कारण उन दुःखों में सुखाभास होता है। पद्मपुराणकार ने संसार की सागर से तुलना करते हुए उसकी भयंकरता वर्णित की है—इस सागर (घोर कलिकाल का महासागर) में विविध प्रकार के विषयों में जो डुबकियाँ लगती रहती हैं, ये ही इस समुद्र के आवर्त (भँवरे) हैं और दुर्गन्ध ही इसमें फैला करती है, जिससे प्राणी का मन घिरा रहता है। अत्यन्त दुष्ट प्रकृतिवाले मनुष्य ही इस संसार-सागर में व्याप्त हैं, जिनसे यह महान् भीम और अत्यन्त भयानक है।[१२]

विष्णुपुराण में राजा मुचुकुन्द श्रीकृष्ण से सांसारिक दुःखों का वर्णन करते हुए कहता है[१३]—"हे भगवान्! तीनों तापों से अभिभूत हुआ मैं सदा ही इस संसार- चक्र में घूमता रहा हूँ, मुझे कभी भी शान्ति नहीं मिली। जल की आशा वाली मृग-तृष्णा के समान ही मैंने दुःखों को सुख माना था, परन्तु उन सबसे मुझे सन्ताप ही हुआ है। राज्य, पृथिवी, सेना, कोष, मित्र, पुत्र, स्त्री, भृत्य और शब्दादि विषयों को अविनाशी और सुख मानकर ग्रहण किया था, परन्तु अन्त में वे सभी वस्तुएँ दुःखरूप सिद्ध हुईं।" जगत् के दुःखों के भेदों का वर्णन करते हुए पराशरजी का कथन है—आध्यात्मिक ताप के शारीरिक और मानसिक दो भेद हैं, उनमें शारीरिक के भी अनेक भेद हैं, उन्हें सुनो। शिरोरोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, शोथ, श्वास, नेत्ररोग, अतिसार आदि के भेद से शारीरिक दुःख अनेक प्रकार का है। काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि के भेद से मानसिक ताप भी बहुत प्रकार का है। मृग, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, राक्षस, सरीसृप आदि से प्राप्त होने वाले दुःख को आधिभौतिक कहते हैं। शीत, वात, उष्ण, जल, विद्युत् आदि से मिलने वाला दुःख आधिदैविक है। इन दुःखों के अतिरिक्त गर्भ, जन्म, जरा, अज्ञान, मृत्यु तथा नरक से उत्पन्न दुःख भी सहस्रों प्रकार के हैं। व्यक्ति जब तक जीवित रहता है, तब तक अनेक कष्टों से उसी प्रकार से घिरा रहता है, जैसे तन्तुओं में कपास का बीज। मनुष्यों की प्रिय वस्तुएँ उनके लिए दुःखरूपी वृक्ष का बीज बन जाती हैं। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, घर, खेत, धान्यादि से जितने दुःख की प्राप्ति होती है, उतना सुख नहीं मिलता। इस प्रकार संसार के दुःखरूपी सूर्य के ताप से संतप्त हुए पुरुषों को मोक्षरूपी वृक्ष की छाया के अतिरिक्त अन्य किस स्थान पर सुख की प्राप्ति होगी? क्योंकि केवल नरक में ही दुःख नहीं है, स्वर्ग में भी वहाँ से नीचे गिरने की आशंका से जीव को सदा अशान्ति ही रहती है। कभी गर्भ में ही मर जाना अथवा कभी उत्पन्न होते ही मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है। जिसने जन्म लिया है, वह बालकपन में, युवा होने पर, मध्यम आयु अथवा वृद्धावस्था को प्राप्त होकर अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

सुख को संचित करने के भ्रम में व्यक्ति दुःख ही बढ़ाता है। यह स्पष्ट करते हुए मार्कण्डेय पुराण में कथन है—"पहले जब मैं अकेला था तो केवल मेरे ही शरीर से दुःख की उत्पत्ति होती थी, फिर भार्या के आने पर उसके ममत्व में वह दुःख दो भागों में बढ़ गया है, फिर जितनी संतानों की उत्पत्ति होती गई उतने ही भागों में दुःख बढ़ता गया।" जगत् के अन्य तत्त्वों के समान शरीर को भी अशुचियुक्त बताते हुए अनासक्त रहने की प्रेरणा दी गई है।[१४]

इस प्रकार जगत् के प्रति पुराणों का भी यही कथन है कि जगत् अध्रुव तथा अशाश्वत है। जिस प्रकार से आकाश में रहने वाले बादल अथवा समुद्र में बहने वाले तृण हवा के संयोग से मिलते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही जगत् में पदार्थों का मिलना तथा छूटना अथवा बनना-बिगड़ना चलता रहता है। संसार का स्वभाव ही दुःखरूप है, उसे कौन विपरीत कर सकता है? व्यक्ति चाहे जितना प्रयत्न उसको बदलने के लिए करे, परन्तु क्षण-क्षण में बदलने वाले जगत् को वह नहीं बदल सकता, उल्टा वह स्वयं ही काल के वशीभूत होकर इच्छा न होते हुए भी परिवर्तित होता रहता है।

जगत् एवं जीव

यद्यपि जगत् एवं आत्मा दोनों को जैन तथा पुराण साहित्य में नित्य माना है, फिर भी दोनों (जगत् एवं आत्मा) का संयोग अस्थायी ही माना है। जैन दर्शन के अनुसार—आत्मा को जगत् में जन्म-मरणादि कराने में कर्महेतु है। कर्मों के अनुसार ही आत्माएँ विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करती हैं। प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावरगत हो या कीट-पतंग, पशु-पक्षीरूप हो अथवा मानव रूप, देवरूप या नारकीरूप हो; तात्विक दृष्टि से समान है, उनमें परस्पर वैषम्य का कारण कर्म है। मकड़ी जैसे अपनी प्रवृत्ति के कारण स्व-निर्मित जाल में फँसती जाती है, वैसे ही अज्ञानवश जीव भी जगत् में मूढ़ रहता है; परन्तु जब उसका विवेक जागृत हो जाता है, तब वह यथार्थ का भान होने पर बंधन हटाने का कार्य करता है। तत्पश्चात् कर्मबन्धन नष्ट हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है। सारांशतः जीव का संसार में संसरण तभी तक होता है, जब तक वह मिश्रित अवस्था में रहता है अर्थात् कर्मरूपी जड़ पुद्गलों से युक्त रहता है; किन्तु जब वह अपने ऊपर आच्छादित आवरणों से मुक्त हो जाता है, तब कर्मभार से हल्का हो जाने पर ऊर्ध्वगमन करता है।[१५]

यही मन्तव्य पुराणों का भी है कि विवेक हो जाने पर आत्मा कर्मों द्वारा बद्ध नहीं होता तथा ध्यान, तपादि द्वारा संचित कर्मों को समाप्त करने के बाद वह संसार में भ्रमण नहीं करता। संसार में उसका भ्रमण कर्मों के कारण ही होता है। आत्मा चैतन्यगुणयुक्त होने पर भी जगत् में मूढ़ कैसे होता है एवं सुरक्षित (मुक्त) कैसे हो सकता है? इसे मार्कण्डेय पुराण में एक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार से स्पष्ट किया है—

अस्थिरूपी खम्बों पर स्थित प्रज्ञारूपी प्रकोष्ठ वाला, सभी वस्तुओं को रोकने में समर्थ, चर्मरूपी दीवार से युक्त, माँस और रक्त के लेप वाला, चारों ओर से शिराओं से जकड़ा हुआ, नौ द्वारों वाला यह शरीर महा आयास (कष्ट) वाला है और वहाँ पर राजारूपी चेतनावान् पुरुष (आत्मा) अवस्थित रहता है।

बुद्धि और मन ये दोनों उस राजा के विरोधी मन्त्री हैं और वे दोनों एक-दूसरे के वैर को दूर करने के लिए यत्न करते रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोह ये चार उस राजा के अन्य शत्रु हैं और ये चारों शत्रु उसका विनाश चाहते हैं। जब वह राजा अपने (नवों) द्वारों को बन्द किये रहता है तो उसकी शक्ति सुरक्षित रहती है और वह आतंकरहित बन जाता है। (उस स्थिति में) वह अनुराग उत्पन्न होने पर भी शत्रुओं से अभिभूत नहीं होता, किन्तु जब वह सभी द्वारों को खुला छोड़ देता है तो राग नामक शत्रु नेत्रादि द्वारों से आक्रमण कर देता है। महान् शक्तिशाली, सर्वव्यापी, पंचद्वारों से प्रवेश करने वाले, उस राग नामक शत्रु के पीछे-पीछे अन्य तीन भयंकर शत्रु भी प्रविष्ट हो जाते हैं। तत्पश्चात् उन द्वारों से प्रवेश करके वह राग मन आदि अन्य विभिन्न नामों वाली इन्द्रियों से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। उसके बाद मन और इन्द्रियों को वश में करके वह दुर्जेय हो जाता है एवं समस्त द्वारों पर अधिकार करके चार-दीवारी को नष्ट कर देता है। मन को उसके आश्रित देखकर बुद्धि तत्क्षण नष्ट हो जाती है—मंत्रियों के अभाव में अन्य पुरवासी भी उसको छोड़ देते हैं। इस प्रकार लोभ, क्रोध, मोह और राग इन (प्रबल) शत्रुओं से छिद्र (भेद) पा लेने पर वह राजा नष्ट हो जाता है। मनुष्य की स्मृति का नाश करने वाले ये दुष्टात्मा शत्रु जब प्रवृत्त हो जाते हैं तो राग से क्रोध, क्रोध से लोभ, लोभ से मोह, मोह से स्मृति का नाश, स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य ही नष्ट हो जाता है।[१६]

ब्रह्माण्ड पुराण में भी जैन दर्शन के समान जगत् के साथ जीव के सम्बन्ध का मुख्य कारण राग ही बताया गया है। उक्त पुराण के अनुसार—"जीवों का प्रबल शत्रु एवं महान् अनिष्टकारक राग है। विषयों में आसक्ति का नाम राग है जिससे मन अपने वश में नहीं रह पाता। विषयों में राग का अर्थ—अनिष्ट को इष्ट, अप्रिय को प्रिय, दुःख को सुख मानते हुए निरन्तर कष्टभोग में ही प्रसन्नता की अनुभूति करना है। यह विषयानुराग ही जीव को पतन के गर्त में ले जाता है। इस राग के सद्भाव में विवेक का अभाव हो जाता है, जिससे जीव वस्तु की मूलस्थिति नहीं जान पाता और तत्वदर्शन न कर पाने के कारण विविध बन्धनों में बँधता रहता है। मूल तत्त्व को न समझ पाने का अर्थ है—अनित्य संसार को नित्य समझना, दुःख में सुखदृष्टि रखना, अभाव में भावबुद्धि रखना तथा अपवित्र वस्तु को पवित्र मानना। यह विपरीत बुद्धि ही ज्ञान-दोष का कारण है। राग-द्वेष से निवृत्ति अर्थात् अज्ञान से

मुक्ति का अर्थ ज्ञानप्राप्ति है, ज्ञान से जीव में त्यागबुद्धि का उदय होता है, त्याग से वैराग्य पनपता है, वैराग्य से शुद्धि आती है और शुद्धता से परिपक्व होने से जीव का उद्धार (जन्म-मरण से निवृत्ति) हो जाता है।"[१७] उपर्युक्त अवधारणा जैन दर्शन के बंधन एवं मोक्ष की अवधारणा से समानता रखती है, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार भी राग संसार का मूल कारण है। मिथ्यात्व के समाप्त होने पर ही सम्यग्दर्शन का उदय होता है, जिससे वैराग्योदय होने से विषयोपभोग तथा उसकी आसक्ति का त्याग होता है एवं सम्यग्ज्ञान की भी प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्ति के बाद व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

जगत् के मूल तत्त्व

दृश्यमान् जगत् में दो प्रकार के पदार्थ दिखलाई देते हैं, दोनों के गुणधर्म भिन्न-भिन्न हैं, वे सचेतन तथा अचेतन हैं, जैन दर्शन में इन्हें जीव और अजीव कहा जाता है। इन्हीं को जगत् के मूल तत्त्व माना है। जगत् में आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ अजीव के अन्तर्गत आ जाता है। आत्मा चैतन्यगुण युक्त है तथा अजीव अचेतन है। पुराणों में भी इन दोनों प्रकारों का उल्लेख है। उनमें पुरुष को सचेतन तथा प्रकृति को अचेतन बताया गया है। जिस प्रकार से जैन दर्शन में जीव तथा अजीव इन दोनों को मूल तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है; वैसे ही पुराणों में भी प्रकृति तथा पुरुष को जगत् के मूल घटक माना है।[१८] जिनमें से प्रकृति एवं प्रकृति के सभी विकार को जड़ अर्थात् अचेतन तथा पुरुष (आत्मा) को चैतन्यगुण युक्त कहा है। पुरुष के अतिरिक्त सब जड़ है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत् गतिशील है, प्रकृति जड़ है, अतः केवल उससे सृष्टि-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। उसकी क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होने पर ही होती है। जिस प्रकार अंधा और लंगड़ा एक-दूसरे की सहायता से ही भयंकर अरण्य पार कर सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष ये दोनों मिलकर सृष्टि के कार्य कर सकते हैं। "मनस् इत्यादि स्वतः चेतन नहीं हैं बल्कि पुरुष के प्रभाव से ऐसे हैं।"[१९] इस प्रकार पुरुष के सान्निध्य मात्र से परिवर्तन होता है तथा पुरुष से प्रकृति के प्रभावित होने की सम्भावना को लोहे को आकर्षित करने वाले चुम्बक के दृष्टान्त से समझाया गया है। इस प्रकार से पुरुष तथा प्रकृति ये दोनों ही मौलिक सत्ताएँ हैं, न पुरुष प्रकृति से उत्पन्न है और न प्रकृति पुरुष से उत्पन्न है। पुरुष की सक्रियता प्रकृति के कारण है तथा प्रकृति भी पुरुष के सान्निध्य से नित्य गतिशील है। इस प्रकार अचेतन एवं चेतन दो सत्ताओं को जगत् के मूल में मानने के कारण जैनदर्शन के समान पुराण भी द्वैतवादी कहे जा सकते हैं।

सांख्य के अनुसार—पुरुष अनन्त है और प्रकृति ही समस्त संसार की हेतुभूत है। शिवपुराण-कार के अनुसार भी "पुरुष प्रधान महान् की समावृत करके स्थित है

और अनन्त उस पुरुष की भी संख्या नहीं है, क्योंकि उस पुरुष का कोई प्रमाण नहीं है। यहीं कारण है कि उसे अनन्त भी कहते हैं।"[२०] इसी प्रकार त्रयोविंशति तत्त्वों से परे प्रकृति एवं पंचभूतों या तेईस तत्त्वों का भी पुराणों में उल्लेख है।[२१] अतः अनेक तत्त्वों का उल्लेख होने से पुराणों को बहुतत्त्ववादी भी माना जा सकता है।

जैन दर्शन में भी जगत् को नाना तत्त्वों से युक्त माना है, क्योंकि आत्म-तत्त्व तथा पुद्गलादि अजीवतत्त्व भी अनेक हैं। इन्हीं के आधार पर जगत् है, जीव तथा अजीव दोनों ही तत्त्व मौलिक हैं अर्थात् विश्व के मूल में कोई एक तत्त्व नहीं, वह तो नाना तत्त्वों का सम्मेलन है। इस प्रकार जगत् के एकतत्त्ववादी दृष्टिकोण को जैन दर्शन में अस्वीकृत किया गया है।

यद्यपि अन्तिमतः एक ईश्वर को कारण मानने से पुराणों को एकतत्त्ववादी भी कहा जा सकता है, जिसको जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है। किन्तु ईश्वर-कारणता का उल्लेख होते हुए भी पुराणों में निष्कर्षतः तो यही माना गया है कि पुरुष तथा प्रकृति ये दोनों नित्य हैं। इनका निर्माण ईश्वर नहीं करता तथा सृष्टि की उत्पत्ति इन दोनों तत्त्वों के संयोग से ही होती है। आत्मा ही नहीं प्रकृति, जो कि सृष्टि का प्रधान कारण है, नित्य, अक्षय, अजर और अपरिमेय है—[२२]

प्रधानं कारणं यत्तदव्यक्ताख्यं महर्षयः।
यदाहुः प्रकृतिं सूक्ष्मां नित्यां सदसदात्मिकाम्॥

दैव या ईश्वर के विश्वनिर्माता या नियन्ता होने की अवधारणा के स्थान पर जैन सिद्धान्त के अनुसार जगत् अनादिकालीन है। उसका नियन्त्रण या सर्जन प्राणियों के कर्म से होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पुराणों का भी यही मन्तव्य है कि "भौतिक जगत् की सर्ग स्थिति कर्माधीन है और वही इसका नियामक है, यह कर्म ही जगत् का अव्यक्त कारण है। जिस प्रकार से सूक्ष्म बीज के अभ्यन्तर विशाल वृक्ष की उत्पत्ति सन्निहित होती है, उसी प्रकार कर्म में जगत् की रचना समाहित रहती है।"[२३]

जगत् का भौगोलिक वर्णन

सम्पूर्ण लोक का वर्णन करते हुए जैनागमों के अनुसार—यह समस्त संसार तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वलोक, तिर्यक् लोक तथा अधोलोक। समस्त लोक चौदह रज्जु प्रमाण है।

ऊर्ध्वलोक—मध्यलोक के ऊपर कुछ कम सात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला ऊर्ध्वलोक है, इसमें देवताओं के निवास-स्थान हैं।

तिर्यक् लोक—ऊर्ध्वलोक के नीचे तथा अधोलोक के ऊपर १८ सौ योजन प्रमाण तिर्यक् लोक है। तिर्यक् लोक में मनुष्य और तिर्यंचों की अवस्थिति है।

अधोलोक—तिर्यक् लोक के नीचे कुछ अधिक सात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला अधोलोक है, इसमें नारकी जीवों का निवास है।[२४] सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो तिर्यञ्च गति के जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। मनुष्य तिर्यक्लोक (मध्यलोक) तक सीमित है तथा देवताओं का अस्तित्व तीनों लोकों में है।

पुराणों में भी लोक-वर्णन के अन्तर्गत लोक के यही तीन विभाग किये हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। भुवनों (लोकों) की संख्या १४ है। इनमें से सात ऊपर तथा सात पृथ्वी के नीचे हैं। १४ लोकों के नाम इस प्रकार हैं—

ऊपर के सप्तलोक—भूर्लोक, भवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, वपोलोक, सत्यलोक। महातल, भूमितल, सुतल, निस्तल, तल, रसातल, पाताल—ये ७ नीचे के लोक हैं। (इनके अन्य नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल)। श्रीमद् भागवत में सम्पूर्ण लोक को एक विराट पुरुष के रूप में इस प्रकार से चित्रित किया गया है—[२५]

सत्यलोक तथा ब्रह्मलोक	**मस्तिष्क**
अन्य ऊर्ध्वलोक (भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः)	मध्यभाग से ऊपर के भाग
भूमितल	जघन स्थल
अतल, वितल	दोनों उरू
सुतल	जानु प्रदेश
तलातल	दोनों जंघाएँ
महातल	पैर की हड्डी
रसातल	पैर का पिछला भाग
पाताल	पादमूल

विराट पुरुष की तुलना हम जैन धर्म में वर्णित लोकपुरुष से कर सकते हैं, जो कि चौदह रज्जु प्रमाण हैं।

चौदह राजु उत्तंग-नभ लोकपुरुष संठाण।
तामे जीव अनादि ते भरमत है बिन ज्ञान॥

तिर्यक् लोक का वर्णन

भौगोलिक वर्णन के अन्तर्गत पुराण तथा जैन धर्म में वर्णित द्वीप-समुद्र-पर्वतादि वर्णन में भी कई समानताएँ हैं, जिन्हें उल्लिखित किया जा रहा है। लोक का मध्य भाग होने से यह मध्यलोक भी कहलाता है। मध्यलोक को मनुष्यक्षेत्र भी कहते हैं, क्योंकि इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में मनुष्य नहीं होते। यद्यपि तिर्यक् लोक में सिर्फ मनुष्य ही नहीं रहते हैं, देव तथा तिर्यंचों का भी यहाँ वासस्थान है, फिर भी मनुष्यप्रधान होने से यह मनुष्यलोक कहा जाता है।

जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे क्रमशः द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप—इस तरह अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप थाली जैसा है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों की आकृति वलय (चूड़ी) के समान है। जम्बूद्वीप लवण समुद्र से वेष्टित है, लवण समुद्र घातकीखण्ड द्वीप से वेष्टित है, घातकीखण्ड कालोदधि समुद्र से, कालोदधि पुष्करवर द्वीप से और पुष्करवर द्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम आगे के द्वीप-समुद्रों का भी है। आगे से आगे द्वीप-समुद्रों का विस्तार दुगुना होता जाता है। पुष्करार्ध द्वीप तक मनुष्यलोक है। जम्बूद्वीप सबसे पहला द्वीप है और समस्त द्वीप-समुद्रों के बीच में स्थित है। इसका विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है, इसके बीच एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है।[२६]

लगभग इसी प्रकार से पुराणों में भी जम्बूद्वीप को एक लाख योजन वाला तथा लवण समुद्र से चारों ओर घिरा हुआ कहा है तथा मेरू पर्वत की जम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थिति, द्वीप के पश्चात् समुद्र एवं समुद्र के पश्चात् द्वीप—यही द्वीप-समुद्रों का क्रम एवं प्रत्येक का विस्तार पूर्ववर्ती क्षेत्र से दुगुना बताया है। पुराणानुसार भी पुष्कर द्वीप तक ही मनुष्यलोक है। किन्तु वहाँ यह सप्तम द्वीप है, जबकि जैन मान्यतानुसार यह तृतीय द्वीप है। इसके अतिरिक्त द्वीप-समुद्र के नामों में भी कुछ अन्तर है जिनका तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—[२७]

द्वीप

जैन मान्यता

द्वीप-समुद्र	असंख्यात
जम्बूद्वीप	पन्द्रहवाँ द्वीप
कुशक	पन्द्रहवाँ द्वीप
क्रौंच	सोलहवाँ द्वीप
पुष्कर	तीसरा द्वीप

पौराणिक मान्यता

द्वीप-समुद्र	सात
जम्बूद्वीप	प्रथम द्वीप
कुश	चौथा द्वीप
क्रौंच	पाँचवाँ द्वीप
पुष्कर	सातवाँ द्वीप

समुद्र

जैन मान्यता

लवणोद	प्रथम समुद्र

वारुणीरस	चौथा समुद्र
क्षीरसागर	पाँचवाँ समुद्र
घृतवर समुद्र	छठा समुद्र
इक्षुरस समुद्र	सातवाँ समुद्र

पौराणिक मान्यता

लवणोद	प्रथम समुद्र
मदिरारस	तीसरा समुद्र
दूधरस	छठा समुद्र
मधुररस	सातवाँ समुद्र
इक्षुरस	दूसरा समुद्र

क्षेत्र

जैन मान्यता	पौराणिक मान्यता
१. भारतवर्ष	१. भारतवर्ष
२. हैमवत	२. किम्पुरुष
३. हरिवर्ष	३. हरिवर्ष
४. विदेह	४. इलावृत
५. रम्यक्	५. रम्यक्
६. हैमवत	६. हिरण्मय
७. ऐरावत	७. उत्तरकुरू

विशेष—जैन मान्यतानुसार विदेह क्षेत्र के ही एक भाग का नाम उत्तरकुरू है। इलावृत ऐरावत का ही रूपान्तर है।

पर्वत

जैन मान्यता	पौराणिक मान्यता
१. हिमवान्	१. हिमवान्
२. महाहिमवान्	२. हेमकूट
३. निषध	३. निषध
४. नील	४. नील
५. *रुक्मी*	५. श्वेत
६. शिखरी	६. शृंगी

विशेष—शिखरी और शृंगी—ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। पंचम रुक्मीपर्वत का वर्णन जैन मान्यतानुसार श्वेत माना गया है।

नदियाँ

पुराण तथा जैन ग्रन्थों के अनुसार क्षेत्रों को विभाजित करने वाले वर्षधर (पर्वत) हैं, उनमें से नदियाँ निकलती हैं। जैन मान्यता के अनुसार जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों में चौदह प्रधान नदियाँ हैं, जिनके नाम हैं—गंगा-सिन्धु, रोहिता-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, स्वर्णकूला। रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा।

पुराणों में भी कई नदियों के नाम हैं—शतद्रु चन्द्रभागा, नर्मदा, सुरसा, तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, गोदावरी इत्यादि।

वर्षधर पर्वतों पर सरोवर

वर्षधर पर्वतों के ऊपर सरोवरों तथा उनमें कमलों (जो वनस्पतिकाय का नहीं होकर पार्थिव है अर्थात् कमल के आकार की पृथ्वी है) का भी जैन एवं पौराणिक मान्यता में समान[२८] उल्लेख है।

भोगभूमि एवं कर्मभूमि

भोगभूमि एवं कर्मभूमि का आशय यहाँ योनि (गति) विशेष से न होकर काल तथा क्षेत्र से सम्बन्धित है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ सर्वदा भोगभूमि रहती हैं। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ सर्वदा कर्मभूमि है एवं कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ दोनों प्रकार की परिस्थितियाँ क्रमशः आती रहती हैं। कर्मभूमि तथा भोगभूमि का वर्णन करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि कर्मभूमि कर्म प्रधान होती है। वहाँ असि-मसि-कृषि का व्यवहार होता है। वहीं से प्राणी चारों गतियों में जा सकता है तथा मुक्त भी हो सकता है जबकि भोगभूमि में ऐसा नहीं होता।[२९]

ऐसा ही आशय स्पष्ट करते हुए विष्णु पुराण का कथन है। समुद्र के उत्तर और हिमाद्रि के दक्षिण में भारतवर्ष अवस्थित है। इसका विस्तार नौ हजार विस्तृत है। यह स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले पुरुषों की कर्मभूमि है, क्योंकि इसी स्थान से मनुष्य स्वर्ग और मुक्ति प्राप्त करते हैं और यहीं से तिर्यंच और नरक गति में भी जाते हैं, अतः कर्मभूमि है। अग्नि पुराण का भी यही आशय है—

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्[३०]

भारतवर्ष

जैन परम्परा में यह मान्यता है ऋषभदेव, जो इस युग के प्रथम तीर्थंकर थे, उनके पुत्र भरत के नामानुसार इस क्षेत्र का नाम "भारत" हुआ, क्योंकि वही प्रथम चक्रवर्ती थे, जिन्होंने इस क्षेत्र का सर्वप्रथम राज्यसुख भोगा।[३१]

इस मत का समर्थन अनेक पुराणों में दृष्टिगत होता है। पुराणों के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि, नाभि के पुत्र ऋषभ थे, उनके

एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राज्य सिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश "अजनाभ" से परिवर्तित होकर "भारतवर्ष" कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं।[३२]

कालचक्र

जगत का परिवर्तन काल के अनुसार होता है। जैनागमों में काल के मुख्यतः दो विभाग बताये हैं—अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी। जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु क्रमशः घटती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में इनमें क्रमशः वृद्धि होती जाती है, वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणी काल के समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल आता है और उत्सर्पिणी काल के समाप्त होने पर अवसर्पिणी काल आता है। अनादिकाल से यह क्रम चला आ रहा है और अनन्तकाल तक यह चलता रहेगा। इसी प्रकार से ह्रास एवं विकास की दृष्टि से पुराणों में भी अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी का वर्णन आया है।[३३]

जैन ग्रन्थों में अवसर्पिणी काल के अकर्मभूमि-कर्मभूमि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय सुख का साम्राज्य होता है। तत्कालीन लोग सामाजिक, आर्थिक, राजकीय बंधनों से मुक्त तथा स्वयं अपने आपके राजा होते हैं। उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती है। वे दिव्यरूप सम्पन्न, सौम्य, मृदुभाषी, अल्पपरिग्रही, शान्त, सरल होते हैं तथा क्रोध-मान-मद-मोह-मात्सर्य आदि अगुणों की अल्पता वाले होते हैं। मनुष्य-मनुष्यणी युगलरूप में ही जन्म लेते हैं। यह जोड़ा साथ ही रहता है। इनकी इच्छाएँ कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण होती हैं। आयु के अन्त में युगलिनी, पुत्र-पुत्री युगल को जन्म देती है। मृत्यु के समय एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है। इस प्रकार की व्यवस्था होने से किसी भी प्रकार के व्यापारादि द्वारा आजीविका वहाँ नहीं होती है तथा जातिगत अन्तर भी नहीं होता है। किन्तु बाद में काल-स्वभाव के प्रभाव से कल्पवृक्षों द्वारा वस्तुओं की पूर्ति में कमी आने से मनुष्यों में परस्पर विवाद होता है, जिसको कुलकर मिटाते हैं। ये कुलकर अपने-अपने समय के प्रतापशील, विद्वान्, समाज के मर्यादा-पुरुष, समाज-व्यवस्थापक होते हैं। जब कल्पवृक्षों की फलदायी शक्तियों में क्षीणता आने से मनुष्य क्षुधा से पीड़ित एवं व्याकुल होने लगे, तब प्रथम तीर्थंकर मनुष्यों की इस दशा को देखकर दया भावना से, उनके प्राणों की रक्षा के लिए स्वभावतः उगे हुए चौबीस प्रकार के धान्यादि बतलाते हैं। कच्चा धान्य खाने से पेट दुखता है—यह जानकर अरणि-काष्ठ से अग्नि उत्पन्न की। कुम्भकार की स्थापना करके पकाने के लिए उसे बर्तन बनाना सिखलाते हैं। फिर चार कुल—१. कोतवाल न्यायाधीश आदि का उपकुल, २. गुरु, स्थानीय उच्चपुरुषों का भोगकुल, ३. मंत्रियों का राजकुल और ४. प्रजा का क्षत्रियकुल, १८ श्रेणियाँ (जातियाँ) और १८

प्रश्रेणियाँ स्थापित करते हैं। पुरुषों की बहत्तर कलाएँ, स्त्रियों की चौंसठ कलाएँ, अठारह लिपियाँ, चौदह विद्याएँ वगैरह सिखलाते हैं। इस प्रकार कर्मभूमि का प्रारम्भ हो जाता है।[३४]

इस वर्णन के लगभग समान वर्णन मार्कण्डेय पुराण में भी दृष्टिगत होता है। वहाँ भी युगलों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे मिथुन आयु के अन्त में केवल एक बार ही सन्तानोत्पत्ति करते थे। अन्त अवस्था में ही एक कुलिक और कुलका (पुत्र-पुत्री युगल) उत्पन्न होते थे। उस समय वे सब सरिता (नदी), सरोवर, समुद्र और पर्वतों का ही उपयोग करते थे। विचरण करते हुए उन सब प्राणियों को उस युग में न अधिक शीत लगती थी और न अधिक उष्णता से वे पीड़ित थे। संस्कारहीन (संस्कार हीनता का तात्पर्य यहाँ वर्तमान में प्रचलित नामकरणादि सोलह संस्कारों की रहितता हो सकता है) शरीरों से युक्त होते हुए भी वह प्रजा स्थिरयौवन वाली थी। उनके (युगलों के) बिना संकल्प के उत्पन्न हुई मिथुनवती प्रजा जिस प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होती थी, उसी प्रकार रूप आदि में ममत्व प्राप्ति करके एक साथ ही मरती थी। वे परस्पर इच्छा एवं द्वेषरहित होकर व्यवहार करते थे। उनमें ऊँच-नीच की भावना भी न थी। कल्पवृक्षों से समस्त उपभोगों की प्राप्ति होती थी। त्रेता युग के प्रारम्भ में उन्हीं कल्पवृक्षों के द्वारा मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करते थे। कुछ समय पश्चात् उनमें अकस्मात् राग का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् गृहों में स्थित कल्पवृक्षों में भी राग की उत्पत्ति हुई, इससे कल्पवृक्ष नष्ट हो गए और अन्य प्रकार के चार शाखाओं वाले वृक्षों की उत्पत्ति हुई। उनके फलों से वस्त्र एवं आभरण उत्पन्न होते थे। उन फलों के प्रत्येक पुट में श्रेष्ठगंध, वर्ण एवं रस से युक्त परम बलशाली मधु, मक्खियों के बिना ही उत्पन्न होता था। फिर काल-क्रम से प्रजा लोभयुक्त होने लगी एवं ममत्व से अविष्ट चित्त होकर उन वृक्षों को एक-दूसरे से छीनने लगे। इस प्रकार के दुराचरण से वे सभी वृक्ष नष्ट हो गये। तत्पश्चात् शीत-उष्ण, क्षुधा और पिपासा आदि द्वन्द्व उत्पन्न हुए। तब पूर्वकाल में उन द्वन्द्वों को दूर करने के लिए पुरों का निर्माण किया गया। मधु के सहित उन कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर अब शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों का उपघात करके वे अपनी जीविका की चिन्ता करने लगे। तब क्षुधा और पिपासा से पीड़ित एवं विषाद से प्रजाएँ व्याकुल हो गईं।

वर्षा का जल निम्नगामी था। वृष्टि का रुका हुआ जल ही स्रोत बन गया। इसके गिरने से हल से जोते बिना ही ग्राम्य और अरण्य आदि चौदह वृक्ष और गुल्म उत्पन्न हो गए, वे सभी ऋतुओं में पुष्प और फल उत्पन्न करते थे। इसी प्रकार त्रेता युग के आरम्भ में सभी औषधियाँ हुईं। राग और लोभ से युक्त हुई प्रजाएँ इन औषधियों के द्वारा ही अपनी जीविका चलाती थी। उसके पश्चात् मात्सर्य के कारण अपने बल के अनुसार मनुष्य नदी, क्षेत्र, पर्वत, वृक्ष, गुल्म, औषधि को ग्रहण करने

लगे। इसी दोष के कारण वे सब औषधियाँ देखते-देखते नष्ट हो गईं। उन सभी वनस्पतियों को (वस्तुतः) पृथ्वी ने ग्रसित कर लिया था। उन औषधियों के नष्ट होने पर पुनः भ्रान्त हुई प्रजा, क्षुधातुर होकर परमेष्ठी ब्रह्मा की शरण में गई। उन्होंने पृथ्वी का दोहन किया। उसमें सभी बीजों की उत्पत्ति हुई। पुनः ग्राम्य व अरण्य वृक्ष उत्पन्न हुए। फल पकने के पश्चात् सत्रह प्रकार की औषधियों का समूह उत्पन्न हुआ। जब निर्मित औषधियाँ पुनः नहीं उगती थीं, तब उन्होंने उनकी वृद्धि के लिए तथा मनुष्यों की जीविका का विचार किया। तब स्वयम्भू ब्रह्माजी ने कर्म द्वारा उत्पन्न होने वाली हस्तसिद्धि को उत्पन्न किया। तब से लेकर सभी औषधियाँ कृष्टपच्य (हल के द्वारा जोतकर बोई हुई) ही उत्पन्न हुईं। इस प्रकार उन प्रजाओं की जीविका का साधन हो जाने पर, स्वयं ब्रह्माजी ने न्याय और गुणों के अनुसार मर्यादा की स्थापना की। उन्होंने वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा धर्मपालक सब वर्णों में उत्पन्न हुए लोगों के लिए धर्म का निरूपण किया।[३५]

उपर्युक्त विवेचन में सामाजिक व्यवस्था के संस्थापक ब्रह्मा बताये गये हैं, जबकि जैन परम्परा में ऋषभदेव को कर्मभूमि का स्थापक कहा है। पुराणों में वर्णित मनुओं के स्थान पर जैन परम्परा में कुलकरों का वर्णन मिलता है।

कर्मभूमि की स्थापना के पश्चात् अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ कायम होती गईं। प्राकृतिक सुविधाएँ घटती गईं। कई प्रकार की प्राकृतिक असुविधाएँ होने लगीं, जिसके समाधान के लिए मनुष्यों द्वारा अनेक कार्य किये जाने लगे। शुभ पुद्गलों तथा परिणामों में अनन्त गुनी हीनता होती जाती है। इस प्रकार के अपकर्ष को प्राप्त करते-करते पंचम आरे के समय में बहुत सी शुभ बातों का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। पूर्वकालीन मनुष्य सरल एवं सुबोध्य होते थे, किन्तु इस समय के लोग वक्र एवं जड़बुद्धि वाले होते गए। यह ह्रास बढ़ते-बढ़ते छठे आरे में समस्त सुख-सुविधाएँ समाप्त हो जाती हैं। यह काल सर्वाधिक दुःखद बताया गया है। मनुष्य द्वारा निर्मित भवनादि, समस्त आवश्यक सामग्रियाँ भी विनष्ट हो जाती हैं। मात्र बीजरूप में ही मनुष्यादि प्राणी रहेंगे। इस प्रकार अत्यन्त अपकर्ष के पश्चात् पुनः जिस प्रकार से ह्रास हुआ, उसी क्रम से विकास प्रारम्भ होता है—जो उत्सर्पिणी काल कहलाता है। यद्यपि जैन दर्शन के समान अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल की अवधि पुराणों में नहीं है तथापि ह्रास एवं विकास का वर्णन पुराणों में युगों के रूप में हुआ है। वहाँ भी अवसर्पिणी काल के चार युगों में क्रमशः ह्रास होने का वर्णन है, अन्त में कलयुग में शुभ तत्त्वों का अभाव एवं अशुभ वातावरण की प्रचुरता होती जाती है। ह्रास की अत्यंधिकता को ही अन्त में प्रलय की स्थिति बताई है, जिसके बाद फिर से विकास क्रम प्रारम्भ होता है।

सृष्टि-प्रलय

सृष्टि एवं प्रलय के सम्बन्ध में यह तो पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि जगत् नित्य है, सत् है, अतः उसका एकदम पूर्ण नाश तथा उत्पत्ति नहीं होती। स्वाभाविक परिवर्तन अथवा क्षण-क्षण की सृष्टि और क्षण-क्षण के प्रलय उपरान्त वैभाविक पर्याय-जन्म दीर्घकालिक परिवर्तन या स्थूल सृष्टि-प्रलय को जैन दर्शन में स्थान दिया गया, किन्तु वह केवल पुद्गल स्कन्ध और कर्मसहित जीव इन दो द्रव्यों तक ही सीमित है। उसका क्षेत्र भी अति मर्यादित है, क्योंकि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में स्थूल परिवर्तनरूप सृष्टि-प्रलय नहीं है। मध्य लोक में भी ढाई द्वीप के भीतर जम्बूद्वीप का एक भरत और एक ऐरावत, धातकीखण्ड के दो भरत और दो ऐरावत तथा अर्धपुष्कर द्वीप के दो भरत और दो ऐरावत; इन दस क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र प्रवर्तमान है। इसके फलस्वरूप उत्सर्पिणी काल के आरम्भ में २१००० वर्ष पर्यन्त और अवसर्पिणी काल के अन्त में २१००० वर्ष पर्यन्त प्रलयकाल चलता है, वह भी सम्पूर्ण प्रलय नहीं किन्तु खण्ड प्रलय है। ४२००० वर्ष पर्यन्त वृष्टि, फसल, राजनीति, धर्मनीति, ग्राम, नगर, पुर, पाटन, नदी, सरोवर, कोट, किले, पहाड़ आदि क्रमशः निरन्तर क्षय को प्राप्त होते जायेंगे और अवसर्पिणी काल के पाँचवें आरे के अन्तिम दिन सबका उच्छेद होता है। अवसर्पिणी काल के छठे आरे में और उत्सर्पिणी काल के प्रथम आरे में इसी प्रकार की स्थिति बताई गई है। मनुष्य और तिर्यंच बीज मात्र रह जायेंगे। गंगा-सिन्धु नदियाँ रहेंगी, जिनके किनारे-किनारे बीज मात्र मनुष्य और तिर्यञ्च रहेंगे। उत्सर्पिणी के दूसरे आरे के प्रारम्भ में वृष्टि आदि का प्रारम्भ होता है और स्थिति सुधरने लगती है। इसको सृष्टि का आरम्भ काल कहें तो अनुचित नहीं है।[३६] वस्तुतः यहाँ प्रलय का अर्थ अपकर्ष और सृष्टि का अर्थ उत्कर्ष-उन्नति है।

पुराणों में सृष्टि का अर्थ है—अव्यक्त का व्यक्त होना। जो पदार्थ (तत्त्व) ह्रास काल में अव्यक्त हो जाते हैं, उनका पुनः व्यक्त होना (प्रकट होना) ही सृष्टि है। पुराणों में सृष्टि-प्रक्रिया यह है—पुरुष नाम से अधिष्ठित, प्रकृति के संयोग से महत्तत्व उत्पन्न होता है।

—महत्तत्व से त्रिगुण—अहंकार

—अहंकार से पंचतन्मात्रा

—तन्मात्राओं से पंचमहाभूत

—महाभूतों से चराचर जगत् की संरचना बताई गई है। पौराणिक सृष्टि-वर्णन पर सांख्य का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। पुराणों में सर्ग नौ प्रकार का बताया है, जिनमें मुख्यतया सर्ग तीन प्रकार का है—

१. **प्राकृत सर्ग**—प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप से होती है। यह तीन प्रकार का होता है—ब्रह्मसर्ग, भूतसर्ग (पंचतन्मात्राएँ) तथा वैचारिक सर्ग (इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि)।

२. **वैकृत सर्ग**—यह पाँच प्रकार का है—मुख्य सर्ग (स्थावर), तिर्यक् सर्ग (तिर्यंच योनिरूप), देवसर्ग, मानुष सर्ग तथा अनुग्रह सर्ग (सात्विक, तामसिक)।

३. **प्राकृत-वैकृत-सर्ग**—यह एक प्रकार का है—कौमार सर्ग।[३७]

प्रलय

भागवत पुराण में प्रलय के लिए निरोध शब्द का प्रयोग हुआ है। पुराणों में प्रलय चार प्रकार का बताया है—

नित्य, नैमित्तिक, द्विपरार्ध तथा प्राकृत। अन्यत्र द्विपरार्ध को प्राकृत का पर्याय मानकर आत्यन्तिक नामक प्रलय का निदर्शन हुआ है। क्षुद्र प्रलय तथा दैनंदिन प्रलयों का भी उल्लेख मिलता है।

१. **नित्य प्रलय**—ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी प्राणी या पदार्थों के उत्पन्न होते रहने का नाम नित्य प्रलय है।

२. **नैमित्तिक (क्षुद्र प्रलय)** —इस प्रलय का समय ब्रह्मा की रात्रि होती है, इसे कालरात्रि भी कहा जाता है। इस समय ब्रह्मलोक से नीचे के समस्त लोक संकर्षण के मुख से उठी हुई अग्नि से ध्वस्त हो जाते हैं।

३. **प्राकृतिक प्रलय (द्विपरार्ध)** —भागवत के अनुसार जब ब्रह्मा के शत वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, तब मानवीय मान से उसकी द्विपरार्ध की आयु समाप्त हो जाती है। उसी समय महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा—ये सातों प्रकृतियाँ अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाती हैं, इसे प्राकृतिक प्रलय कहा गया है।

४. **आत्यन्तिक प्रलय**—आत्यन्तिक प्रलय तब होता है, जब जीव आत्मा की उपाधि रूप अहंकार को नष्ट कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है।[३८] इस प्रकार आत्यन्तिक प्रलय कैवल्यस्वरूप है।

पुराणों में सर्ग नौ प्रकार का बताया है, जबकि जैनागमों में सम्पूर्ण जागतिक (सांसारिक) जीवों को प्रमुखतः दो भागों में विभक्त किया है—स्थावर एवं त्रस। स्थावर के अन्तर्गत पृथ्वी, अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु तथा वनस्पति शरीरगत जीव आते हैं, जिनके पास मात्र स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। त्रस के अन्तर्गत—द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना वाले), त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय वाले), चतुरीन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रिय वाले) तथा पंचेन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय सहित सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रिय वाले)। अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये अपने पूर्व-पूर्ववर्ती से अधिक

विकसित हैं। इसके अतिरिक्त गति की दृष्टि से भी जीवों के चार भाग किये हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव।

नरक

नरक के जैनागमों में सात प्रकार बताये गये हैं। पुराणों में यद्यपि नरकों की संख्या इक्कीस बताई है, परन्तु शंकराचार्य का कथन है कि पौराणिकों के अनुसार रौरव आदि सात नरक होते हैं, जहाँ पाप करने वाले लोग अपने फल को भोगने के लिए जाते हैं।[३९]

नरक में जाने के कारण—जैन परम्परा एवं पुराणों में नरक प्राप्ति का मुख्य कारण अशुभकर्म अथवा पापकर्म है। उन कारणों को जैनागमों में इस प्रकार से बताया गया है—इस संसार में जो पापमय जीवन में रत अज्ञानी लोग रौद्र पापकर्मों को करते हैं, वे अत्यन्त भयानक, अत्यन्त अन्धकारयुक्त एवं तीव्र ताप वाले नरक में जा गिरते हैं। जो मनुष्य हलन-चलन करने वाले त्रस तथा स्थावर जीवों की निर्दयतापूर्वक हिंसा करता है और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उपमर्दन करता है, दूसरों की चीजें हरण करने में ही जीवन की सफलता समझता है और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता, वह यहाँ से मरकर नरक में जाता है और स्वकृत कर्मों के अनुसार नाना भाँति का दुःख भोगता है। प्रमुखतः नरक के चार कारण बताये गये हैं। महाआरम्भ, महापरिग्रह, मद्य-माँस सेवन तथा पंचेन्द्रिय वध।

इन सभी कारणों का पुराणों में भी उल्लेख है। विवेकहीनता, परदोषदर्शन, अमंगल करना, अपवित्रता, असत्यवचन, आततायी बनना, परस्त्री कामना, सत्य के प्रति ईर्ष्या, निन्दित एवं उद्दण्ड व्यवहार आदि अनेक कारणों से नरक प्राप्ति बताई गई है।[४०]

नारकीय दुःख—जैनागमों में नारकीय दुःखों का वर्णन इस प्रकार से है—जो अज्ञानीजीव हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। असुर कुमारादि परमाधर्मी देव उन पापियों के कान, नाक और होठों को छुरी से छेदते हैं और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींचकर तीक्ष्ण शूलों से छेदते हैं, रुधिर बहता रहता है और वे रात-दिन बड़े आक्रंदन स्वर से रोते हैं। उनके छेदे हुए अंग को अग्नि में जलाते हैं, उस पर लवणादि क्षार छिड़कते हैं। नारकीय जीव उन परमाधार्मिक देवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो भस्मीभूत होते हैं और न ही उस महान् भयानक छेदन-भेदन आदि से कटते हैं, किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय बिताते रहते हैं। सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को पलभर भी सुख नहीं है। एक दुःख के बाद

दूसरा दुःख उनके लिए तैयार रहता है। संक्षिप्ततः वहाँ क्षेत्रकृत, पारस्परिक तथा देवकृत—इन तीन प्रकार के कष्ट बताये गये हैं।[४१]

पुराणों में विभिन्न कुण्डों का उल्लेख करते हुए उनके नामानुसार दुःखों का वर्णन है, जो कि अग्रलिखित हैं—

१. रौरव	२. महारौरव
३. तामिस्र	४. अन्धतामिस्र
५. कालचक्र	६. अप्रतिष्ठ
७. घटीयन्त्र	८. असिपत्रवन
९. तप्तकुम्भ	१०. कूटशाल्मली
११. करपत्र	१२. श्वान भोजन
१३. सदंश	१४. लोहपिण्ड
१५. करम्भसिकता	१६. भयंकर क्षार नदी
१७. कृमि भोजन	१८. घोर वैतरणी नदी
१९. शोणित पूय भोजन	२०. क्षुराग्रधार
२१. निशितचक्र	२२. संशोषण

पापियों को दुःख का भोग कराना ही इन कुण्डों का प्रयोजन है। ये भयंकर कुण्ड अत्यन्त भयावह तथा कुत्सित हैं। दस लाख किंकरगण सदा इन कुण्डों की देखरेख में नियुक्त रहते हैं। वे भयंकर एवं मदाभिमानी किंकर हाथों में भयावह गदा और शक्ति लिए रहते हैं। उनमें दया का नाम तक नहीं होता। उन्हें कोई किसी प्रकार भी रोक नहीं सकता।[४२]

उपर्युक्त वैतरणी, असिपत्र, कूटशाल्मली आदि का उल्लेख जैनागमों में वर्णित नरक-वर्णन में वेदनाओं के रूप में आता है।

तिर्यंच

तिर्यंच के भी बहुत से प्रकारों का जैनागमों में वर्णन है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक तिर्यंच अनेक प्रकार के होते हैं। पुराणों में इस योनि का वर्णन सर्ग के अन्तर्गत चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में आता है। चतुर्थ सर्ग में स्थावरों का तथा पंचम सर्ग में तिर्यंच योनिरूप तिर्यक् स्रोत कहा गया है।[४३]

मनुष्य

मनुष्यगति का महत्त्व जैन दर्शन और पुराण दोनों में अंकित है। मनुष्यत्त्व को मोक्ष-हेतु साधनभूत बताते हुए उसे जैनागमों में चार दुर्लभ अंगों में प्रथम स्थान पर रखा गया है। विश्व की अनन्तानन्त जीव राशि के सम्मुख मनुष्य उतने ही हैं,

जितनी महासमुद्र के समक्ष एक नन्हीं-सी बूँद। चौदह राजूलोक में मनुष्यक्षेत्र मात्र ढाई द्वीप ही है। संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए आत्मा का जब क्रमिक विकास होता है, तब वह अनन्त पुण्यकर्म के उदय से विभिन्न योनियों को पार करता हुआ मनुष्यजन्म ग्रहण करता है। अशुभ कर्मों का भार दूर होता है व आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनता है, तब कहीं यह जीव मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। संसारी जीवों को मनुष्य-जन्म चिरकाल तक इधर-उधर अन्य योनियों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। जो प्राणी छल-कपट से दूर रहता है, प्रकृति से सरल होता है, अहंकार से शून्य होकर विनयशील होता है, सब छोटे-बड़ों का यथोचित सम्मान करता है, दूसरों की किसी भी प्रकार की उन्नति को देखकर दाह नहीं करता, प्रत्युत जिसके हृदय में हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति होती है, रग-रग में दया का संचार होता है, जो किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर द्रवित हो जाता है एवं उसकी सहायता के लिए तन-मन-धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य-जन्म पाने का अधिकारी होता है। मनुष्य के विकास की सम्भावनाएँ सर्वाधिक बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य को छोड़कर अन्य गति वाले जीव सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उनमें ऐसी योग्यता नहीं है। यह मनुष्य भव अत्यन्त दुष्प्राप्य है तथा जीवों को बड़े लम्बे काल के बाद कभी मिलता है, क्योंकि कर्मों के फल गाढ़ (घोर) होते हैं। जो इस मनुष्य भव से भ्रष्ट हो जाता है, उसे बोधि प्राप्त करना दुर्लभ है।[४४]

मनुष्य-जन्म की महत्ता पुराणों में भी व्यक्त की गई है, विष्णु पुराण के अनुसार—हजारों जन्मों की यंत्रणा भोग लेने के पश्चात् कभी महान् पुण्य का फल हो तो ही इस देश में मनुष्यदेह की प्राप्ति होती है। देवता भी यही कहते हैं कि जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्गभूत भारतवर्ष में उत्पन्न हुए हैं तथा जिन्होंने इस कर्मभूमि में उत्पन्न होकर फलप्राप्ति की कामना से रहित अपने कर्मों को परमात्मा को अर्पण कर दिया है तथा इससे मलरहित होकर अन्त में उन्हीं अनन्त भगवान् में लीन हो जाते हैं, वे मनुष्य हम देवताओं से भी अधिक भाग्यवान् हैं। अपने स्वर्ग प्राप्त कराने वाले पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर हम कहाँ जाकर उत्पन्न होंगे, हम यह नहीं जानते। वे मनुष्य धन्य हैं जिन्होंने भारतवर्ष की पृथ्वी पर उत्पन्न होकर इन्द्रियों की शक्ति को नहीं छोड़ा है।

देवत्व से प्रच्युत होने पर हम मनुष्यत्व को प्राप्त करें, क्योंकि जिस कार्य को मनुष्य करने में समर्थ है, उसे देवता तथा असुर कोई नहीं कर सकता। देखिये, कर्म रूपी बेड़ियों से बंधे हुये, अपने कर्म की प्रसिद्धि के इच्छुक, सुख के लेशमात्र से मोहित होकर कुछ कर्म (शुभ) नहीं करते हैं। अतः इस क्षेत्र में जन्म, मनुष्यदेह तथा शास्त्रोक्त धर्म का परिपालन करना दुर्लभ होता है।[४५]

पूर्वोक्त पुराणों के मन्तव्य के तुल्य मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बताते हुए जैनागमों में यही प्रतिपादित किया है कि मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, धर्म में श्रद्धा तथा संयम में पुरुषार्थ—इन चार अंगों की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। देवलोक में देवता भी निम्नलिखित बातों की सदा इच्छा किया करते हैं—मनुष्य योनि प्राप्त करना, आर्यक्षेत्र में जन्म लेना तथा श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होना।[४६] देव भले ही मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली और समृद्ध हों, पर धर्म का पालन कर मनुष्य ही आत्मा से परमात्मा बन सकता है। यह क्षमता मानव में ही है, अतः देवत्व से मानव-जीवन को ही श्रेष्ठ माना है। महर्षि वेदव्यास का महाभारत में कथन है कि मैं तुम लोगों के समक्ष एक गुप्तसत्य की अभिव्यक्ति दे रहा हूँ। वह यह है कि सारी सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठतर न तो कोई वस्तु है और न ही कोई प्राणी ही—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि,
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

देव

'देव' शब्द की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—"दीव्यन्ति यथेच्छ निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवा", "दीव्यन्ति यथेच्छं क्रीडन्तीति देवाः", "दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवाः।"[४७] तात्पर्य यह है कि देवता विशेष पुण्यराशि से युक्त होने से शुभ पुद्गलों (द्युति) वाले होते हैं। वे देवगति आदि कर्मों से उस पर्याय को प्राप्त करते हैं। उनकी स्थितियाँ (आयुष्य) भी प्रत्येक की भिन्न-भिन्न है। आयुष्य की समाप्ति के बाद उन्हें पुनः इसी धरातल पर आना पड़ता है, क्योंकि वे भी कर्मों से बद्ध संसारी प्राणी हैं, जन्म-मरण करने वाले हैं, मुक्त नहीं हैं; इसीलिए मुमुक्षुओं के लिए उन देवताओं को उपास्य नहीं माना गया है। मुक्त होने के लिए तो मोक्षमार्ग बताने तथा स्वयं मुक्त होने वाले देवाधिदेव (अरिहंत, सिद्ध) को ही आराध्य एवं अनुकरणीय बताया है।

पुराणों में भी देवताओं का वर्णन करते हुए देव, देवियों, विद्याधर, यक्ष, गुह्यक, अप्सरा आदि देव योनियों की अनेक कथाएँ हैं। "देवृ देवने, देवि प्रीणने, दिवु क्रीडाविजिगीषा-व्यवहार-द्युति-मोद-मदस्वप्नकान्तिगतिषु, दिवु परिकूजने" इत्यादि से निर्मित देवता शब्द में इनके अर्थ—प्रसन्न करना, प्रकाश करना, खोलना, विजय की इच्छा सन्निहित है। महर्षि यास्क के अनुसार "देवता" शब्द का निर्वचन इस प्रकार है "देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतानाद्वा।" "द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता"[४८] अर्थात् दातृत्वशक्ति से युक्त दीपन और द्योतन करने वाले को देव कहा जाता है अथवा द्युलोक में रहने के कारण भी देव कहा जा सकता है।

जैन ग्रन्थों में जिस प्रकार देवों को वैक्रियक शरीरयुक्त होने से रूपपरिवर्तन, अदृश्य तथा प्रगट होना आदि की शक्तियुक्त बताया है, वैसे ही पुराणों में देवताओं के शरीर दिव्य, शुद्ध बताये गये हैं एवं उनके शरीर में मल-मूत्र-पसीनादि नहीं होता। वे कहीं भी एक क्षण में जा सकते हैं, विभिन्नरूप बना सकते हैं तथा पुराणों से यह भी स्पष्ट होता है कि देवलोक में कोई देवता स्थायी नहीं है। एक अवधि तक ही वे वहाँ रहते हैं। जब उनकी आयुष्य की स्थिति पूर्ण हो जाती है तो उन्हें भी जन्मान्तर में जाना पड़ता है। कर्मों से बद्ध होने के कारण उनका भी संसार में संसरण (आवागमन) अन्य प्राणियों के समान चलता रहता है।[४९] उनके आयुष्य की अवधियाँ भले ही लम्बी हों, परन्तु वे अमर नहीं हैं।

इस प्रकार से देव, मनुष्य तिर्यंच, नरक—इन चार गतियों में जीवों का आवागमन चलता रहता है। जिनका यह आवागमन बन्द हो जाता है, वे जीव मुक्त कहलाते हैं।

लोक-संस्थिति

वस्तुतः जीव एवं अजीव का संयोग ही संसार है। लोक की संस्थिति जैनागमों के अनुसार इस प्रकार है—[५०]

१. आकाश के आधार पर वायु है।
२. वायु के आधार पर जल है।
३. *जल के आधार पर पृथ्वी है।*
४. पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव हैं।
५. अजीव (शरीरादि) जीव प्रतिष्ठित हैं।
६. जीव (कर्माधीन जीव) कर्म के वशवर्ती रहे हुए हैं।
७. अजीव को जीवों ने संग्रह कर रखा है।
८. *जीव को कर्मों ने संग्रह कर रखा है, रोक रखा है। तालाब में डूबी हुई* नौका जिस तरह जल में एक-मेक होकर रहती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल आपस में एक-मेक होकर लोक में रहते हैं।

जैनागमों की इस अवधारणा के समान ही पुराणों में भी चेतन एवं अचेतन के संयोग को ही संसार कहा गया है। जीव तथा जड़ के मिश्रण से ही जगत् है। मात्र जड़ पर अथवा मात्र जीव पर जगत् नहीं चल सकता।

इस प्रकार से जगत् के सन्दर्भ में पुराणों में भी जैन दर्शन के समान अनेकान्तवादी चिन्तन दृष्टिगत होता है। जैसाकि वैदिक संस्कृति का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जगत् ईश्वरकृत है, उसके सर्जक अथवा नियन्त्रक ईश्वर हैं। उसके स्थान पर

पुराणों में यह सिद्धान्त भी स्पष्टतः उपलब्ध होता है कि सृष्टि अनादिकाल से चली आ रही है, उसके नियन्त्रणकर्त्ता के रूप में जैन दर्शन के समान ही कर्म को कारण स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त विश्व के मूल में एक ही तत्त्व से सम्बन्धित वैदिक निष्ठा के स्थान पर पौराणिक मन्तव्य—प्रकृति तथा पुरुष को नित्य मानने से द्वैतवादी एवं इनको भी अनेक स्वीकार करने वाले बहुतत्त्ववादी हैं। यह मत जैनमत से पर्याप्त समानता रखता है, क्योंकि उसके अनुसार विश्व के मूल में कोई एक तत्त्व नहीं है, किन्तु वह तो नाना तत्त्वों का सम्मेलन है।

जगत् की नित्यता को सैद्धान्तिकरूप से स्वीकृत करते हुए भी जैन दर्शन के समान उसकी परिवर्तनशीलता तथा जागतिक पदार्थों की अनित्यता भी पुराणों में निर्देशित है। जगत् को दुःखमय मानते हुए उसके प्रति वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण भी जैन दर्शन के तुल्य ही है।

इसके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण साम्य अग्रलिखित भी है। वैदिक संस्कृति में नाना प्रकार के इन्द्रादि देवों की कल्पना की गई थी। जिनका वर्ग मनुष्यवर्ग से भिन्न था तथा मनुष्यों के लिए आराध्य था। किन्तु उन देवों को जैन परंपरा में जगत् के कर्मबद्ध प्राणियों के अन्तर्गत ग्रहण किया है तथा मानववर्ग से पृथक् होते हुए भी उनका वर्ग सब मनुष्यों के लिए आराध्य कोटि में नहीं है। मनुष्यदेव की पूजा भौतिक उन्नति के लिए भले ही कर ले, किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए तो उससे कोई लाभ नहीं। अतएव ऐसे ही वीतराग व्यक्ति को जैन धर्म ने आराध्य बताया, जो देवों के भी आराध्य हैं। देव भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। यही आशय पुराणों का भी है। लगभग ऐसे ही पुराणों में देववर्ग को कर्मबद्ध तथा जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने वाला बताया है। यही नहीं उनमें देवों के द्वारा, निर्लिप्त मनुष्यों की प्रशंसा भी की गई है। समस्त जगत् के प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठ बताया गया है। सारांश यह है कि देव की नहीं, किन्तु मानव की प्रतिष्ठा बढ़ाने में पुराण जैनधर्म की तरह अग्रसर है।

निष्कर्षतः जगत् के प्रति पुराण तथा जैनदर्शन के दृष्टिकोण में भौगोलिक, कालिक एवं परिवर्तन सम्बन्धी अनेक समानताएँ तथा असमानताएँ दिखाई देती हैं, परन्तु फिर भी यह मूल-मन्तव्य तो दोनों में समान ही है कि यह संसार (जगत्) अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा एवं आत्मा का इसमें भ्रमण कर्म-संस्कारों के कारण होता है।

□□□

सन्दर्भ-सूची

१. (अ) ऋग्वेद १.१६.४.४

(ब) वही १०.१२९.७, १०.९४.१२ मं. १ सू. १६४. १, १३ अथर्ववेद का १०.७.४३

२. डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय "वैष्णव पुराणों में सृष्टिवर्णन"

(सं. बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित भूमिका से)

३. "धम्मो अहम्मो......वरदंसिहिं ॥" —उत्तराध्ययन २८.७

"सद द्रव्य लक्षणम्" —तत्त्वार्थसूत्र

४. तदेतदक्षरं नित्य—जगन्मुनिवराखिलम्

आविर्भाव—तिरोभाव-जन्मनाशं विकल्पवत् ॥ —विष्णु पुराण (१) पृ. २४०, १.२२.६०

५. (अ) उत्तराध्ययन २८.७, ३६.२

(ब) भगवती सूत्र २.१

६. सूत्रकृतांग १.१.३.९

७. विष्णुपुराण (१) पृ. २४०, १.२२.६०

८. "यथेदानीं तथाग्ने च पश्चादप्येतदीदृशम्" —भागवतपुराण ३.१०.१३

९. पं. बलदेव उपाध्याय 'पुराण विमर्श', पृ. २९

१०. (अ) अच्वेइ कालो तुरन्ति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी। —उत्तराध्ययन १३.३१

(ब) उत्तराध्ययन १८.१३

(स) जम्म दुक्खं जरा दुक्खं दुक्खं रोगा य मरणाणि य

अहो दुक्खो हु संसारे जत्थ कीसंति जतुंणो ॥ —वही १९.१६

(द) वही १४.२२

११. (अ) सूत्रकृतांग १.१.३.१६

(ब) उत्तराध्ययन १३:२२

(स) वही १९.१३

(द) सूत्रकृतांग २.१.१३

(य) उत्तराध्ययन १३.२३

१२. "दुःखे स्वभावसंसिद्धे" —शिव पुराण ७.१.३१.८७

विषयामज्जनाकर्त्ता दुर्बोधं फैनिलं परम्

महादुष्टजन्यव्यालमहाभीमभयानकम् ॥ —पद्मपुराण २, पृ.१०७, श्लो. ६३

१३. विष्णुपुराण (२) पृ. २६०, ५.३०.३८-४२ —वही, पृ. ३७४-३८२, ६.५.१-५७

१४. मार्कण्डेयपुराण ११७.३२-३५, ३.५७

१५. तत्त्वार्थसूत्र १०.५,६,७

१६. मार्कण्डेयपुराण ३.५८-७२

१७. सं. डॉ. रामचन्द्र वर्मा "ब्रह्माण्ड पुराण" पृ. १५२-१५४

१८. प्रधान कारणं यत्तदव्यक्ताख्यं महर्षयः
यदाहुः प्रकृतिं सूक्ष्मां नित्यां सदसदात्मिकाम् ॥ —मार्कण्डेय पुराण ४२.३२

१९. M. Hirriyanna, "Outlines of Indian Philosophy"(Hindi Translation) P. 273

२०. डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी
"शिव महापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना" पृ. ३०७

२१. "त्रयोविंशति—तत्त्वेभ्यः परा प्रकृतिरुच्यते
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पंचविंशकम्" —शिव पुराण ६.९.९

२२. मार्कण्डेय पुराण ४२.३२

२३. डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय 'वैष्णवपुराणों में सृष्टिवर्णन', पृ. ५३

२४. (अ) स्थानांग १५३ (अभयदेव सूत्रवृत्ति)
(ब) समवायांग १४९

२५. (अ) नारदीय पुराण (लोक वर्णन)
(ब) सतीशचन्द्र जोशी "भविष्य पुराण" पृ. ६३-६४
(स) श्रीमद् भागवत पुराण —'शिवपुराण में शैवदर्शन तत्त्व' पृ. ३८७

२६. (अ) तत्त्वार्थ सूत्र ३.७,८
(ब) स्थानांग १५३, १९३, ५५५, ९३ (अभयदेव सूत्रवृत्ति)

२७. (अ) चरणानुयोग (प्रस्तावना)
(ब) स्थानांग १९३
(स) विष्णु पुराण
(द) सतीशचन्द्र जोशी "भविष्य पुराण" पृ. ६३-६४

२८. (अ) "पद्ममहापद्मतिगिंछकेशरिमहापुण्डरीका ह्रदास्तेशामुपरि" —तत्त्वार्थसूत्र ३.१४
(ब) "एतेषां पर्वतानां तु द्रोण्योऽतीव मनोहराः
वनैरमलपानीयैः सरोभिरुपशोभिताः ॥" —मार्कण्डेय पुराण ५५.१४-१५
(स) "तदेतद् पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम्" —वही ५५.२०

२९. श्री शुक्लचंद जी म. "नवतत्त्वादर्श" पृ. ३९-४०

३०. (अ) विष्णुपुराण २.३.१-४
(ब) अग्निपुराण ११८.२

३१. श्रीमदकलंकदेव के "तत्त्वार्थसूत्र" के भाष्य की व्याख्या ३.१०

३२. (अ) भागवत पुराण ११.१५-१७ तथा ५.७१-७३
(ब) वायु पुराण ३३.५१-५२
(स) मार्कण्डेय पुराण ५३.३९-४०
(द) पं. बलदेव उपाध्याय "पुराणविमर्श" पृ. ३३३

३३. (अ) जैनतत्वप्रकाश पृ. ८४
(ब) विष्णुपुराण २.४.१३-१४

३४. जैनतत्वप्रकाश

३५. मार्कण्डेय पुराण ४६वाँ अध्याय

३६. मुनिश्री रत्नचन्द्रजी महाराज —"सृष्टिवाद और ईश्वर" पृ. ४६१-४६३

३७. (अ) सतीशचन्द्र जोशी "श्री भविष्यपुराण" पृ. ६२

(ब) डॉ. उमाशंकर त्रिपाठी "शिव महापुराण की दार्शनिक व धार्मिक समालोचना" पृ. १२८

३८. (अ) भागवत पुराण २.१०.६; ४.५-३८

(ब) ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्र.ख: ८.८-९; ५४-७०

३९. शंकराचार्य "ब्रह्मसूत्र" भाष्य ३.१.१५

४०. (अ) सूत्रकृतांग २.५.१.३; १.५.४

(ब) तत्त्वार्थ सूत्र ६.१५ वामन पुराण ६१.१५-१७

४१. (अ) सूत्रकृतांग १.५.२२-२३; १.५.१६

(ब) जीवाभिगम सूत्र ३.३.११

(स) तत्त्वार्थसूत्र ३.३;४,५

४२. (अ) कल्याण (वामन पुराणांक) पृ. ७३ (११.५१-५८), जनवरी १९८२

(ब) कल्याण (ब्रह्मवैवर्त पुराणांक, जनवरी, १९६३

४३. (अ) श्री शुक्लचन्द्र जी म. "नवतत्त्वादर्श" पृ. १४

(ब) मार्कण्डेय पुराण ४४वाँ अध्याय (सर्ग-वर्णन)

४४. (अ) उत्तराध्ययन ३.१,७; १०.४,५,७,२०

(ब) औपपातिक सूत्र

(स) सूत्रकृतांग १.१५.१६, १.१५.१८,

४५. (अ) विष्णुपुराण (१) १.१४.२२-२६

(ब) मार्कण्डेयपुराण ५४.६३-६४

(स) भागवत ५.१७.११

(द) पद्मपुराण (२) पृ. २५२, श्लो. ६

४६. (अ) "चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो
माणुस्सत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥" —उत्तराध्ययनं ३.१

(ब) "तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा
माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं,
सुकुलं पच्चायाति ॥" —ठाणांग ३.३

४७. अभिधान राजेन्द्र कोष (४) पृ. २६०७

४८. यास्क "निरुक्त" ७.४.१५

४९. तत् कर्मनिगडग्रस्तै: स्वकर्माख्यापनोत्सुकै:
न किंचित् क्रियते कर्म सुखलेशोप बृंहितै: ॥ —मार्कण्डेयपुराण ५४.६४

५०. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, प्रथम शतक, छठा उद्देशक

□□□

९

ईश्वर की अवधारणा

ईश्वर शब्द "ईश्" धातु से निष्पन्न है जो शक्तिसंपन्नता की ओर इंगित करता है। ईश्वर शब्द का अर्थ पूर्ण सामर्थ्यवान् (पूर्ण ऐश्वर्यवान्) ही है न कि कर्तृत्व। "सामर्थ्य का अर्थ जगत् पर अपना साम्राज्य जमाना नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हो सकता है कि आज तक जो आत्मा जड़पदार्थ पुद्गलद्रव्य की सत्ता के नीचे दबा हुआ था—कर्म की आज्ञा के अधीन था, उस आत्मा के द्वारा कर्मदल को चकचूर करके कर्म की सत्ता को जड़-मूल से उखाड़कर अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन रूपी अपनी अतुल समृद्धि पर कब्जा करके स्वाभाविक पर्याय की सत्ता पर पूर्ण स्वतन्त्रतया अपना साम्राज्य जमाना और अनन्त परमानन्द में तल्लीन रहना या पूर्ण ब्रह्म-पद प्राप्त करना।"[१]

ईश्वर की अवधारणा विभिन्न दर्शनों में विभिन्न प्रकार की है।

दो प्रमुख विचारधाराएँ

भारतीय दर्शनों में प्रमुख रूप से दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित हैं। जिनमें से कुछ परम्पराएँ परमात्मवादी (ईश्वरवादी) हैं तथा कुछ आत्मवादी हैं। जैनदर्शन तथा सांख्यदर्शन आत्मवादी दर्शन हैं।

ईश्वरवादियों के अनुसार—सर्वोच्च (सर्वोपरि) शक्ति ईश्वर है। वह सर्वतंत्र, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक शक्ति है। कर्ता, हर्ता, भर्ता वही है। वही अपनी इच्छा के अनुसार संसार को चलाता है, आत्मा को शुभ-अशुभ की ओर प्रेरित करता है अर्थात् जो कुछ है, वह ईश्वर है, जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आत्मा को ईश्वर का अनुयायी, उपासक एवं सेवक माना है। चराचर जगत् ईश्वर का ही मूर्तरूप है, वही एक सर्वत्र व्याप्त है। एक ही तत्त्व की व्यापकता विष्णु पुराण में इस प्रकार से बताई गई है—वह एक ही भगवान् जनार्दन जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। वही स्रष्टा (ब्रह्मा) होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं, पालक (विष्णु) हो पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं, और अन्त में स्वयं संहारक (शिव) होकर स्वयं ही उपसंहृत-लीन होते हैं।[२]

इसके विपरीत आत्मवादी दर्शन ईश्वर के स्थान पर आत्मा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके आत्मा ही सर्वशक्तिमान कर्त्ता-हर्ता है। उनकी आस्था में ईश्वर या परमात्मा कोई अपरिचित वस्तु नहीं, कोई सर्वथा नवीन भिन्न तत्त्व नहीं, किन्तु परम विकसित, सर्व द्वन्द्वमुक्त, इच्छा-द्वेषशून्य आत्मा का ही रूप है। कर्मयुक्त जीव आत्मा है और कर्ममुक्त जीव परमात्मा है।[3] ईश्वर (परमात्मा) को सृष्टि का निर्माता एवं शासक न मानने के कारण जैन दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। वस्तुतः जैन दर्शन में परमात्मा की सत्ता का निषेध नहीं किया गया है। एक नहीं, अनन्त परमात्माओं को जैन दर्शन में माना गया है। अनावृत आत्मा को ही परमात्मा माना गया है। इस प्रकार से इस दर्शन में आत्मा का ही अन्तिम रूप परमात्मा है। आत्मवाद के अनुसार आत्मा ही सुख-दुःख का करने वाला तथा उसका फल भोगने वाला है। शुभमार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का सर्वश्रेष्ठ मित्र है और अशुभमार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का निकृष्टतम शत्रु है। गीता के समान ही कर्त्ता, भोक्ता, मोक्ता जो कुछ भी है, वह स्वयं आत्मा ही है। परमात्मा आत्मा और सृष्टि के बीच में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता, वह तो निर्विकार, निरंजन सिद्धस्वरूप है। आत्मा को अन्तिम आदर्श माना है, आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकारी माना गया है।

जैनदर्शन तथा पुराणों में किये गये परमात्मा के विवेचन में कई प्रकार के वैषम्य तथा साम्य दिखाई देते हैं। वैषम्यों के अन्तर्गत प्रमुख भिन्नता अग्रलिखित है—

पुराणों में एक ही ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता बताई गई है। उसी के विभिन्न रूप ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि जगत् के रूप में प्रगट होते हैं अर्थात् वह निर्गुण-निराकार भी सगुण हो सकता है तथा सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करता है। इस प्रकार वह सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है तथा जो उसकी भक्ति करता है, उस पर वह अनुग्रह करता है। उसके अनुग्रह से मुक्ति की प्राप्ति भी होती है।

ईश्वर कर्तृत्व

पुराणों में वर्णित सृष्टि-वर्णन (सर्गादि वर्णन) से यह विषय अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है। उनमें सर्गादि की उत्पत्ति के रूप में प्रमुख कर्त्ता ईश्वर को ही माना गया है। पद्म पुराण के अनुसार प्रारम्भ में मात्र वही एक तत्त्व रहता है। उस समय केवल अत्यन्त घना और गहरा अन्धकार ही रहता है। जिस समय इस विशाल विश्व के सृजन का समय उपस्थित होता है अर्थात् जब भी उसकी ऐसी इच्छा होती है कि जगत् को समुत्पन्न किया जावे तो वही ब्रह्मात्मक ज्योति जिसका कि केवल ज्ञान ही स्वरूप है, अपने आप में लीन विकारों को जानकर इस विश्व की रचना करने का उपक्रम किया करती है। उससे सर्वप्रथम प्रधान का आविर्भाव रहता है। उस अव्यक्त प्रधान से महत् उत्पन्न होता है, जो सात्विक, राजस, तामस के भेद से

तीन प्रकार का होता है। इसी को त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहते हैं। महत्तत्व से अहंकार (तीन प्रकार का) आविर्भूत हुआ। जिस प्रकार प्रधान से महत् आवृत होता है, वैसे ही अहंकार समावृत होता है। महत् से आवृत अहंकार भूतादि विकृतियों को करता हुआ सर्वप्रथम शब्दतन्मात्रा को जन्म देता है। शब्दतन्मात्रा से आकाश, उनसे स्पर्शतन्मात्रा, स्पर्श गुण वाले वायु से रूपतन्मात्रा तथा ज्योति की समुत्पत्ति, उससे रसतन्मात्रा का सृजन होता है और इसके अनन्तर जल की समुत्पत्ति, जल से गन्धतन्मात्रा तथा उससे पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् अण्डोत्पत्ति एवं उस अव्यक्त विष्णु के स्वेदज अण्ड, जरायु, महीधर, समुद्र गर्भोदक बने। उससे देवासुर, मानव तथा सबका आविर्भाव हुआ। रजोगुण धारक परात्पर हरि स्वयं ही ब्रह्म का स्वरूप धारण कर जगत् की संरचना में प्रवृत्त होते हैं। जब तक कल्पों की विकल्पना रहती है, हरि ही युगों के अनुरूप जगत् का पालन करते हैं। जब हरि की इच्छा होती है तो नरसिंह स्वरूप से, रूद्र से वही इसका संहार भी करते हैं।[४] विष्णु पुराण तथा अन्य पुराणों[५] में भी सृष्टि की लम्बी प्रक्रियाओं का वर्णन है, जिनमें काफी अन्तर भी है, परन्तु मूल मन्तव्य तो यही है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय के आदिकारण ईश्वर हैं। चाहे वह ब्रह्मा, आदिब्रह्म, हरि, विष्णु, शिव, देवी इत्यादि कोई भी हो।

ईश्वर कर्तृत्व का इसके विरोधियों ने प्रचुर खण्डन किया। न केवल श्रमण दर्शनों ने इसके विरुद्ध कई तर्क दिये हैं अपितु वेदों में भी ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व के विरुद्ध कहा गया है—त्रिनाभि, तीन ऋतुओं वाला यह संवत्सर अजर-अमर है। ये सूर्य आदि लोक, मूलसहित कभी नष्ट नहीं होते।[६] प्रजापति भी स्वयं कहता है कि इनमें से प्रथम कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ, यह मैं नहीं जानता—

न विजानामि यतरा परस्तात्[७]

मीमांसा-दर्शन में ईश्वर कर्तृत्व का अनेक युक्तियों के साथ निषेध किया गया है। इसके अनुसार जगत् के पूर्व जब कुछ भी नहीं था तो वह ईश्वर किस जगह रहता था? यदि आप कहें कि वह निराकार है, उसे पृथ्वी आदि के आधार की आवश्यकता नहीं, तो निराकार में इच्छा और प्रयत्न किस प्रकार सिद्ध करोगे, क्योंकि सर्वव्यापक निराकार में आकाशवत् क्रिया असंभव है। इसी प्रकार इच्छा शरीर का धर्म है। अशरीरी के इच्छा नहीं होती। अतः निराकार मानने पर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता। यदि साकार, सशरीरी मानो तो उसके लिए आधार की आवश्यकता है, परन्तु प्रलय में आधाररूप पृथ्वी का तो आप अभाव मानते हैं, अतः यह प्रश्न होता है कि वह रहता कहाँ था?

जगत् को बनाते हुए ईश्वर को किसने देखा? आद्यक्रिया किस प्रकार प्रारम्भ हुई और किस स्थान से प्रारम्भ हुई ? यदि किसी स्थान विशेष से तो इस विशेषता

का क्या कारण है? यदि सर्वत्र एक साथ क्रिया प्रारम्भ हुई तो सृष्टि का क्रम न रहा? उस शान्त परमेश्वर में यह अशान्तिप्रद इच्छा ही क्यों उत्पन्न हुई?

सर्वव्यापक ईश्वर की क्रिया से जगत् का बनना असम्भव है, क्योंकि जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहे के चारों ओर होने से लोहा क्रिया नहीं कर सकता, उसी प्रकार परमाणुओं के चारों ओर ईश्वर की सत्ता होने से तथा सब ओर से क्रिया देने से परमाणु भी वहीं स्थित रहेगा। यदि कहा जाए कि परमात्मा परमाणुओं के अन्दर भी व्यापक है इसलिए वह अन्तःक्रिया देता है, तो भी परमाणुओं में क्रिया नहीं हो सकेगी, क्योंकि परमाणुओं के जो बाहर ईश्वर है, वह अन्तःक्रिया का अवरोधक है। अतः ईश्वर विश्व को नहीं रच सकता। यदि ईश्वर सशरीरी एकदेशी है तो उस शरीर का स्रष्टा कौन है? यदि उसका भी कोई शरीरी कर्त्ता है तो उसके शरीर का कर्त्ता कौन है? इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा।

इस दुःखमय जगत की रचना कर अनन्त जीवों को दुःख-सागर में डालने से उसे क्या लाभ हुआ? यदि वह नहीं बनाता तो उसका क्या बिगड़ता? यदि कहा जाए कि स्वभाव है तो वह सुधार क्यों नहीं लेता? यदि यह ईश्वर की दया है तो प्रश्न होता है कि दया किस पर? प्रलयकाल के पहले तो कोई दयनीय नहीं था, सबके सब सुखी थे, क्या सुखी जीवों को दुःख में डालने का नाम अनुकम्पा है? दया दिखलाना ही उद्देश्य था तो सुखमय संसार की रचना करनी थी। क्या ऐसा करना उसकी शक्ति के बाहर था?

यदि कहा जाए कि सुख-दुःख कर्मानुसार जीव भोगता है तो ईश्वर की बीच में क्या जरूरत है? क्या उसका कोई स्वार्थ था? यदि यह उसकी क्रीड़ा या लीला है तो इससे संसार तंग आ चुका है, कब तक वह बालक बनकर क्रीड़ा करता रहेगा? वह प्रलय क्यों करता है? क्या काम करते-करते थक जाने से आराम करने लगता है या साधन खराब हो जाते हैं, उन्हें ठीक करने लगता है? यदि यह भी दया है तो बनाना और बिगाड़ना दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं, दोनों का एक दया प्रयोजन नहीं हो सकता।

यदि कहा जाए कि जगत् बनाने में वेद प्रमाण हैं तो वेद में कथित पदार्थों का वेद के साथ सम्बन्ध है या नहीं ? यदि नहीं है तब वेद असत्यभाषण के दोषी हैं। यदि है तो वेदों के नित्य होने से उन पदार्थों की नित्यता स्वयं सिद्ध हो गई। अतः जगत रचना की कल्पना, युक्ति और प्रमाण से खण्डित होने के कारण मिथ्या है। फिर उन वाक्यों को वेद बनाने वाले ने अपनी प्रशंसा प्रगट करने के लिए नहीं लिखा, इसका क्या प्रमाण है?[८]

इसी प्रकार सांख्य भी ईश्वर कर्तृत्व का विरोध करता है। सांख्य-योग में

योगियों का ईश्वर सृष्टिकर्त्ता आदि गुणों वाला न होकर मुक्ति के लिए अवलम्बन मात्र है। मुक्त आत्मा ही योगमत का परमात्मा है। लोकमान्य तिलक ने "गीता-रहस्य" में स्पष्ट लिखा है—"सांख्यों को द्वैतवादी अर्थात् प्रकृति और पुरुष को अनादि मानने वाला कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य मूल तत्त्व को नहीं मानते। इसका कारण यह है कि यदि ईश्वर सगुण है तब तो उनके मतानुसार वे प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और यदि निर्गुण माने तो निर्गुण से सगुण पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता।"[९]

जैन दर्शन में जगत् को ईश्वरकृत नहीं माना है, क्योंकि विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं हो सकता और असत् से सृष्टि निर्माण असम्भव है। डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं—ईश्वरवादी के समान विश्व के एक स्रष्टा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें यह समझ में नहीं आ सकता कि किस प्रकार एक अनिर्माता ईश्वर अचानक और तुरन्त एक स्रष्टा बन सकता है, कैसे संसार की रचना की गयी—इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन होगा। संसार को बनाने से पूर्व वह किसी न किसी रूप में विद्यमान था या नहीं? यदि कहा जाये कि यह सब ईश्वर की अनालोच्य इच्छा के ऊपर निर्भर करता है तो हमें समस्त विज्ञान एवं दर्शन को ताक में रख देना पड़ेगा। यदि पदार्थों को ईश्वर की इच्छा के ही अनुकूल कार्य करना है तो पदार्थों के विशिष्ट गुणसम्पन्न होने का क्या कारण है? पदार्थों का विशिष्ट धर्म-सम्पन्न होना भी आवश्यक नहीं, यदि वे परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते। यदि ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है तो जल जलाने का और अग्नि ठण्डक पहुँचाने का काम भी कर सकते थे। यथार्थ में भिन्न-भिन्न पदार्थों के अपने विशिष्ट व्यापार हैं, जो उनके अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल हैं और यदि उनके वे व्यापार विनष्ट हो जायें तो उन पदार्थों का भी विनाश हो जाएगा। यदि तर्क किया जाए तो प्रत्येक पदार्थ का एक निर्माता होना ही चाहिए, तो उस निर्माता के लिए एक अन्य निर्माता की आवश्यकता होगी और इस प्रकार हम निरन्तर पीछे चलते चलेंगे और इस परम्परा का कहीं भी अन्त न होगा। इससे बचने के लिए किसी एक प्राणी विशेष के लिए यह सम्भव हो सकता है कि उसे स्वयम्भू एवं नित्य मान लिया जाये तो क्यों नहीं अनेक पदार्थों एवं प्राणियों को ही स्वयम्भू एवं आधाररूप में स्वीकार कर लिया जाये?[१०]

ईश्वर कर्तृत्व का अनेक युक्तियों के आधार पर निराकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्दि का कथन है—

- ईश्वर के कर्म का अभाव होने से इच्छा-शक्ति को मानना युक्त नहीं है। इच्छा अनभिव्यक्त है तो वह अज्ञप्राणी की तरह कार्योत्पत्ति में कारण नहीं हो सकती।[११]

- ईश्वर ज्ञान-शक्ति के द्वारा ही हमेशा समस्त कार्यों को कर लेने में समर्थ है, यह अनुमान उदाहरण रहित है।[१२]

- ईश्वर अपने शरीर का निर्माण करके दूसरे देह-धारियों के निग्रह और अनुग्रह (दण्ड और उपकार) को करता है—यह कथन भी परीक्षा करने पर ठहरता नहीं है।[१३] यदि ईश्वर शरीरान्तर (अन्य शरीर) के बिना अपने शरीर को उत्पन्न करता है तो समस्त प्राणियों के शरीरादिक कार्यों को उत्पन्न करने में देहाधान व्यर्थ है और यदि शरीरान्तर से अपने शरीर को बनाता है तो अनवस्था नामक दोष प्रसक्त होगा। ऐसी हालत में प्रकृत शरीरादिक कार्यों को ईश्वर कभी नहीं कर सकता।[१४]

- शरीर, जगत्, इन्द्रिय आदिक पदार्थ बुद्धिमान्-निमित्त-कारण-जन्य हैं, क्योंकि ये कार्य हैं—जैसे वस्त्रादिक। अतः उनका बुद्धिमान् निमित्त कारण है ईश्वर। परन्तु यह प्रतिपादन सही नहीं है, क्योंकि यह पक्ष व्यपकानुपलम्भ (शरीरादि कार्य का बुद्धिमान्निमित्त कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेक का अभाव) से बाधित है और इसलिए कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।[१५]

ईश्वर कर्तृत्व का निराकरण अनेक हेतुओंपूर्वक जैन, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शनों ने किया है। इनके अतिरिक्त अरस्तू इत्यादि विद्वान[१६] भी इसका सहेतुक विरोध करते हैं। गीता में भी इस अवधारणा का खण्डन दृष्टिगोचर होता है। उनके अनुसार "परमात्मा न लोक का कर्त्ता है, न कर्म अथवा कर्मफलों का संयोग कराने वाला है। प्रकृति ही इस प्रकार की प्रवृत्ति करती है। वह पाप-पुण्य का अपहरण भी नहीं करता, ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पड़ा है, इसलिए प्राणी विमुग्ध बन जाते हैं।"[१७] पुराणों में यद्यपि कर्तृत्व विवेचित है फिर भी सांख्य द्वारा प्रभावित होने से उसमें अकर्तृत्व भी परिलक्षित होता है। अन्तिम सत्ता अर्थात् परमात्मा को प्राप्त मुक्तात्माओं को अकर्त्ता-अभोक्ता बताया गया है। जगत् में आत्मा स्वकृत कर्मों को ही भोगता है एवं जगत्अनादिता से भी ईश्वर कर्तृत्व की धारणा खण्डित होती है।[१८]

शिव पुराण में सब कुछ करने में समर्थ परमात्मा-शिव, पशुओं को अनायास ही क्यों नहीं मुक्त कर देते? इसके उत्तर में जो कुछ कहा गया है, उससे परमात्मा-शिव की निर्बलता और पशु अथवा आत्मा की प्रकृति की प्रबलता सिद्ध होती है। अतः उसको जगत्-कर्मफलों से दूर रहते हुए साक्षीमात्र कहा है।[१९]

पुराणों में जगत् के सञ्चालक आदि जो भी शक्तियाँ बताई गई हैं, वस्तुतः वे कर्मबंधन से मुक्त नहीं हैं[२०] तथा राग-द्वेष से युक्त हैं, अतः परमात्म-तत्त्व की उनसे भिन्नता बताते हुए अनामातत्त्व का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है, जो पूर्णमुक्त

आत्मस्वरूप है तथा किसी भी प्रकार से कर्त्ता एवं भोक्ता नहीं है। जगत् में कर्तृत्व युक्त ईश्वर की पुराणों में सगुणता-साकारता भी व्यक्त है, परन्तु मुक्त आत्मा सदैव निराकार ही रहता है।

ईश्वर का स्वरूप

जैनाचार्यों ने स्पष्टतः ईश्वर का स्वरूप निर्धारण करते हुए एवं किसी भी प्रकार का हठाग्रह न रखते हुए परमात्मा का वर्णन इस प्रकार किया है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥[२१]

अर्थात् भवरूप अंकुर को उत्पन्न करने वाले रागादि बीज जिनके नष्ट हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मा या विष्णु या हर अथवा जिन जो भी हो, उन्हें नमस्कार है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥[२२]

अर्थात् मोक्ष का मार्ग बताने वाले, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाले, विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले को, उन गुणों को प्राप्त करने के लिए वन्दन करता हूँ।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥[२३]

मेरा न तो महावीर में पक्षपात है और न ही कपिलादिक में द्वेष है। जिसके वचन युक्तियुक्त हैं, उनका ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त पद्यों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि नाम के प्रति ज्ञानी उपासक का कोई आग्रह नहीं होता। यहाँ तो मात्र निष्कर्मता, अर्हता, वीतरागता आदि गुणों के धरातल पर जो भी खड़ा हो, वह ईश्वर है।

वस्तुतः जैन संस्कृति के अनुसार सदा के लिए भक्त ही बने रहना इष्ट नहीं है, बल्कि वही एक दिन भगवान् बन जाता है। इसके अनुसार यह सिद्धान्त है कि मनुष्य से भगवान् बनता है, भगवान् से मनुष्य नहीं। जो भी प्राणी त्याग और तपस्या के मार्ग पर चलकर अपने आत्मविकास की परम उत्कर्षता पर पहुँच जाता है—परमेष्ठी बन जाता है, उसे ही अलौकिक ऐश्वर्य का भोक्ता होने से ईश्वर कहा जाता है। आत्मा के परमोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेने से वही परमात्मा कहलाता है। अर्थात् कर्मरूपी आवरण से बद्ध आत्मा जब पुरुषार्थ द्वारा अपने को कर्मरहित कर लेता है तथा उसका शुद्ध स्वरूप प्रगट हो जाता है तब वही परमात्मा कहलाता है।[२४] अन्तर मात्र कर्ममल का है। अशुद्ध स्वर्ण तथा शुद्ध स्वर्ण में जिस प्रकार अशुद्धि का अन्तर

रहता है अर्थात् अशुद्धि हटने पर वही स्वर्ण शुद्ध बनता है, वैसे ही परमात्मदशा में आत्मतत्त्व तो वही होता है, परन्तु उसका आच्छादक (आवरण) नष्ट हो जाता है।

मुक्तात्मा के परमात्मत्व को अर्थात् जीव के शिवत्व को पुराणों में भी स्वीकृत किया गया है। "जहाँ तक आत्मा को शिवस्वरूप मानने का सिद्धान्त है, दोनों महापुराण (शिव, कूर्म) एकमत है। दोनों यह मानते हैं कि अहंकार और अविवेक के कारण ही आत्मा दुःख को भोगता है। अविवेक की निवृत्ति से जीव शुद्ध-बुद्ध परमात्म शिव ही हो जाता है।"[२५] इस प्रकार आत्मा द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति को पुराणों में भी माना गया है। परमात्मा के वर्णन के अन्तर्गत वीतराग, कर्म-रहित, जन्ममरणातीत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी इत्यादि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।[२६]

जैन दर्शन में गुणों की पराकाष्ठा युक्त परमात्मा को उपास्य रूप में देखा गया है, देव-गुरु-धर्म इन तीनों तत्त्वों की आराधना (उपासना) को अपने गुणों की प्राप्ति का अवलम्बन बताया गया है। वैसे ही पुराणों में ईश्वर को उपास्य कहा है, उसकी उपासना एवं उपासकों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

परमात्माओं को जैन दर्शन में अनन्त माना गया है। फिर भी वहाँ उनमें भेद नहीं है। ज्ञानादि गुणों की दृष्टि से सभी एक समान हैं। पुराणों में मुक्तात्माएँ एक नहीं, अनेक मानी गई हैं।

जैन दर्शन में परमात्मा सादि है या अनादि, यह एकान्तदृष्टि से निर्णीत नहीं किया गया है। जब जगत् अनादि है तो यह भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि अनादिकाल से अनन्त आत्माएँ परमात्म पद को प्राप्त होती रही हैं अर्थात् कोई ऐसा काल नहीं था, जिस समय परमात्मा नहीं था। इस अपेक्षा से हम इसे अनादि कह सकते हैं, परन्तु व्यक्तिभेद की अपेक्षया परमात्मा को सादि भी कहा गया है, क्योंकि आत्मा अपने पुरुषार्थद्वारा मुक्त होता है, वह नित्य मुक्त नहीं। अर्थात् अनादिकाल से मुक्त नहीं है, साधनमुक्त है। अतः एक सिद्ध के अपेक्षा से वह सादि अनन्तकाल है, किन्तु समस्त सिद्धों की अपेक्षा से अनादि अनन्तकाल है।[२७]

पुराणों में जहाँ-जहाँ भी मुक्ति का वर्णन है, उससे मुक्तात्माओं का सादित्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है एवं अनादि का विशेषण तो लगभग सभी जगह परमात्मा के लिए प्रयुक्त है। परमात्मा के सादि-अनादित्व में तो फिर भी विभिन्न दर्शनों में विवाद हो सकता है, परन्तु उसके अनन्तत्व अर्थात् जिसका कभी अन्त नहीं आता, ऐसे शाश्वतरूप के लिए तो लगभग सभी सहमत हैं।

परमात्मा के दो रूप—साकार, निराकार

जैनदर्शन में मुक्ति के दो रूप हैं—भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। भावमोक्ष की अवस्था के प्रतीक अरिहंत होते हैं जो साकार-सशरीरी होते हैं, उन्हें भाषकसिद्ध अर्थात् बोलने वाले—उपदेश देने वाले सिद्ध भी कहा जाता है। द्रव्यमुक्त सिद्ध वे होते हैं जो निराकार तथा अभाषक होते हैं। जो सर्व कार्य सिद्धकर, सर्व कर्म-कलंक से रहित निजात्म-स्वरूप सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) रूप पद को प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। इन्हें पौराणिक भाषा में जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त कहा गया है।

साकार परमात्मा (अरिहन्त/जीवन्मुक्त)

अरि अर्थात् राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के कारण "अरिहन्त" कहलाते हैं। सुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूजनीय होने से "अर्हन्त" और कर्मांकुर को समूल नष्ट करने के कारण "अरूहन्त" कहलाते हैं।

छद्मस्थ अवस्था समाप्त होने पर यह अवस्था प्राप्त होती है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण के नष्ट होने से वे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो जाते हैं तथा अन्तराय कर्म का क्षय होने से अनन्त शक्तिमान होते हैं। उनके शेष चार अघाति कर्म रहते हैं, परन्तु वे शक्तिरहित होते हैं। जैसे भुना हुआ बीज अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार ये कर्म अरिहन्त की आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। आयु के अन्त में ये भी नष्ट हो जाते हैं।[२८]

अरिहंतों में तीर्थंकर भी आ जाते हैं। अरिहंतों के दो प्रकार हो सकते हैं—सामान्य केवली तथा तीर्थंकर। घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान—केवलदर्शन का उपार्जन दोनों ही करते हैं, वीतरागता एवं ज्ञान की दृष्टि से समान होते हुए भी अन्तर यह है कि तीर्थंकर स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भी विशिष्ट योग्यता रखते हैं। वे जन्म से ही कुछ विलक्षण होते हैं, यथा—उनके शरीर पर एक हजार आठ लक्षण होते हैं तथा वे ८ महाप्रतिहार्य, ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण इत्यादि अनेक विशेषताओं से युक्त होते हैं, जो सामान्य केवली में नहीं होती हैं।

अरिहन्त को सदेहमुक्त, जीवन्मुक्त इत्यादि कई नामों से सम्बोधित किया है।[२९] राग-द्वेष का सर्वथा अभाव (क्षय) हो जाने से वीतरागी अर्हत् सारे विश्व को, सर्वप्राणियों को आत्मवत् मानते हैं, किसी पर शत्रु-मित्र भाव न होने से पूर्ण समदर्शी होते हैं।[३०] जगत् की कोई भी लालसा उन्हें नहीं होती है। वे इन अठारह दोषों से मुक्त होते हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान, मद, क्रोध, माया, लोभ, रति, अरति, निद्रा, शोक, अलीक (झूठ), चौर्य, मत्सरता, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीड़ा एवं हास्य।

पुराणों में उपर्युक्त वीतराग-अवस्था के समान ही एक अवस्था जीवन्मुक्त अवस्था मानी है। पुराणों के अनुसार—ब्रह्मवेत्ता परमार्थरूप से जीवन्मुक्त हो जाता

है।[३१] योगी पूर्ववत् मानापमान, जीवन-मरण, लाभालाभ आदि में समत्वधारक होता है।[३२] ध्यानादि के द्वारा उसके संचित एवं प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है तथा वह नवीन कर्म का बंध नहीं करता।[३३] उसका स्वरूप विभिन्न पुराणों में वर्णित है। भागवत पुराण के अनुसार—"जिसका शरीर किसी दुष्टजन से पीड़ित हो अथवा पूजित हो तो भी मन दुःख या सुख से विकार को प्राप्त न हो, उसको मुक्त समझना चाहिए। जो समदर्शी मुनि किसी की निन्दा-स्तुति नहीं करता है, लौकिक व्यवहार से पृथक् रहता है, कर्मों से उदासीन रहता है तथा जड़ की भाँति विचार करने वाले को मुक्त समझना चाहिए। इससे विपरीत को बद्ध समझना चाहिए। नारदीय पुराण में भी इस वीतरागता, संयम, समत्व, आत्मज्ञान आदि का वर्णन है।"[३४] अविद्या से रहितता एवं उस आत्मा की सर्वज्ञता भी बताई गई है। शुद्ध विद्या से सम्बद्ध आत्मा सर्वज्ञ हुआ करते हैं। आत्मा की सर्वज्ञता सर्वप्रथम यहीं प्रकाशित होती है। यही कारण है कि यह शुद्ध विद्यातत्त्व के नाम से अभिहित की जाती है अथवा इस श्रेणी पर पहुँच कर पदार्थों का यथार्थ (ठीक) सम्बन्ध अनुभूत होता है।[३५]

मुक्ति के प्रकार वर्णित करते हुए पुराणों में पाँच प्रकार की मुक्ति बताई गई है।[३६] यह क्रममुक्ति इस प्रकार है—

१. कर्म देह के वशीभूत होने पर शिवलोक में वास मिलता है, उसी वास को सालोक्य मुक्ति कहा है।
२. तन्मात्राओं के बंधन से छूटने पर सामीप्य मुक्ति मिलती है। ईश्वर से निकटता प्राप्त करना सामीप्य मुक्ति है।
३. बुद्धि के मल के नष्ट हो जाने पर जब वह निर्मल हो जाती है, जब चित्त के धर्म चांचल्यादि भी नष्ट हो जाते हैं, तब सान्निध्य मुक्ति की प्राप्ति होती है।
४. अन्त में सामरस्य की परमावस्था ही सायुज्यावस्था (सायुज्यमुक्ति) है।
५. पाँचवीं ज्ञानमयी कैवल्य नामक मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह उस शिवात्मक ज्ञान से ही मिलती है। यह सर्वश्रेष्ठ मुक्ति है। इस मुक्ति को प्राप्त करने से भवभ्रमण समाप्त हो जाता है अर्थात् यह प्राप्त होने पर आत्मा पुनः संसार में नहीं लौटता। कैवल्यमुक्ति की प्राप्ति सम्पूर्ण वासना क्षय होने पर ही होती है। कैवल्य में तन्मयी भाव रहता है, उसी को पूर्णत्व कहते हैं।[३७] मत्स्य पुराण में लिखा है—ध्याता योगी की योगाग्नि अत्यन्त दीप्त हो जाती है और फिर वह देवों को भी दुर्लभ परम कैवल्यपद को प्राप्त करता है।[३८]

निराकार परमात्मा

जैन दर्शनानुसार वही (अरिहंत) आत्मा शरीर छोड़ देने के बाद पूर्ण परमात्म

पद को प्राप्त कर सिद्ध संज्ञा को ग्रहण करती है।[३९] सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध रूप आत्मा की पर्याय मोक्ष कहलाती है। उववाईसूत्र में सिद्धि अथवा मोक्ष-स्थान के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि सिद्ध भगवान् लोक से आगे, अलोक से लगकर स्थित होते हैं (लोकाग्र भाग पर स्थित है)।[४०] वहाँ तक आत्मा के पहुँचने का कारण भी स्पष्ट किया गया है—जैसे पाषाण आदि पुद्गल का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है, वायु का स्वभाव तिरछी (तिर्यक्) गति का है, वैसे ही आत्मा का ऊर्ध्वगति स्वभाव है। जब तक वह कर्मबद्ध रहता है, तब तक उसमें गुरूता (भारीपन) रहती है, अतः वह ऊर्ध्वगति नहीं कर पाता तथा जिस प्रकार तुम्बा स्वभावतः जल के ऊपर तैरता है। परन्तु मृत्तिका के लेप से भारी होने पर वह ऊपर नहीं आ सकता एवं लेप हटते ही वह ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होने पर अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है तथा एक ही समय में वह लोकाकाश के अन्तिम छोर तक पहुँच जाता है। आगे अलोकाकाश में गति का निमित्त—कारण धर्मास्तिकाय न होने से वहीं मुक्तात्मा की गति रुक जाती है।[४१] यहाँ इस मान्यता का निराकरण हो जाता है कि मुक्तात्मा ऊपर ही ऊपर जाता रहता है।

पुराणों के अनुसार जीवन्मुक्त योगी ही शरीर के छूट जाने पर विदेहमुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त अर्थात् पूर्णमुक्त आत्मा जिसका अनिर्वचनीय स्वरूप होता है, वह निराकार होता है।[४२]

पूर्णमुक्त (द्रव्यमुक्त) आत्मा शुद्ध स्वरूपावस्था है। इस पर इन दृष्टियों से विचार किया गया है—

१. भावात्मक, २. अभावात्मक तथा ३. अनिर्वचनीय[४३]

भावात्मक दृष्टिकोण

जैन दर्शनानुसार मुक्त अवस्था में समस्त बंधनों का अभाव हो जाने से आत्मा के निज गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाते हैं। समस्त (आठों) कर्मों का क्षय हो जाने से अष्टगुण प्रकट हो जाते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, अमूर्तिकपन, अगुरूलघु, अटल, अवगाहना तथा निराबाध।

पुराणों में भी आत्मस्वरूप का पूर्णरूप से प्रकट होना अर्थात् चैतन्य पर आच्छादित आवरण के हटने से आत्मा का निज गुण (स्वरूप) प्रगट होना ही परमात्मा होना है, इसलिए मुक्तात्मा को शुद्ध स्वरूप वाला कहा है। आत्मगुण पूर्णतया प्रगट होते ही आत्मा साक्षात् परमात्मस्वरूप हो जाता है। यह सत्यज्ञान, अनन्त परानन्द एवं परः ज्योतिस्वरूप, अप्रमेय, अनाधार तथा अविकार है।[४४]

अभावात्मक दृष्टिकोण

मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण करते हुए जैनागम आचारांग में लिखा

है—समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव है; अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डलाकार और न लम्बा है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त, श्वेतवर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगन्धवान् और दुर्गन्धवान् भी नहीं है। वह तिक्त, कटुक, अम्ल, खट्टा और मीठा रस वाला भी नहीं है। न वह कठोर, कोमल, गुरू (भारी), लघु (हल्का), शीत, उष्ण, स्निग्ध या रूक्ष है। वह स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी नहीं है।[४५]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है—"मोक्ष दशा में न सुख है, न दुःख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म-मरण है। इन्द्रियाँ, उपसर्ग, मोह, व्यामोह, निद्रा, चिन्ता नहीं है। न आर्त तथा रौद्र विचार ही हैं। वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (शुद्ध) विचारों का भी अभाव है।"[४६]

सिद्ध कर्ममुक्त होने से जन्म-मरण, रोग-शोक-सन्ताप आदि सभी से रहित हैं। आत्मस्वरूप से सब एक समान हैं। जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनन्त सिद्ध हैं और जहाँ अनन्त सिद्ध हैं, वहाँ एक सिद्ध है। वे एक-दूसरे को अवगाहन करके रहे हुए हैं।[४७]

जैन दर्शन वर्णित उपर्युक्त स्वरूप के समान पुराणों में अनामातत्व का वर्णन दृष्टव्य है, जिसका पर्याप्त साम्य है। जैसाकि शिवपुराण में उल्लिखित है—

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेे खण्डज्ञानरूपी निरंजनः॥
निर्गुणो निरुपाधिश्च निरंजनोऽव्ययस्तथा।
न रक्तो न च पीतश्च न श्वेतो नील एव च॥[४८]

अर्थात् (शिव के विश्वातीत रूप को अनामातत्त्व कहते हैं) वह नामरूप से परे है, परात्पर है, उसी को निरंजन कहा गया है; किन्तु कुछ सम्प्रदाय निरंजन को भी जगदुत्पत्ति का कारण मानते हैं। वास्तव में वह अलख है, निरंजन है, निरुपाधिक है और निर्गुण है, उसका सृष्टि-उत्पाद से कोई सम्बन्ध नहीं। सहजावस्था का रूप है। वर्ण जो त्रिगुण के द्योतक हैं—रक्त, पीत, श्वेत, नील—उसमें कोई वर्ण नहीं है। न तो वह स्थूल है, न कृश ही।[४९]

काल, कला, विद्या, नियति, राग एवं द्वेष कुछ भी नहीं होता, इनका किसी के साथ अभिनिवेश नहीं है। न तो इनका कोई कर्म एवं कर्मविपाक ही होता है। कर्म के फल सुख-दुःख से भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कालत्रितय गोचर आशय, कर्मसंस्कार, भोग तथा भोग-संस्कार से भी ये प्रभावित नहीं होते। जन्म-मरण, कांक्षित-अकांक्षित, विधि-निषेध, मुक्ति-बंधन आदि से भी इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है।[५०]

अनिर्वचनीय दृष्टिकोण

व्यावहारिक दृष्टि से उस (निराकार परमात्मा) को उपलक्षित भले ही किया जाता है, परन्तु वस्तुतः वह अनिर्वचनीय है, इसीलिए आचारांग सूत्र का कथन है—

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने।

अर्थात् शुद्ध आत्मा (सिद्ध) का वर्णन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं है। समस्त स्वर वहाँ से लौट आते हैं। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है। मति (बुद्धि) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। केवल सम्पूर्ण ज्ञानमय आत्मा ही वहाँ है। किसी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता। उसके लिए किसी पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता, समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय सत्-चित्-आनन्दमय सिद्ध स्वरूप है।[५१]

पुराणों में भी अनामातत्त्व के अनिर्वचनीय स्वरूप को इसी प्रकार से बताते हुए कहा है—यह एक ऐसी सत्ता है जो वाणी और मन का भी विषय नहीं हो सकती, उसका न कोई नाम है और न कोई रूप ही। सत्य तो यह है कि उसकी कोई परिभाषा भी नहीं दी जा सकती। श्रुति भी चकित होकर उसकी सत्ता स्वीकार करती है।

यतो वाचा निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
अभिधत्ते स चकित यदस्तीति श्रुतिः पुनः॥[५२]

लोक, अध्वा और तत्त्व से परे जो है, वही परात्पर है, अनामा है। अनामातत्त्व अनुत्तररूप, निरतिशय, अलक्षणता, अनिर्देश्य, अवांगमनसगोचर, सदा एकरस, अनिर्वचनीय है—उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह अनुभूति-गम्य है, स्वात्मप्रकाश है। शास्त्रों के कथन से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। महेश्वर, शिव, सदाशिव, ईश्वर से ऊपर की वस्तु है। जिसके ऊपर और कोई तत्त्व नहीं है। जो कालक्रम से भी परे है। परिपूर्ण होने के कारण ही वह अनामा है।[५३]

पुराणवत् ही शुद्धात्मा के स्वरूप को अनिर्वचनीय बताते हुए अनेक उपनिषद् भी यही प्रतिपादित करते हैं कि उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्ममलरहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।[५४]

जैन दर्शन के समान पुराणों में उस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा पुनः संसार में नहीं लौटता, यह बताते हुए शिवपुराण का कथन है—मुक्त होने पर आत्मा ब्रह्म में विलीन नहीं होता है, किन्तु उसके समान हो जाता है। उसे शिव-साधर्म्य की उपलब्धि होती है। इसकी प्राप्ति से प्राणी जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। उसके पुण्य-पाप सभी विनष्ट हो जाते हैं। वह निरंजन हो जाता

है। संसार के मल आदि पाश भी समाप्त हो जाते हैं। आत्मा संसार से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है।[५५]

इस कथन से द्वैत-भाव भी स्पष्ट होता है। इसके अनुसार जैन दर्शन के समान ही वह आत्मा भी जो मुक्त होती है, स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है।

उस परमात्मा का जगत् के प्रपंचादि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैन दर्शन के इस आशय से साम्य रखता हुआ कूर्मपुराण का कथन है—"यह न किसी कर्म को करने वाला है तथा न कर्मों के बुरे-भले फलों को भोगने वाला ही है। यह न प्रकृति है और न पुरुष ही है। न यह माया है और परमार्थ स्वरूप से यह प्राण भी नहीं है। जिस तरह से प्रकाश और तम का एकत्र सम्बन्ध कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ करता है, उसी भाँति इस प्रपंच का और परमात्मा का ऐसा ऐक्य सम्बन्ध नहीं होता। यह इसी भाँति भिन्न है जैसे लोक में छाया और आतप परस्पर में एक-दूसरे से विलक्षण ही होते हैं और कभी दोनों एकत्र नहीं रह सकते हैं।"[५६]

इस प्रकार समस्त भौतिकताओं से उसकी भिन्नता स्पष्ट की गई है।

निष्कर्षतः जैन दर्शन में वर्णित परमात्मा की तुलना पुराणों में वर्णित ईश्वर से न होकर मुक्तात्मा से हो सकती है, क्योंकि वहाँ बहुशः ईश्वर के साथ सृष्टि कर्तृत्व को जोड़ा गया है, किन्तु मुक्त आत्मा (साधनमुक्त आत्मा) के स्वरूप के साथ बहुत-सा साम्य है। अतः उस मुक्तात्मा अथवा शुद्धात्मा की तुलना जैन दर्शन-वर्णित सिद्ध परमेष्ठी से हो सकती है। उसके अकर्तृत्त्व का प्रतिपादन जैन दर्शन के समान ही पुराणों में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार से जैन दर्शन में आत्मा से परमात्मा बनने की अवधारणा बताते हुए कर्म-क्षय होने पर परमात्मा दशा की प्राप्ति बताई गई है, उसी प्रकार से अनादि कर्ममलबद्ध आत्मा के कर्मनाश के पश्चात् मुक्त होने की योग्यता पुराणों में स्वीकृत की गई है एवं जैन दर्शन के समान ही पहले सदेहमुक्ति (जीवन्मुक्ति) तथा बाद में विदेहमुक्ति का वर्णन भी दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अनावृत आत्मस्वरूप ही जैन दर्शन एवं पुराणों में परमात्मा है।

ईश्वर के सम्बन्ध में लगभग सभी दर्शनों में थोड़ा बहुत वैभिन्न्य तो है ही फिर भी उनमें मुख्यतः ईश्वर को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप माना है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार—इस परम-पवित्र, परिपूर्ण, परिशुद्ध परमात्मा को ही विविध साम्प्रदायिक दृष्टि वाले अपनी-अपनी मान्यतानुसार पूजा करते हैं। क्या धवलवर्ण का शंख विविध काचकामलादि रोग वाले को अनेक प्रकार के रंगों वाला नहीं दिखाई देता?[५७] वस्तुतः वह अलग-अलग रूपों वाला नहीं है, शुद्ध तथा पूर्ण होने से ही वह परमात्मा कहलाता है।

□ □ □

सन्दर्भ-सूची

१. मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म 'सृष्टिवाद और ईश्वर', पृ. ४८७

२. सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयंप्रभुः ॥ —विष्णु पुराण १.२.६६-६७

३. लेखकत्रय 'तीर्थंकर महावीर', पृ. ३

४. सर्गकाले तु____
तस्मात्प्रधान____यथाप्रधानेन____
विकुर्वाणानि चाम्भांसि____रजोगुण____
सृष्टं च पातानुयुगं________

—पद्मपुराण, द्वितीय खण्ड, ब्रह्माण्ड उत्पत्ति ५,६,२७-२८ २.३.३२-३३

५. (अ) विष्णोः सकाश____ —विष्णुपुराण १.१.३१
(ब) गरुड़पुराण ४.२-११ आदि
(स) श्रीमद् भागवत ८.३.२३ ३.५.२३-२६, ३.१०.११
(द) नारदीयपुराण इत्यादि

६. —त्रिनाभि चक्रमजरमनवर्णम् ॥
—द्वादशारं न हि तज्जराय ॥
—सनादेव न शीर्यते सनामि ॥

—ऋग्वेद मं. १०, सूक्त १७३.१,१,१३

७. अथर्ववेद, कां. १०.७.४३

८. यदा सर्वमिदं नासीत् क्वास्था तत्र गम्यताम्
प्रजापतेः क्व वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ॥
ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति
उपलब्धेर्विना चेतत् कथमध्यवसायताम् ॥
प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते
शरीरादेर्विना चान्यत्कथमिच्छापि सर्जने ॥
शरीराद्यतस्य स्यात्तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता
तद्वदन्यप्रसंगोऽपि नित्य यदि तदिष्यते ॥
प्राणिनां प्रायो दुःखाच्च सिसृक्षाऽस्य न युज्यते ॥
अभावाच्चानुकम्पानां नानुकम्पास्य जायते
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पा प्रयोजितः ॥
साधनं चास्य धर्मादि तदा किंचिन्न विद्यते
न च निस्साधनः कर्त्ता कश्चित्सृजति किंचन ॥

संहारेच्छापि नैतस्य भवेदप्रत्ययात्मनः
न च कैश्चिदसौ ज्ञातुं कदाचिदपि शक्यते ॥
न च तद्वचने नैव प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता
असृष्टावपि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्य प्रकाशनात् ॥

—कुमारिलभट्ट भट्ट 'श्लोकवार्तिक' अ. ३ श्लो. ४५-४९, ५२, ५०, ५७-६०
(क्षुल्लक निजानन्दजी म. "ईश्वर-मीमांसा" पृ. ३९७-३९९)

९. (अ) कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः काल स्वभावश्च ॥ —ईश्वर कृष्ण 'सांख्यकारिका'
(ब) 'ईश्वर-मीमांसा' पृ. ५३७

१०. डॉ. राधाकृष्णन "भारतीय दर्शन" पृ. २६७ (प्रथम खण्ड)

११. न चेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावोऽपि युज्यते
वदिच्छा वाऽनभिव्यक्ता क्रिया हेतुः कृतोऽज्ञवत् ॥
—आचार्य विद्यानन्दि "आप्तपरीक्षा" श्लो. १२

१२. ज्ञानशक्त्यैव निःशेष कार्योत्पत्तौ प्रभुः किलः
सदेश्वर इति ख्यातेऽनुमान निदर्शनात् ॥ —वही १३

१३. निग्रहानिग्रहौ देहं स्वं निर्मायान्यदेहिनाम्
करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः ॥ —वही १८

१४. देहान्तरादिना तावत् स्वदेहं जनयेद्यदि
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः
तथा च प्रकृत कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥ —वही १९-२०

१५. वही

१६. A. "God is in no sense the creator of the Universe. All imperishable things are actual Sun, Moon, while visible heaven is always active, there is no time that they will stop. If we attribute these gifts to God, we shall make him either an incompetent judge or an unjust one and it is alien to his nature. Happiness which God enjoys is as great as that which we can enjoy sometimes. It is marvellous."

Aristole

B. The first question, which arises in connection with the idea of creation is, why should God make the world at all? One symstem suggests, that he want to make the world, because it Rleased him to do so. Another, that he left lonely and wanted company. A third, that he wanted to create beings who would praise his glory and worship. A fourth, that he does it in sport and so on.

Why should it please the creator to create a world, where sorrow and

pain are the inevitable lot of the majority of his creatures? Why should he not make happier beings to keep him company?

–Champat Rai 'Key of Knowledge' P. 135

("Jain Shasan" Bharatiya Jnana Pith Kashi, 1944) P. 33, 37

१७. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु:
न कर्मफलसंयोगे स्वभावस्तु प्रवर्तते।
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैवं सुकृतं विभु:
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तव:॥ —गीता ५.१४-१५

१८. डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय 'वैष्णव पुराणों में सृष्टि वर्णन'
पं. बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित भूमिका पृ. १५

१९. द्वौ सुपर्णौ च सयुजौ समानं वृक्षमास्थितौ
एकोत्ति पिप्पलं स्वादु परोऽनश्नन् प्रपश्यति॥ —शिवपुराण—वा.स.पू.खं. ६.३०
("शिवमहापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना"से)

२०. ब्रह्मा येन कुलाल......कर्मणे॥ —गरुड़ पुराण (१) पृ. ३८५, श्लो. १५

२१. आचार्य हेमचन्द्र रचित श्लोक

२२. तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण

२३. आचार्य हरिभद्रसूरि रचित श्लोक

२४. सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय
कर्म मैल को आंतरो, बूझे विरला कोय॥

२५. कर्मबद्धो भवेज्जीव: कर्ममुक्तो भवेत् शिव:।
मुक्त: शिवसमो भवेत्॥ —शिव पुराण ७.१.३२.२२

२६. वही ७.२.६. १-२

२७. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया विय
पुहुत्तेण अणाईया, अपज्जवसिया विय॥ —उत्तराध्ययन ३६.६५

२८. श्री अमोलक ऋषिजी म. —'जैनतत्त्व प्रकाश' पृ. ८

२९. स्थानांग २२९

३०. उत्तराध्ययन १९.८९-९२ ३२. १०६-१०९

३१. लिंग पुराण (२) पृ. ३९, श्लो. ७१, ७३, ७४

३२. (अ) मार्कण्डेय पुराण ३८.१-२, २३
(ब) भागवत पुराण ११वाँ स्कन्द

३३. मार्कण्डेय पुराण ३८.६-८

३४. "He should neither be a source of fear to others nor be apprethnsive of fear from others. He should renounce all wordly desires. He should not have ill-will against any body and should bring the movement of his unruly flesh under subjection. He should practise non-injury and non-violence to all beings by his body, mind and speech. He should purge his mind of

sensual desires, anger and malignant malice. He should bring about the closes association between the mind and the soul. He should not be glad at heart by hearing pleasant words or seeing unpleasant sight. He should treat praise and censure, gold and iron, pleasure and pain, summer and winter, good and evil, agreeable and disagreeable, life and death as equal." .....A lamp illumines the house enveloped in darkness. In an identical manner enlightenment serves to reveal the supreme self."

—Dr. S.S. Upadhyaya 'A Philosophical study of the Naradiya Puran' Chapter VI P. 151-152

३५. शिवपुराण ६.१६.७२ ४.१८.१८; ४.४१.७,१४,१६

३६. शिवपुराण—विधे.स.१८ अ.

३७. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय "शिव पुराण में शैवदर्शन तत्त्व', पृ. १३६

३८. ध्यायतस्तत्र मां नित्यं योगाग्निर्दीप्यते भृशम्
कैवल्यं परमं याति देवानामपि दुर्लभम्॥ —मत्स्य पुराण (२) पृ. १४८. श्लो. ५९

३९. स्थानांग २६८

४०. अलोए पडिहया सिद्धा, लोयागे य पइट्ठिया॥—उववाई सूत्र २;
—उत्तराध्ययन ३६.५७

४१. "पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बंधच्छेदात् तथा गतिपरिणामाच्च"
"आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवद् एरण्डबीजवद् अग्निशिखावच्च"
'धर्मास्तिकायाभावात्' —तत्त्वार्थसूत्र १०.६-७-८

४२. शिव पुराण २.१.६.११-१२ ४.४१.१४

४३. सागरमल जैन "जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ. ४२०

४४. सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्द परम्महः
अप्रमेय-मनाधारमविकारमनाकृतिः। —शिव पुराण २.१.६.११,१२

४५. आचारांग ५.१.६.१७१

४६. आचार्य कुन्दकुन्द —'नियमसार' १७८-१७९

४७. जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का
अण्णोण्ण समोगाढा, पुट्ठो य सव्वे य लोगंते॥ —उववाई सूत्र ९

४८. शिव पुराण २.१.६.११-१२

४९. जितेन्द्रचन्द्र भारतीय "शिव पुराण में शैवदर्शन तत्त्व', पृ. २०२

५०. शिव पुराण ७.२.६.१,२,८,१०,१९

५१. आचारांग १.५.६.१७१

५२. शिव पुराण ४.४१.१४ २.१.६.११-१२

५३. 'शिव पुराण में शैवदर्शन तत्त्व', पृ. २०२

५४. (अ) "यतो वाचा निवर्तन्ते मनसा चेन्द्रियैः सह
अप्राकृता परा चैषा विभूतिः पारमेश्वरी॥

सेवैह परमं धाम, सेवैह परमा गतिः
सेवैह परमा काष्ठा, विभूतिः परमेष्ठिनः" —शिवपुराण वा.स.उ.खं. ४.७६-७७

(ब) केनोपनिषद् १.३
कठोरपनिषद् १.१५
बृहदारण्यक ब्राह्मण ८.८
माण्डुक्योपनिषद् ७
तैतिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाक ४
ब्रह्मविद्योपनिषद् ८१-९१

५५. (अ) मुक्तः शिवसमो भवेत् —शिवपुराण ७.१.३२.२२
(ब) शिवसाधर्म्यमासद्य न भूयो विनिवर्तते —वही ७.२.१०.१४
(स) तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूयः
निरञ्जनः परमुपैति साम्यम्। —वही ७.२.५.३७
(द) ततः स्यान्मुक्तसंसारः —वही ७.१.३२.२२

५६. न च कर्त्ता न भोक्ता वा न च प्रकृतिपौरुषौ॥
न माया नैव च प्राणा न चैव परमार्थतः
यथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नोपपद्यते॥
तद्वदैक्यं न सम्बन्ध प्रपंचपरमात्मनोः
छायातपौ यथा लोके परस्पर-विलक्षणौ॥ —कूर्मपुराण (२) पृ. ४९, श्लो. ९-१२

५७. त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥ —आचार्य सिद्धसेन कृत 'कल्याणमंदिर' स्तोत्र, श्लो. १८

□□□

१०

उपसंहार

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान संस्कृति है। विभिन्न दार्शनिकों ने आध्यात्मिक धरातल पर अपने-अपने दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है। उनके दृष्टिकोण अथवा चिन्तन ही कालांतर में दर्शन कहलाए। दर्शनों में वैभिन्न्य का कारण यही चिंतन है। वस्तु (तत्त्व) एक ही होती है, परन्तु उनको देखने की अलग-अलग दृष्टियाँ हो सकती हैं। मात्र अपनी दृष्टि के अनुसार ही निर्णय कर लेना एकांगी होता है। उसकी सत्यता विशेष परिस्थिति एवं विशेष दृष्टि से ही मानी जा सकती है। वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता है। निम्नलिखित दृष्टांत से इसे पूर्णरूप से समझा जा सकता है।

एक जगह पाँच अंधे बैठे थे, उधर से एक हाथी निकला। उन्होंने हाथी को स्पर्श करके देखा। फिर वे आपस में चर्चा करने लगे; जिसने हाथी के पाँव को छुआ उसने कहा—हाथी खंभे जैसा होता है। सूंड को स्पर्श करने वाले ने हाथी को कुर्ते की बाँह जैसा बताया। पूँछ को छूने वाले ने झाड़ू जैसा, कान को छूने वाले ने सूप जैसा, तथा पीठ को छूने वाले ने चबूतरे जैसा बतलाया। प्रत्येक अपने को सत्य सिद्ध करते हुए दूसरे को झुठला रहा था। अंत में कोई आँखों वाला व्यक्ति आया, जिसने उनका समाधान करते हुए कहा कि तुम सभी एक-एक अवयव के अनुसार हाथी का आकार बता रहे हो। यदि तुम सभी के कथनों का समन्वय किया जाए तो सभी सच्चे हो सकते हैं, परन्तु स्वमत को तानते रहे तथा दूसरे को झुठलाते रहने से तुम ही असत्य सिद्ध हो जाओगे।

इस दृष्टान्त को प्रस्तुत करने का आशय तथा दर्शनों में जो मतभेद पाया जाता है, उसका कारण भी यही है कि प्रत्येक दर्शन अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मानता है, जिससे अन्तिम निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि आत्मा, परमात्मा तथा द्रव्य सभी के लिए वही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं; परन्तु इनके विषय में सभी दर्शनों में वैमत्त्य अवश्य हैं। प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं, जिनके आधार पर उसे लक्षित किया जा सकता है; परन्तु उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एकांगी दृष्टिकोण

द्वारा पूर्णज्ञान नहीं पाया जा सकता है। मात्र एक दृष्टिकोण से सत्य के आंशिक रूप की ही प्राप्ति होती है, निरपेक्ष सत्य की नहीं।[1]

'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन का तात्पर्य यह है कि आत्मा, परमात्मा, जगत् तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान का साधन दर्शन कहलाता है। इसलिए दर्शनों में आत्मतत्त्व के निरूपण के साथ-साथ जगत् एवं उनके सम्बन्ध आदि का भी विवेचन हुआ है।

"इन समस्त तत्त्वों के अवगम के साधन विशेष का नाम ही दर्शन है।"[2] सम्पूर्ण विश्व ही दर्शन का विषय है। वस्तुतः "युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने को ही दर्शन कहते हैं।"[3]

विभिन्न दर्शनों में तत्त्वों के तथ्यों को जानने के लिए पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से चिन्तन किया गया है। अतः दर्शनों में परस्पर भेद दृष्टिगोचर होता है और इसी से दर्शनों की संख्या में अनेकत्व के दर्शन होते हैं।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन भी एक प्रमुख दर्शन है। जिसकी मौलिकता एवं ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। जैन धर्म के सिद्धान्तों का वैदिक धर्म से विरोध देखकर अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि "बौद्ध धर्म की तरह ही जैन धर्म भी वैदिक धर्म के विरोध के लिए खड़ा हुआ एक क्रान्तिकारी नया धर्म है। वह बौद्ध धर्म की एक शाखा मात्र है।" किन्तु जैसे-जैसे इसके मौलिक साहित्य का विशेष अध्ययन बढ़ा, यह भ्रम दूर होता गया। पश्चिमी तथा भारतीय विद्वान यह मानने लगे कि जैन धर्म एक स्वतन्त्र तथा प्राचीन धर्म है। वह वेद के विरोध के लिए उद्भूत नया धर्म नहीं है। उसमें वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध अवश्य किया गया है। प्राचीन काल में आर्यों के वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध करने वाले धर्म का ही वर्तमानरूप जैन धर्म है, ऐसा संभव है।[4] जिसके स्वर परवर्ती वैदिक साहित्य (उपनिषदादि) में भी सुनाई देते हैं।

पहले वेदाध्ययन करने वाले पश्चिमी विद्वानों का यह मन्तव्य था कि भारत में जो कुछ संस्कृति है, उनका मूल वेद में ही होना चाहिए; परन्तु मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई के बाद उनका मत बदल गया और वेद के अलावा भी वेद-पूर्वकाल में भारतीय संस्कृति थी—इस नतीजे पर पहुँचे। वस्तुतः जैन धर्म की प्राचीनता सिर्फ महावीर तक ही नहीं है, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि "मैं जो धर्म कह रहा हूँ, वह पहले भी 'जिनों' द्वारा कहा गया है और भविष्य में भी कहा जायेगा क्योंकि वह धर्म नित्य है, ध्रुव है। "एस धम्मे धुवे नियए सासए जिनदेसिए"।"

यही नहीं, अनेक इतिहास विशेषज्ञों एवं दार्शनिकों ने भी इसकी मौलिकता एवं प्राचीनता स्वीकृत की है। उनके अनुसार भी महावीर से पूर्व-२३ तीर्थंकर हुए,

जिन्होंने जैन धर्म का उपदेश दिया था। वस्तुतः यह धर्म इतना प्राचीन है कि प्राचीनतम ग्रन्थों तथा अवशेषों आदि में इसका उल्लेख अवश्य पाया जाता है, जैनेतर वैदिक संस्कृति में भी इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

इस युग के जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव का वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भागवतादि पुराणों में ऋषभदेव के जीवनचरित का अंकन ही नहीं किया गया, अपितु उन्हें उपास्य के रूप में भी देखा गया है। इतना ही नहीं, पद्म आदि पुराणों में जैन धर्म का आर्हत् धर्म के नाम से विवेचन करते हुए एवं उसके प्रमुख लक्षणों का निरूपण करते हुए पद्म पुराण में चौबीस तीर्थंकर, परमेष्ठी मंत्र, दीक्षा, देव अरिहन्त, गुरू निर्ग्रन्थ एवं दयामय धर्म इत्यादि भी वर्णित हैं।[5]

पुराण यद्यपि वैदिक संस्कृति से सम्बद्ध हैं एवं जैन धर्म वेद विरोधीधर्मों की श्रेणी में आता है, किन्तु फिर भी उनमें जैन धर्म के आचार-पक्ष ही नहीं, विचार पक्ष की भी बहुत-सी समानताएँ हैं तथा उनमें वेद विरोधी विचारधाराएँ स्पष्टतः दिखाई देती है, निवृत्तिपरक उन विचारों का जैन धर्म से पर्याप्त साम्य है। पुराणों में बिभिन्न विचारधाराओं का समावेश हुआ है। यद्यपि पुराणों के मुख्य दर्शन सांख्य तथा योगदर्शन है; परन्तु अन्य भी अनेकों दर्शन उनमें उल्लिखित हैं, यथा—मीमांसा, विशिष्टद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद, शिवाद्वैत, चार्वाक, जैन, बौद्ध, माहेश्वर, पाशुपत, प्रत्यभिज्ञादर्शन।[6] तात्पर्य यह है कि समय-समय पर प्रचलित दर्शनों एवं धर्मों का उल्लेख किसी न किसी रूप से पुराणों में हुआ है। पुराणों में अभिव्यक्त अनेक सिद्धान्त जैन धर्म से साम्य रखते हैं। जैन दर्शन के तात्विक विश्लेषणों अर्थात् मौलिक अवधारणाओं का भी साम्य परिलक्षित होता है, जिनको आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस प्रकार से जैन दर्शन ने द्रव्य की एक विशेष परिभाषा दी है, जिसके अनुसार द्रव्य की नित्यानित्यता वर्णित है; उसी प्रकार से पुराणों में भी द्रव्य (सत्) का स्वरूप वर्णित है। बौद्ध दर्शन के अनुसार "यत्सत् तत्क्षणिकम्" अर्थात् जो कुछ सत् है वह क्षणिक है, प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) क्षणिक है; किन्तु इसके ठीक विपरीत मन्तव्य शांकर दर्शन का है। उनके अनुसार "त्रिकालाबाध्य त्वं सत्वम्" अर्थात् तीनों कालों से अबाधित वस्तु ही सत् है, इससे द्रव्य की नित्यता व्यक्त होती है। बौद्ध दर्शन में सत् को क्षणिक मानकर उसके नित्यत्व को आभास कहा है, जबकि शांकर दर्शन में सत् को नित्य मानते हुए उसके परिणाम को आभास बताया है। जैन दर्शन वर्णित सत् का यह सिद्धान्त इन दोनों के बीच समन्वय प्रस्तुत करता है—"उत्पादव्यय ध्रौव्य-युक्तं सत्" अर्थात् सत् को न तो एकान्ततः नित्य कहा जा सकता है और न एकान्ततः क्षणिक कहा जा सकता है। सत् नित्य भी है और परिणामी भी है अर्थात् ध्रौव्ययुक्त होते हुए भी उसमें उत्पाद-व्यय का सद्भाव रहता है। अतः सत् लक्षण

वाला द्रव्य नित्य एवं परिणामी है, उत्पाद व्यय उसकी अनित्यता के सूचक हैं तथा ध्रौव्य उनके नित्यत्व का द्योतक है, यह साधर्म्य सांख्यदर्शन में भी दृष्टिगोचर होता है, सांख्यदर्शन द्वारा सर्वाधिक प्रभावित होने से इस सिद्धान्त का पुराणों में उपलब्ध होना सहज ही है। वैदिक संस्कृति की प्रमुख धारणा सृष्टि तथा प्रलय की है जिससे द्रव्य का नित्यत्व पूर्णतया बाधित होता है, परन्तु पुराणों में सत् की नित्यता भी स्पष्टतः निरूपित है। द्रव्य के जड़ तथा चेतन दोनों रूपों का उल्लेख करते हुए विष्णु पुराण में कहा गया है—जीव व जगत् नित्य है, भले ही जगत् एवं जीव का सम्बन्ध स्थायी नहीं है। आविर्भाव-तिरोभाव, जन्म-नाश आदि विकल्पों वाला विश्व यथार्थ में तो नित्य है।[७] प्रस्तुत कथन से नित्यता के साथ ही पदार्थों का आविर्भाव-तिरोभाव (उत्पाद-व्यय) भी बताया गया है, नित्यत्व के साथ ही अनित्यत्व भी प्रदर्शित किया गया है। जगत् की समस्त अवस्थाओं व पदार्थों को नश्वर, क्षणभंगुर बताते हुए ब्रह्मवैवर्त पुराण का कथन है—

"जल बुद्बुद्वत् सर्व संसार स चराचरम्। प्रभाते स्वप्नमिथ्या मोहकारणमेव च"[८]

यही नहीं, अनेक पुराणों में एक साथ ही प्रकृति के नित्यानित्यत्व को भी प्रतिपादित किया है। स्कन्द पुराण में लिखा है—

इति विज्ञाय संसारमसारं च चलाचलम्[९]

द्रव्यों के जड़रूप में प्रकृति का तथा चेतनरूप में पुरुष का अर्थात् आत्मा का पुराणों में विस्तृत वर्णन है। आत्मा का जगत् में परिभ्रमण अचेतन (कर्म = प्राकृतिक अर्थात् पौद्गलिक) विकार के कारण होता है। आत्मा के साथ कर्ममल को अनादि बताते हुए जैन दर्शन में यह कहा गया है कि आत्मा को अन्य किसी ने, किसी समय में कर्मबद्ध नहीं किया, वह तो पूर्व से ही कर्मबद्ध है तथा आगे से आगे बंधन की परंपरा निरंतर रहती है। बंधन भी आभासमात्र न होकर यथार्थ है। जैन दर्शन के इस मन्तव्य से पर्याप्त साम्य रखते हुए शिव पुराणकार का भी यही मत है कि आत्मा ही नहीं, आत्मा के साथ कर्ममल भी अनादि है। यही नहीं, इसे तर्कसहित प्रस्तुत किया गया है कि जिस प्रकार से बीज में उगने की शक्ति सहज रूप से होती है, वैसे ही आत्मा में कर्ममल भी अनादि से है अर्थात् जब से आत्मा है तभी से उसके साथ कर्म भी है। यदि आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन नहीं है अर्थात् पहले आत्मा शुद्ध (निष्कर्म) था और बाद में कर्मबद्ध हुआ तो मुक्तात्माएँ भी पुनः कर्मबद्ध हो जायेंगे। अतः बीज में उगने की शक्ति के समान ही आत्मा की बद्धावस्था भी तभी से है, जब से वह है। जब आत्मा अनादि से है, तब उसके साथ कर्मों की अनादिता भी स्वतः सिद्ध है तथा जिस प्रकार से भुनने के बाद उगने की शक्ति समाप्त हो जाती है, वैसे ही शुद्धात्मा के भी कर्मों का अन्त हो जाता है, तब वह पुनः कर्मबद्ध नहीं होता। जीव संज्ञक आत्मा अनादि से मलिन

है, इस मलिनता के कारण ही आत्मा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में घूमा करता है। आत्मा के साथ कर्म एवं माया का संयोग ही संसार है।

अनादिमलभोगान्तं[१०]

स हेतुरात्मनामेनं निजो नागन्तुकः मलः[११]

एक बार मुक्त होने के बाद आत्मा को पुनः बंधन प्राप्त नहीं होता है। अतः यह कर्ममल आत्मा के साथ अनादिकालीन है, जिसके कारण आत्मा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता है।

वैदिक संस्कृति में आत्मा को भ्रमण कराने वाला तथा कर्मों के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को माना है, किन्तु जैन दर्शन में ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन किया गया है। जैन दर्शन में ईश्वरकर्तृत्व के स्थान पर आत्मकर्तृत्व को माना गया है। उसके अनुसार आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता है, दूसरों के द्वारा कृत कर्मों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है। इस आत्मकर्तृत्व का पुराणों में भी वर्णन है। पुराणों में स्थान-स्थान पर यह निरूपित किया गया है कि आत्मा स्वकृत कर्मों को ही भोगता है। जैसा शुभ या अशुभकर्म करता है वैसा ही फल-भोग भी उसे करना पड़ता है। जीव के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को प्रतिपादित करते हुए ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है—"कर्त्ता भोक्ता च देहिनः।"[१२] कर्मवाद का विस्तृत विवेचन करते हुए गरुड़ पुराण में स्पष्ट बताया गया है कि कर्म अवश्य ही कर्त्ता के पास पहुँचता है और उसे फल-भोग करना पड़ता है—

भूतपूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुतिष्ठति।

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विंदति मातरम्।।[१३]

पुराणों में जैनमत के समान ही यह भी बताया गया है कि सुख-दुःख का दाता या हर्त्ता कोई भी नहीं है। मनुष्य अपने ही किये हुए कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता है—

न दाता सुखदुःखानां, न च हर्तास्ति कश्चन।

स्वकृतान्येव भुंजते दुःखानि च सुखानि च।।[१४]

जैसी-जैसी व्यक्ति शुभ या अशुभ प्रवृत्तियाँ करता है, वैसे-वैसे शुभाशुभ कर्मों का बंधन उसे प्राप्त होता है। उन कर्मों के बंधन को घटाने के लिए ही तप-ध्यान आदि साधन बताये गये हैं। जो व्यक्ति कर्मनाश के लिए उद्यत होता है, उसके लिए कुछ गुण अर्थात् सदाचाररूपी भूमिका आवश्यक है। व्यक्ति की संस्कृत (संस्कारित), मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियाँ सदाचार हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सदाचार की महती आवश्यकता है, क्योंकि उसके अभाव में अन्य बड़ी-बड़ी बातें करना निरर्थक है। आचरणगत प्रमुख गुण के रूप में अहिंसा का अत्यधिक महत्त्व जैन धर्म में है। जैन धर्म में अहिंसा की सूक्ष्म तथा विशिष्ट व्याख्या की गई है। उसे समस्त गुणों

में मूल गुण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैन धर्म के इस वैशिष्ट्य से भी पुराणों का मन्तव्य समानता रखता है। अहिंसा को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए अग्नि पुराण में भी यही प्रतिपादित किया गया है—अहिंसा हस्ती-पाद के समान है, जिसके अन्तर्गत अन्य सभी आचार समा जाते हैं अर्थात् सत्य-अस्तेय आदि सभी में अहिंसा प्राणतत्त्व के समान है—

भूतपीड़ा ह्यहिंसा स्यादहिंसाधर्म उत्तमः।
यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम्।[15]

इसके अतिरिक्त जैन धर्म के समान ही निवृत्तिवादी विचार भी पुराणों में बहुशः उपलब्ध होते हैं, जिनमें वैदिक कर्मकाण्ड का पर्याप्त विरोध किया गया है। इस सन्दर्भ में मार्कण्डेय पुराण में सुमति का कथन महत्त्वपूर्ण है। उसने प्रवृत्ति मार्ग का स्पष्ट विरोध करते हुए कहा कि "मैं वेदत्रयी के अध्ययन से उत्पन्न; अधर्म से समृद्ध और शुद्ध पाप फल के सदृश इस दुःख समुदाय को छोड़कर जाऊँगा। मुझे तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हो गया है, अतः मुझे वेदों से क्या प्रयोजन है?"[16] इस प्रकार से पुराणों में अनेक स्थलों पर अवैदिक विचारधाराएँ प्रवाहित हैं तथा जहाँ-जहाँ भी निवृत्ति मार्ग का उल्लेख हुआ है, वहाँ-वहाँ हिंसक यज्ञादि का स्पष्टतः विरोध किया गया है तथा भावशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। इतना ही नहीं, जैन धर्म के तुल्य ही पुराणों में अनेक वैदिक मान्यताओं का खण्डन किया गया है। जैसे—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का विरोध करते हुए इसे महान् अधर्म बताया गया है तथा वैदिक परम्परा में निश्चित वर्णाश्रम-व्यवस्था को भी पुराणों में अनिवार्य नहीं माना गया है।

आचार को आत्म-विशुद्धि का एक प्रमुख साधन बताते हुए जगत् के समस्त विषयों तथा उनकी आसक्ति से निवृत्तिपरक सन्देश भी पुराणों में जैन धर्म के त्याग धर्म के समान ही है।

जिस प्रकार से जैन दर्शन में जगत् के सभी विषयों में अनासक्ति का सन्देश देते हुए जगत् के प्रति वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है, वैसे ही पुराण भी व्यक्ति को विषयों के प्रति अनासक्ति की प्रेरणा देते हुए जगत् को नश्वर, अस्थायी एवं दुःखपूर्ण बताते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि पुराणों का लक्ष्य भी भौतिक सुखों की प्राप्ति का न होकर जैन दर्शन के समान मुक्त होने का है। इसीलिए पुराणों में शुभाशुभ समस्त कर्मों को क्षीण (समाप्त) कर देने का विवेचन आता है। जगत् के समस्त तत्त्व "सत्" होने से नित्य भले ही हैं, किन्तु आत्मा के साथ उनका स्थायी सम्बन्ध नहीं है, उनमें परिवर्तन अर्थात् उत्कर्ष-अपकर्ष चलते रहते हैं। जैन दर्शन की इस विश्व-विवेचना के सदृश ही विष्णु पुराण का भी मन्तव्य है कि आविर्भाव-तिरोभाव रूप यह जगत् नित्य है, परन्तु आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध अस्थायी है। समस्त

भौतिक पदार्थ जो प्राप्त होते हैं, वे अवश्य ही छूटने वाले होते हैं, यह परिवर्तन जगत् की अनित्यता का सूचक है। यद्यपि पुराणों में सृष्ट्युत्पत्ति एवं प्रलय सम्बन्ध का बहुत विश्लेषण है, जिनमें सृष्टि को ईश्वरकृत माना है; तथापि जैन दर्शन के समान ही मूल मन्तव्य तो यही है कि यह जगत् अनादि और अनन्त है, फिर भी परिवर्तनशील है, जैसा कि भागवत् पुराण में कहा गया है—

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्"[१७]

जैन दर्शन की भाँति पुराणों में भी जगत् को एक ही तत्त्व पर आधारित न मानकर उसके अस्तित्व को अनेक द्रव्यों पर निर्भर माना है, क्योंकि पुराणों के अनुसार भी मात्र (जड़) प्रकृति अथवा मात्र (चेतन) पुरुष के द्वारा सृष्टि गतिशील नहीं होती अपितु जड़ एवं चेतन दोनों के संयोग से सृष्टि गतिशील है। पुराणों में जीव का अनेकत्व स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः आत्मा के साथ कर्म आदि मलों का संयोग ही संसार है।

सांख्य से प्रभावित होने से समस्त तत्त्वों की नित्यता भी पुराणों में स्वीकृत है। जब सभी द्रव्य नित्य हैं तो उनके निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि वैदिक परम्परा में समस्त सृष्टि का उत्पादक ईश्वर को स्वीकृत किया गया है अर्थात् ईश्वर को जगत् के सृष्टा के रूप में देखा गया है। ईश्वरकर्तृत्व का विष्णु पुराण आदि कई पुराणों में निरूपण किया गया है। इसी प्रकार पुराणों में ईश्वर को एक तथा सर्वव्यापक भी बताया गया है, किन्तु जैन दर्शन में ऐसा नहीं है। जैनमत के ईश्वरवर्णन में एवं पुराणों के ईश्वर-स्वरूप में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसलिए हम जैनमत के ईश्वर के साथ पौराणिक ईश्वर की तुलना नहीं कर सकते, परन्तु पुराणों में वर्णित मुक्त आत्माओं का स्वरूप पर्याप्त रूप से जैन दर्शन में वर्णित ईश्वर के स्वरूप से समानता रखता है। जैन दर्शन के अनुसार—जो-जो आत्मा मुक्त हो जाती हैं वे सभी परमात्मा हैं, उनकी कोई संख्या न होने से उन्हें अनन्त कहा गया है तथा वे सर्वव्यापक भी नहीं हैं। लगभग इसी प्रकार का वर्णन करते हुए शिव पुराण का भी मत है कि जो-जो आत्मा मुक्त हो जाती हैं, वे सभी परमात्मपद को प्राप्त करती हैं, कर्मबंधनों से मुक्त हो जाने के बाद वे पुनः जन्म-मरण को ग्रहण नहीं करती तथा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से रहित हो जाती हैं।[१८] इत्यादि समस्त वर्णन जैन-दर्शन के अरिहंत तथा सिद्ध परमेष्ठी (परमात्मा) के स्वरूप वर्णन के तुल्य ही है। इस प्रकार से पुराणों में जैन दर्शन के समान आत्मा से परमात्मा बनने की धारणा भी व्यक्त होती है। उस परमात्मा में समस्त राग-द्वेष आदि वृत्तियों का अभाव बताया है, इसीलिए जैन दर्शन की भक्ति भी वैदिक-दर्शन से भिन्न तथा विशिष्ट प्रकार की है।

वैदिक परम्परा में अनुग्रह, अनुराग, करुणा आदि ईश्वर पूज्यता के आधार रहे हैं, जबकि जैन धर्म में मुख्यतः वीतरागता ही ईश्वर पूज्यता का निमित्त रहा है।

इससे दोनों के उद्देश्यों में भी भिन्नता स्पष्ट होती है। वैदिक परम्परा में पूजा या भक्ति ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, जबकि जैन धर्म के अनुसार वीतराग तो प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं होते। उसमें तो अपनी आत्मा के उत्कर्ष के लिए ही भक्ति की जाती है; एतदर्थ ही जैन दर्शन में मात्र भक्ति को ही महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया तथा उसके साथ ज्ञान तथा आचरण की पवित्रता की भी अपेक्षा की गई है।

जैन धर्म के समान ही आत्म-विशुद्धि का लक्ष्य पुराणों में भी अभिव्यक्त होता है। पुराणों के अनुसार भी वह आत्म-विशुद्धि मात्र भक्ति से ही प्राप्त नहीं होती है, इसलिए उनमें ज्ञान की प्राप्ति पर तथा आधार के पालन पर भी बहुत बल दिया गया है। जैन दर्शन के समान मार्कण्डेय पुराण के अनुसार योगियों का लक्ष्य भी परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्ति न होकर परमात्मत्व प्राप्त करना होता है।[१९]

पुराणों तथा जैन धर्म के इन विभिन्न साम्यों को देखते हुए प्रतीत होता है कि वैदिक तथा श्रमण संस्कृति—ये दोनों संस्कृतियाँ बहुत लम्बे समय तक साथ-साथ प्रवाहित होने से परस्पर प्रभावित हुई हैं। जब दो संस्कृतियाँ सदियों से साथ-साथ पनप रही हों तो एक-दूसरे से प्रभावित होना न केवल स्वाभाविक ही है अपितु विचारों की उदारता का द्योतक भी है।

"श्रमण परम्परा के जिन मूल्यों को वैदिक साहित्य में स्थान मिला, उन्हें वैदिक समाज ने यथावत् ग्रहण नहीं किया बल्कि अपनी तरह से ढालकर आत्मसात् किया।"[२०] इस कारण से वे सिद्धान्त उससे स्पष्टतया भिन्न प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ दिनकर के ये शब्द द्रष्टव्य हैं "हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में घुल-मिलकर इतने एकाकार हो गये कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैन धर्म के उपेदश थे, हिन्दुत्व के नहीं।"[२१] भले ही इस कथन से सभी सहमत न भी हों तो भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मौलिक रूप से जैन दर्शन में जितना इनका महत्त्व है—उतना अन्यत्र नहीं है। स्पष्टतया भिन्नता नहीं दिखाई देने पर भी संस्कृति के मौलिक रूप से वे सिद्धान्त कुछ भिन्नता अवश्य रखते हैं, जैसे वैदिक संस्कृति का मौलिक सिद्धान्त है—ईश्वर कर्तृत्व (सृष्टा)। इससे कर्मवाद तथा आत्मा के पुरुषार्थ की महत्ता समाप्त हो जाती है। इसके साथ ही "सत्" (द्रव्यों) की अनादिता एवं नित्यता भी खण्डित हो जाती है। परन्तु पुराण साहित्य में कर्मवाद को, आत्मा के पुरुषार्थ को तथा "सत्" की अनादिता को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत किया गया है। यही नहीं, पुराणों में वैदिक कर्मकाण्ड (हिंसात्मक कर्मकाण्ड) के स्थान पर निवृत्ति प्रधान क्रियाकांड (अनशन, ध्यानादि) को महत्त्व दिया गया है, पहले जो स्तुतियाँ करके ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त

करना एवं शुभ तथा सुख की प्राप्ति का लक्ष्य था, वह शुभ से भी हटकर मुक्त होना या मोक्ष प्राप्त करना हो गया।

इसी प्रकार से वैदिक संस्कृति से श्रमण संस्कृति भी कुछ अंशों में प्रभावित हुई। यह प्रभाव मुख्यतः भक्तिवाद के रूप में दृष्टिगत होता है, यद्यपि भक्ति का प्राचीन जैन साहित्य में पूर्णतः अभाव था, ऐसी बात नहीं है। सम्यग्दर्शन में भक्ति-श्रद्धा, आस्था भी समाहित हो जाती है; किन्तु फिर भी पश्चात्वर्ती जो स्तोत्र आदि साहित्य दिखाई देते हैं, उनमें स्पष्टतः वैदिक संस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म तथा पुराण साहित्य के विचार एवं आचार पक्षों में पर्याप्त समानताएँ हैं। यद्यपि जैन धर्म से विपरीत मतों का भी पुराणों में उल्लेख है, किन्तु फिर उन्हीं मतों के विपरीत जैन धर्म के अनेक मौलिक सिद्धान्तों से मेल खाने वाले विचार भी पुराणों में निर्दिष्ट हैं। पुराणों में स्थान-स्थान पर जैन धर्म का ही नहीं, उसके विषयों एवं सिद्धान्तों का विवेचन स्पष्टतः उपलब्ध होने से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। पुराणों में जैन धर्म एवं उसके सिद्धान्तों का उपलब्ध होना श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के समन्वित स्वरूप का साक्ष्य है।

□□□

सन्दर्भ-सूची

१. प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा
'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ. १३८

२. डॉ. बैकुण्ठनाथ शर्मा
'ब्रह्मवैवर्त पुराण का सांस्कृतिक विवेचन', पृ. २६५

३. चटर्जी एवं दत्त 'भारतीय दर्शन', पृ. १

४. बेचरदास दोशी 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' —(प्रस्तावना)

५. पद्मपुराण

६. सं. श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार
"कल्याण" —पुराणांक, अप्रैल—१९८९, पृ. ४९-५८

७. विष्णुपुराण

८. ब्रह्मवैवर्तपुराण कृ. ख. ७८.१७

९. स्कन्दपुराण

१०. शिवपुराण ७.१.५२६

११. वही, ७.१.३१.६१

१२. ब्रह्मवैवर्तपुराण (१) पृ. २७१, श्लो. १६

१३. गरुड़पुराण (१) पृ. ३९१, श्लो. ५२

१४. वही (२), पृ. १४२, श्लो. ८

१५. अग्निपुराण अ. ३७२, श्लो. ४

१६. मार्कण्डेयपुराण अ. १०

१७. भागवतपुराण ३.१०.१३

१८. (अ) शिवपुराण, वा स., अ. ५
(ब) "मुक्तः शिवसमो भवेत्" —वही ७.१.३२-२२
(स) "ततः स्यान्मुक्तसंसारः"
(द) वही ७.२.६.१९

१९. मार्कण्डेयपुराण, ३६.९

२०. प्रो. दयानन्द भार्गव "वैदिक साहित्य में जैन परंपरा" नामक लेख
'श्रमण' जुलाई-सितम्बर, १९९२, पृ. ९

२१. रामधारीसिंह दिनकर 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. १२५

□□□

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

"सर्वदर्शन संग्रह"

परिमल पब्लिकेशन, ७-बी, ज्योति पार्क, सोसाइटी शाह आलम, अहमदाबाद—२२, १९८१

एस.एन. दास गुप्त **"भारतीय दर्शन का इतिहास"**

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४, १९८९

डॉ. नन्दकिशोर देवराज **"भारतीय दर्शन"**

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२

चटर्जी एवं दत्त **"भारतीय दर्शन"**

पुस्तक भण्डार, पटना, १९९४

प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा **"भारतीय दर्शन की रूपरेखा"**

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९१

मिश्र उमेश **"भारतीय दर्शन"**

हिन्दी समिति, हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

डॉ. शर्मा, नन्दकिशोर **"भारतीय दार्शनिक समस्याएँ"**

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, तिलक नगर, जयपुर, १९७६

या. मसीह **"पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास"**

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९९४

रामधारीसिंह दिनकर **"संस्कृति के चार अध्याय"**

राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली १९५६

आचार्य बलदेव उपाध्याय **"भारतीय दर्शन"**

चौखम्बा दौरिन्तालिया, वाराणसी, १९८४

"भारतीय दर्शन में मोक्ष विवेचन—एक तुलनात्मक अध्ययन"

डॉ. लाक, अशोककुमार मध्यप्रदेश ग्रंथ अकादमी

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली **"प्राचीन भारतीय साहित्य"**

भारतरत्न पी. वी. काणे **"धर्मशास्त्र का इतिहास"**

हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९६६

नन्दलाल दसोरा **"कर्मफल व पुनर्जन्म"**

रणधीर बुक सेल्स, हरिद्वार

राहुल सांस्कृत्यायन **"दर्शन दिग्दर्शन"**

किताब महल, इलाहाबाद

सं. पं. थानेशचन्द्र उप्रेति **"विष्णु पुराण (प्रथमो भागः) "**

प्र. परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, १९८६

"शिव महापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना"

डॉ. रामशंकर त्रिपाठी *प्र. हरिशंकर त्रिपाठी, वाराणसी, १९७५*

आचार्य बलदेव उपाध्याय **"पुराण विमर्श"**

चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, १९७८

डॉ. बैकुण्ठनाथ शर्मा **"ब्रह्मवैवर्त पुराण : सांस्कृतिक विवेचन"**

देवनारायण प्रकाशन, जयपुर, १९८९

डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री **"मार्कण्डेय महापुराणम्"**

प्र. साहित्य भण्डार, शिक्षासाहित्य प्रकाशक, मेरठ १९८३

डॉ. ओमप्रकाश "नीखरा" **"हरिवंशपुराण में धर्म"**

ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर गंज, दिल्ली, १९९१

श्रीमती वीणापाणि पाण्डे **"हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन"**

सूचना एवं प्रकाशन शाखा, उत्तरप्रदेश, १९६०

डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री **"ब्रह्माण्डपुराण"**

धर्मग्रन्थ प्रकाशन, एफ-१७, कमलानगर, दिल्ली

डॉ. सतीशचन्द्र जोशी **"श्री भविष्यपुराण"**

धर्मग्रन्थ प्रकाशन, एफ-१७, कमलानगर, दिल्ली

साहित्याचार्य जितेन्द्रचन्द्र भारतीय **"शिवपुराण में शैवदर्शन तत्त्व"**

निर्मोही बंधु प्रकाशन, १०६५, सी. गोदानिकुञ्ज, लखनऊ-६, १९७२

डॉ. सर्वानन्द पाठक **"विष्णुपुराण का भारत"**

चौखम्बा प्रकाशन

डॉ. रमेशकुमार उपाध्याय **"वैष्णवपुराणों में सृष्टि-वर्णन"**

भूमिका—बलदेव उपाध्याय, अभिमन्यु प्रकाशन, छाता चौक, किशोर नारायण रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार), १९९१

श्री विश्वनारायण शास्त्री (संसद सदस्य) **"कालिकापुराणम्"**

चौखम्बा संस्कृत सिरीज, ऑफेस, वाराणसी-१, १९७२

डा. उद्दवलाल चतुर्वेदी **"ब्रह्माण्डपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन"**

भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली

पं. ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी "श्रीमद् भागवतपुराण"

रणधीर बुक सेल्स, हरिद्वार

डॉ. एस. डी. ज्ञानी "अग्निपुराण : एक अध्ययन"

चौखम्बा, वाराणसी, १९६४

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "अग्निपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "नारदपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "कूर्मपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "ब्रह्माण्डपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "वायुपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "वराहपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "विष्णुपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "शिवपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "स्कन्दपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "हरिवंशपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र.)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य "प्रभासपुराण"

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"भविष्यपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"गरुड़पुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"लिंगपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"भागवतपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"पद्मपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"मार्कण्डेयपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"वामनपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"ब्रह्मवैवर्तपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"कल्किपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"सूर्यपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"कालिकापुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"ऋग्वेदपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"यजुर्वेदपुराण"**
संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)
सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"सामवेदपुराण"**

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"अथर्ववेदपुराण"**

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"महाभारतपुराण"**

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र)

सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य **"उपनिषद्पुराण"**

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली-२४३००१ (उप्र)

सं. कलाकुमार **"श्रमण संस्कृति सिद्धान्त और साधना"**

प्र. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२, १९७१

डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा **"जैनधर्म में अहिंसा"**

प्र. सोहनलाल, जैनधर्म प्रचारक समिति, गुरू बाजार, अमृतसर, १९७२

"जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास"

डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन *प्र. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२, १९७४*

डॉ. रतनचन्द्र जैन **"जैन आचार में इन्द्रियदमन की मनोवैज्ञानिकता"**

प्र. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,

आई.टी.आई. रोड, वाराणसी-५, १९८१

दलसुख मालवणिया **"आत्म मीमांसा"**

प्र. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-५

डॉ. मोहनलाल मेहता **"जैनधर्म-दर्शन"**

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

एम. बी. वियोगी **"जैन शासन"**

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४

बेचरदास दोशी **"जैन साहित्य का बृहद् इतिहास"**

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम,

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५, १९६६

"जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार—दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन"

डॉ. सागरमल जैन *राज. प्राकृतभारती संस्थान, जयपुर, १९८२*

महात्मा भगवानदीन **"जैन संस्कृति का व्यापक रूप"**

भारत जैन महामण्डल प्रकाशन, बम्बई, १९७४

जवाहिरलाल जैन **"श्रमण-संस्कृति"**

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् एवं
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९९०

सं. नरेन्द्र भानावत **"अपरिग्रह विचार और व्यवहार"**
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८६

मुनिश्री अमरेन्द्र विजयजी **"विज्ञान और अध्यात्म"**
श्री जिनदत्त सूरि मण्डल, दादाबाड़ी, अजमेर, १९७८

नेमिचन्द्राचार्य **"बृहद्द्रव्यसंग्रह"**
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगास, १९७९

अमृतचन्द्राचार्य **"पुरुषार्थसिद्ध्युपाय"**
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, वि.सं. २०४३

मुनिश्री रत्नचन्द्र जी महाराज **"सृष्टिवाद और ईश्वर"**
श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति, ब्यावर, वि. सं. १९९७

क्षुल्लक निजानन्दजी महाराज **"ईश्वर-मीमांसा"**
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५०

श्री मधुकर मुनिजी **"जैन तत्वदर्शन"**

श्री मधुकर मुनिजी **"कर्म मीमांसा"**
मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पिपलिया बाजार, ब्यावर, १९८१

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि **"जैन धर्म में दान-एक समीक्षात्मक अध्ययन"**
श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय, १९७७

मुनिश्री मिश्रीमलजी म. **"जैन धर्म में तप, स्वरूप और विश्लेषण"**
मरूधर केसरी प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, १९७२

डॉ. पी. सी. जैन **"हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन"**
देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, १९८३

डॉ. नेमिचन्द्र जी जैन **"आदिपुराण में प्रतिपादित भारत"**

डॉ. तेजसिंह गौड़ **"जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास"**
जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

श्री अमोलकऋषि जी म. **"जैनतत्व प्रकाश"**
श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महाराष्ट्र), १९८२

आचार्य हेमचन्द्र **"योगशास्त्र"**
श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३

आचार्य हरिभद्र सूरि **"जैन योगग्रन्थ चतुष्टय"**
(योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक, योगविंशिका), मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर, १९८२

सं. मोहनलाल शास्त्री **"मोक्षशास्त्र सटीक"**
सरल जैन ग्रंथ भण्डार, जबलपुर, वीर निर्वाण, सं. २५१०

पं. चैनसुखदास **"सर्वार्थसिद्धि"**
बधीचन्द गंगवाल, जयपुर, १९५१

रतनलाल डोशी **"मोक्ष मार्ग"**
अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म.प्र.), १९८२

कुन्दकुन्दाचार्य **"पंचास्तिकाय"**
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, १९८६

अमृतचन्द्राचार्य **"पंचास्तिकाय"**
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, वि. सं. २०४३

श्री शुक्लचन्द्रजी म. **"नवतत्त्वादर्श"**
श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र भण्डार, अम्बाला शहर, सन् १९४७

मुनिश्री मिश्रीमलजी **"कर्मग्रन्थ"**
श्री मरूधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, १९७४

श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी **"श्री अभिधान राजेन्द्र कोष"**
श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था द्वारा
श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मंदिर, रतनपोल, अहमदाबाद, १९८६

"मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ"
मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.), १९९५

सं. श्री महेन्द्र कुमारजी जैन **"श्री तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रंथ"**
पाथर्डी, अहमदनगर, १९६१

आचार्य विद्यानन्द **"आप्त परीक्षा"**
वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

सं. डॉ. नरेन्द्र भानावत **"जैन संस्कृति और राजस्थान"**
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९७५-७६

'तीर्थंकर महावीर"

लेखकत्रय—श्री मधुकर मुनि, श्री रतनमुनि, श्री चंद सुराना "सरस"
सन्मति ज्ञानपीठ आगरा-२, १९७४

श्री पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री **"भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ"**
चौरासी, मथुरा, पौष २४७९

श्री अमरचन्द्रजी महाराज **"श्रमण सूत्र"**
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

जिनेन्द्र वर्णी **"जैनधर्म में पदार्थ विज्ञान"**
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

पं. मिश्रीमलजी म. **"दशवैकालिक"**
श्री मरुधर केसरी प्रकाशन समिति, ब्यावर

पं. अमोलकऋषिजी म. **"उत्तराध्ययन"**
राजाबहादुर लाला सुखदेवजी ज्वालाप्रसादजी जौहरी, हैदराबाद,

शीलांकाचार्यकृत वृत्ति **"आचारांग"**
पण्डित हीरालाल हंसराज (जामनगर वाला), १९८८-१९९०

शीलांकाचार्य **"श्रीमत्सूत्रकृतांगम्"**
शा. वेणीचंद सूरचन्द, आगमोदय समिति, महेसाना, १९१७

अभयदेवसूरि **"श्री मत्स्थानांगसूत्रम्"**
आगमोदय समिति बम्बई, १९१८

अमोलक ऋषिजी म. **"श्री मत्समवायांग सूत्र"**
राजाबहादुर लाल सुखदेवजी, ज्वालाप्रसादजी जौहरी, हैदराबाद

अभयदेव सूरि **"श्रीमद् भगवतीसूत्रम्"**
श्री आगमोदय समिति, महेसाना, १९१८

अभयदेव सूरि **"श्री व्याख्याप्रज्ञति (सवृत्ति)"**
जिनागम प्रकाशन सभा, मुम्बई, १९७४

अभयदेव सूरि **"श्री प्रश्नव्याकरण दशांगम्"**
श्री आगमोदय समिति, महेसाना, १९१९

स्वामी ओमानन्द तीर्थ **"पातंजल योगप्रदीप"**
गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर

कपिल **"सांख्यकारिका"**

उद्योतकर "न्यायवार्तिक"

ईश्वकृष्ण "सांख्यकौमुदी"

M. Hiriyanna
"Outlines of Indian Philosophy (Hindi Translation)"
Raj Kamal Prakashan, New Delhi-110002, 1993

Radhakrishnan, S. **"Indian Philosophy (Hindi Translation)"**

Belvelkar **"History of Indian Philosophy"**

Max Muller **"The Six Systems of Indian Philosophy"**
Associated Publishing House,
New Market, Karol Bagh, New Delhi-5, 1973

T.G. Kalghatgi **"Karma and Rebirth"**
Lalbhai Dalpatbhai Shodh Sansthan

Nath Mal Tantiya **"Studies in Jain Philosophy"**
Jain Cultural Society, Banaras, 1951

Jaydayal Goyndka **"What is Dharma"**

Sharma **"Annals of the Bhandar Kar"**
Oriental Research Institutes, Poona, Vol XIX

Mukhyopadhyay **"Kurma Purana"**

Dr. S.S. Upadhyaya
"A Philosophical Study of the Naradiya Puran"
Published by—Shrimati Kumnd Kumari Upadhyaya,
Jnnananidhi Prakashan, Chhata Chowk,
Kishor Narain Road, Muzaffarpura (Bihar), 1983
"Karma and Rebirth in Classical Indian Tradition"

Mendy, Doniger O' Platherty Motilal Banarasidas, Delhi.

Datta, Dhirendra Mohan **"The Six Ways of Knowing"**
KIA Critical Study of the Vedanta Theory of Knowledge, University of Calcutta, 1960

Hiriyanna, M. **"The Essentials of Indian Philosophy"**
Allan and Unwin, London, 1948
"Philosophies of India"

Zimmer H. (Edited by Joreph Complall)
Second Printing, 1953 Bollingen Series XXVI
Pantheon Books

Dr. Bool Chand **"Jainism In Indian History"**

Jain Cultural Research Society,

F/3, Banaras Hindu University, Banaras.

"Jainism and Democracy"

Dr. Juder Chand Sastri,

Jain Conference, New Delhi

Dr. Vinternitz **"Ascetic Litrature in Ancient India"**

Calcutta University, Review, Oct. 1923

Nehru **"Discovery of India"**

V. Smith **"History of India"**

Jacobi **"Sacred Books of the East"**

□□□

पत्र-पत्रिकाएँ

सं. डॉ. सागरमल जैन "श्रमण"

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५

सं. नरेन्द्र भानावत "जिनवाणी" ("ध्यानयोग : रूप और दर्शन")

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर-३, १९७२

गौतम ओसवाल "अर्हत् जैन टाइम्स"

(जनवरी, 1994) Acharya Sushil Ashram,

C-599, Chetna Marg, Defence Colony, New Delhi

"सम्यग्दर्शन"

सिटी पुलिस, जोधपुर

सं. डॉ. देवसिंह गौड़ "जयगुञ्जार"

अ. भा. जयगुंजार प्रकाशन समिति, ब्यावर

सं. हनुमानप्रसादजी पोद्दार "कल्याण"

गीता प्रेस, गोरखपुर

□□□

ग्रन्थ परिचय

डा. चरणप्रभा साध्वी का यह शोध प्रबन्ध भारतीय पुराण वाङ्मय में जैन धर्म के मूल्य, आचार, सांस्कृतिक इतिहास और मान्यताएँ किस प्रकार प्रतिफलित देखे जा सकते हैं, इसका शोधात्मक और विशद अध्ययन प्रस्तुत करता है।

पुराणों का विवेचन करते समय विदुषी लेखिका ने पुराणों के पाँच लक्षणों का विवरण दिया है और बड़े सारगर्भित ढंग से उनमें वर्णित विषयों का एक-एक करके जैन आगमों, सूत्रग्रन्थों, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित विषयों से तत्वग्राही तुलनात्मक अध्ययन किया है। लेखिका का निष्कर्ष है कि पुराण जैन धर्म के सिद्धान्तों से अवगत हैं और अर्हत् धर्म आदि संदर्भों से उनका परिचय प्रमाणित करते हैं। पुराणों ने आत्म तत्त्व का जो विवेचन किया है, उसमें जैन सिद्धान्तों की मान्यता से क्या समानता है, कर्म सिद्धान्त की....

ग्रन्थ लेखिका

साध्वी डॉ. चरणप्रभाश्री

जन्म नाम	—	ज्योतिबाला
जन्म	—	30 दिसम्बर, 1971
जन्म स्थान	—	भण्डारा
निवास	—	तांदली, जिला आकोला
माता	—	सौ. लीला बोथरा (दीक्षा नाम – श्री शीलप्रभाजी म०)
पिता	—	श्री प्रफुल्ल (नेमिचंद) बोथरा (दीक्षा नाम – श्री ऋषभचरणजी म० स्वर्ग. 18 जुलाई 1998)
गोत्र	—	बोथरा
दीक्षा ग्रहण	—	6 मई, 1982
दीक्षा स्थल	—	नानणा, जिला पाली
दीक्षा नाम	—	साध्वी चरणप्रभा
गुरुवर्या	—	साध्वी श्री शीलप्रभाश्रीजी म०
गुरुदेव	—	आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी म० सा. आचार्य प्रवर श्री लालचन्द्रजी म० सा.
अध्ययन	—	प्रवेशिका, उपाध्याय, शास्त्री, एम. ए. (संस्कृत), पी.एच.डी. (दर्शन शास्त्र)